संयुक्ताङ्क - IV & V जुलाई - 2015 ISSN : 2321-6581

Reg. No. 1137/2013-2014

शोध नवनीत

SHODH NAVNEET

(षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका)

The Half Yearly International Refereed Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी, नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन

Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge.

प्रधान सम्पादक :

डॉ० अवधेश प्रताप सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सम्पादक :

प्रमोद कुमार मिश्र

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

कु० मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर

श्री अखिलेश शुक्ल

शोधच्छात्र, शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

स्तुति प्राच्यविद्या समिति

म०सं० **51**, जबर नगर, पो० - परास

जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - **271403**

सम्पर्क सूत्र : +91-9450446337

ई-सङ्केत : shodhnavneet@gmail.com

संरक्षक

- **प्रो० राम किशोर शास्त्री**
  पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **प्रो० किश्वर जबीं नसरीन**
  अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादक मण्डल

- **प्रो० शङ्कर दयाल द्विवेदी**
  संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **डॉ० आशीष सक्सेना**
  एसो० प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **डॉ० सत्यपाल तिवारी**
  एसो० प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, एच०एन०बी०पी०जी० कॉलेज, लालगंज, प्रतापगढ़
- **डॉ० शैलेन्द्र कुमार मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **डॉ० पठान रहीम खान**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू विश्वविद्यालय, हैदराबाद
- **डॉ० शिव कुमार मिश्र**
  प्रवक्ता संस्कृत, देव विद्यालय इण्टर कॉलेज तरौली, फैजाबाद
- **शैलेन्द्र कुमार साहू**
  शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

समीक्षक समिति

- **प्रो० दामोदर राम त्रिपाठी**
  पं० गङ्गानाथ झा पीठ, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद एवं पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग, कुँमायू विश्वविद्यालय, नैनीताल
- **प्रो० पी०के० साहू**
  शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **प्रो० सुशील कुमार शर्मा**
  अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **प्रो० उमाकान्त यादव**
  संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **प्रो० धनञ्जय यादव**
  शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **डॉ० आमोद वर्धन कौण्डिन्न्यायन**
  सह प्राध्यापक (रीडर), वेद विभाग (वाल्मीकि विद्यापीठ), नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल

- **डॉ० राम सेवक दूबे**
  एसो० प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **डॉ० बजरंग बिहारी तिवारी**
  एसो० प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, देश बन्धु डिग्री कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ० प्रदीप कुमार दीक्षित**
  एसो० प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर, कानपुर देहात
- **डॉ० अमूल्य कुमार सिंह**
  एसो० प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, डी०एस०एन०पी०जी० कॉलेज, उन्नाव
- **डॉ० राज कुमार पाण्डेय**
  एसो० प्रोफेसर, रक्षाशास्त्र अध्ययन विभाग, एच०एन०बी०पी०जी० कॉलेज, लालगंज, प्रतापगढ़
- **डॉ० राघवेन्द्र मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, जन संचार विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम
- **डॉ० अनुपम पाण्डेय**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **डॉ० पी०के० मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, स्कूल ऑफ एवं सामाजिक विज्ञान, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड

परामर्शदात्री समिति

- **डॉ० जी० गङ्गाधरन नायर**
  पूर्व डीन एवं प्रोफेसर, संस्कृत व्याकरण विभाग, श्री शङ्कराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी केरल एवं अन्ताराष्ट्रिय संस्कृत सलाहकार आदि।
- **प्रो० मालती तिवारी**
  पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **प्रो० सुरेश चन्द्र दूबे**
  अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **डॉ० शकुन्तला पुञ्जानी**
  प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **श्रीमती प्रियंवदा काफ्ले**
  एसो० प्रोफेसर, इतिहास पुराण विभाग (वाल्मीकि विद्यापीठ), नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ० विजय शङ्कर द्विवेदी**
  असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ० जय प्रकार शुक्ल**
  जनपद न्यायालय, गोण्डा
- **डॉ० ब्रह्मदेव द्विवेदी**
  पूर्व शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

नोट : शोधपत्र/शोधलेख का प्रकृति के अनुसार सम्पादक मण्डल एवं समीक्षक समिति में अन्य विषय विशेषज्ञों का सहयोग लिया जा सकता है।

- **विधिक सलाहकार**
  श्री सतीश कुमार मिश्र
  एडवोकेट, चैम्बर नम्बर 18 ए, हाईकोर्ट, इलाहाबाद

- **शोध नवनीत**

- **ISSN : 2321-6581**

© प्रकाशक द्वारा सभी अधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक
  स्तुति प्राच्यविद्या समिति
  म०सं० 51, जबर नगर, पो० परास
  जिला – गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत – 271403

- सम्पर्क सूत्र : +91-9450446337

- ई–सङ्केत : **shodhnavneet@gmail.com**

- सहयोग राशि : वार्षिक ₹ 1200, पञ्च वार्षिक : ₹ 4000

- मुद्रित :
  प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स
  30/21, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

नोट : शोधपत्र/शोधलेख के प्रति सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसके आलेखकों का होगा तथा लेखकों के मत से सम्पादक, सम्पादक मण्डल आदि का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। शोध नवनीत से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय गोण्डा होगा।

सम्पादकीय

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' भाव के विस्तार से ही साहित्य का विधान होता है। अर्थ से गुम्फित शब्द का प्रयोग करना रचनाकार का प्रमुख उद्देश्य होता है। अर्थ का प्रस्फुटन शब्द के विखण्डन (विवेचन) से ही सम्भव है। शब्द का आधार अक्षर ब्रह्म होता है, जो कभी क्षयित अर्थात् नष्ट नहीं होता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा शब्द का सृजन मानव या लोक कल्याणार्थ किया जाता था अर्थात् यह कहा जाय कि साहित्य के मूल स्वर (शब्द-अर्थ) न केवल अपने अध्येताओं का ज्ञानवर्धन करते हैं अपितु मानव का कल्याण भी करते हैं। वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ इसी दृष्टि से साक्षात्कार करके लिखे गये हैं। जो तत्कालीन मानवीय मूल्यों, चेतनाओं एवं सद्विचारों को विवेचित करते हैं। किसी भी समाज एवं सांस्कृतिक मूल्यों का अवलोकन उसके साहित्य से हो जाता है। समाज एवं सामाजिक संस्कृति को अभिव्यक्ति करने में साहित्य की अपनी विशेष भूमिका होती है, हालाँकि साहित्य मुख्यतः मनोरंजन एवं ज्ञान का एक साधन माना जाता है, किन्तु इसके द्वारा सामाजिक समस्याओं एवं चुनौतियों का भी ज्ञान होता है।

भौतिकता के इस युग में जिस प्रकार मानव भौतिक सुखों को पूर्ण करने की तीव्र लालसा में स्वयं के स्वास्थ्य को दुष्प्रभावित कर रहा है, जिससे दिनों-दिन मानवीय अस्तित्व खतरे में पड़ता जा रहा है। ईश्वर द्वारा प्रसाद रूप में प्राप्त यह शरीर समाज, राष्ट्र एवं विश्व के कल्याण के लिए है। अतः दुर्लभता से प्राप्त इस मानव शरीर की रक्षा व दीर्घ जीवन हेतु मानव को सदैव सचेत व प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि **''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्''** अर्थात् शरीर ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने समस्त धर्म-सम्बन्धी कार्यों को सम्पादित करते हैं। शरीर को स्वस्थ रखने में आहार, योग आदि का सर्वाधिक महत्त्व है। आहार एवं योग (**योगः कर्मसु कौशलम्**) आदि का विवेचन यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कर दिया था, किन्तु योग को लोकप्रिय एवं सुबद्ध करने कार्य 150 ई०पू० पतञ्जलि ने योगसूत्र में किया है। आज समाज में योग का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है, जिसको विश्व समुदाय ने भी समझा है और 21 जून २०१५ को योग को बढ़ावा देने के लिए योग दिवस के रूप में मनाने का निर्णय लिया है।

आज विद्वत् समाज अपनी ज्ञान और अस्मिता को बनाये रखने के लिए तथा उसको दूसरों तक सम्प्रेषित करने के लिए अनेक माध्यमों यथा-शोधपत्र/शोधलेख, पत्रिका, पुस्तक, अन्तर्जाल आदि माध्यमों का प्रयोग कर रहा है। उसी क्रम में इस शोध-पत्रिका के माध्यम से विद्वत् समाज के आलेखों द्वारा राष्ट्र कल्याण, मानव कल्याण, सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों, आधुनिक साहित्यकारों एवं उनकी रचनाओं आदि का ज्ञान कराने का प्रयास किया गया है। इसके लिए मैं अपने शोध पत्रिका के लेखकों, सम्पादक मण्डल, समीक्षक समिति, परामर्शदात्री समिति आदि के सदस्यों को इस सहयोग के लिए धन्यवाद देता हूँ।

इति श्री

सम्पादक

विषयानुक्रमणिका

(CONTENTS)

- **साहित्यविद्याया वेदमूलकत्वम् साहित्यशास्त्रस्य वेदोपजीवकत्वम्** 1
  डॉ. सुमनकुमारझाः
- **वैशेषिकदर्शनदृशा दिक्कालविवेचनम्** 13
  ललितपाण्डेयः
- **शब्दार्थतर्कामृते न्यायवैशेषिकाभिमतद्रव्यपदार्थस्य खण्डनम् - एकमनुशीलनम्** 20
  डॉ. आशीष कुमारः
- **होराशास्त्रे (बृहज्जातके) देवताचिन्तनम्** 26
  रमानन्द भट्टः एन्
- **सर्वज्ञात्ममुनि सम्मत योगाङ्ग विचार** 33
  डॉ. अवधेश प्रताप सिंह, सुजीत कुमार पाण्डेय
- **श्रीमद्भगवद्गीता में आहार-विमर्श व वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपादेयता** 37
  कु. रजनी नेगी
- **आचार्य नवल किशोर काँकर रचित राष्ट्रवेद : विवेचनात्मक अध्ययन** 45
  डॉ० डॉली जैन
- **प्रश्नोपनिषद् में प्राण का स्वरूप** 50
  नितेश व्यास
- **पातञ्जलयोगोक्त परिकर्मपरिशीलन** 54
  डॉ. सुधांशु कुमार षडङ्गी
- **आधुनिक युग में गीता की उपादेयता** 61
  डॉ. अनीता खुराना
- **'शासन-व्यवस्था' गणपति संभवम् के परिप्रेक्ष्य में** 67
  डॉ. संगीता कुमारी
- **पाणिनीय व्याकरण का संस्कृत वाङ्मय में योगदान** 70
  डॉ० प्रदीप कुमार दीक्षित
- **योग से उत्तम स्वास्थ्य के वैश्विक आयाम** 75
  प्रमोद कुमार मिश्र

- **द्वैतवादी सांख्यदर्शन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण** **79**
  डॉ० (श्रीमती) मनोरमा गुप्ता
- **प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति एवं संस्कृत वाङ्मय में प्रयोग** **84**
  रोशन सिंह, डॉ० पूजा सिंह
- **अवसाद एवं उसके सन्दर्भ में वेद की उपादेयता** **90**
  रमा राजपूत
- **भूमण्डलीकरण के परिप्रेक्ष्य में आयुर्वेद की प्रासंगिकता** **95**
  डॉ. प्रतिभा त्रिपाठी
- **कालिदास की पर्यावरण चेतना-सम्प्रति आवश्यकता** **99**
  (अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के विशेष सन्दर्भ में)
  राजीव मिश्र
- **काव्यशास्त्र में रीति सम्प्रदाय का समीक्षात्मक अध्ययन** **103**
  डॉ. धर्मपाल यादव
- **वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रिय चेतना** **108**
  अनिल कुमार
- **भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद** **112**
  डॉ. निशा खन्ना
- **उपनिषदों में निहित शिक्षा दर्शन की उपादेयता** **116**
  शैलेन्द्र कुमार साहू
- **माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः-एक अनुशीलन** **120**
  डॉ. बीना चौधरी
- **वेदों में जल संरक्षण** **125**
  रोशनी
- **भर्तृहरि द्वारा रचित नीतिशतकम् में नैतिक मूल्य** **128**
  डॉ. प्रीति श्रीवास्तव
- **वेदों में शिक्षा की अवधारणा एवं अन्तर्निहित शिक्षा के मनोवैज्ञानिक प्रतिमान** **132**
  कन्हैया लाल यादव
- **उपनिषदों के आलोक में नारी विमर्श की अवधारणा : वर्तमान सन्दर्भ में** **135**
  पूर्णेन्दु प्रताप सिंह

- **संस्कृत वाङ्मय में विश्वशान्ति की परिकल्पना-एक विमर्श** **139**
  डॉ० शिव प्रसाद अग्निहोत्री
- **मनुस्मृति में निहित स्त्रियों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सम्प्रति आवश्यकता** **144**
  सतीश प्रताप सिंह
- **उपनिषदों में पर्यावरण समालोचन** **147**
  डॉ. दीप्ति वाजपेयी
- **कवि क्षेमेन्द्र की धार्मिक मान्यताएँ** **150**
  श्रीमती कनक लता यादव
- **शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनौ मतभेदः** **153**
  राजेश एम् डि
- **मुहूर्तपदवीग्रन्थे सर्वशुभकर्मसु वर्जनीयाः षड्दोषाः** **158**
  सुब्रह्मण्य भट्टः
- **जैमिनिप्रोक्ताः विशेषांशाः** **163**
  श्रीपतिः
- **Augmentation of Mayarasa : An Elucidation for Classical Rasa** **166**
  Dr. K.V. Suresh
- **The Origin Form of Indian Medicine as Traced in the Atharvaveda** **171**
  Mrs. Anakshi Bora
- **The Vedic Way of cooperation and World Fraternity** **181**
  P.D. Mishra
- **Exploring an Effective method of Stress Management** **187**
  Honey Premendra, Prof. Dhananjai Yadav
- **तुलसी के काव्य में राष्ट्रीय चेतना** **195**
  डॉ. वन्दना श्रीवास्तव
- **कबीर का काव्य और नाथ पथ** **201**
  डॉ. सत्य पाल तिवारी
- **रवीन्द्रनाथ त्यागी की व्यंग्य-भाषा-शैली के शिल्पगत विविध आयाम** **206**
  सन्तोष विश्नोई
- **आम आदमी की वेदना को व्यक्त करने वाले कथाकार अमरकान्त** **212**
  डॉ. शुभा बाजपेयी

- **वर्तमान राजनीति का सच और हरिशंकर परसाई के व्यंग्य** **215**
  गीता कपिल
- **ब्रजभाषा का सांस्कृतिक रूप में विकास** **218**
  उमेश चन्द्र
- **राजस्थानी लोकगाथाओं मे अलौकिक तत्त्व** **221**
  सरिता विश्नोई
- **आधुनिकता और निर्मल वर्मा का कथा साहित्य** **227**
  सीतेश्वरी मिश्रा
- **भारतीय नारी : दशा-दिशा एवं सम्भावनाएँ** **231**
  डॉ. अमूल्य कुमार सिंह
- **जयशंकर प्रसाद विरचित कामायनी : वैदिक दर्शन के आलोक में** **235**
  डॉ. उर्मिला पारीक एवं डॉ. सुरेन्द्र जोशी
- **सरकार और मीडिया का अन्तर्सम्बन्ध** **240**
  (बिहार के विशेष सन्दर्भ में)
  ऋषिकेश कुमार गौतम, सोनाली नरगुंदे
- **हिन्दी सिनेमा और समाज** **247**
  मीनाक्षी
- **वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र एवं पाठ्यचर्या के सन्दर्भ में उसकी चुनौतियाँ** **252**
  वन्दना वर्मा
- **छवि निर्माण में टीवी विज्ञापनों की भूमिका** **259**
  विकास चन्द्र
- **प्रतापगढ़ जनपद के इण्टरमीडिएट स्तर के विद्यार्थियों की उपलब्धियों का उनके विद्यालयीय वातावरण के मध्य सह-सम्बन्धों का अध्ययन** **264**
  अनुपम
- **वैदिककाल के विशेष परिप्रेक्ष्य में नारी विकासपथ** **270**
  डॉ. भास्कर प्रसाद द्विवेदी

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 1-12

साहित्यविद्याया वेदमूलकत्वम् साहित्यशास्त्रस्य वेदोपजीवकत्वम्

डॉ. सुमनकुमारझाः*

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।

संस्कृतभाषेयं सर्वास्वपि विश्वभाषासु प्राचीनतमेति भाषाशास्त्रविदामुद्घोषः। भाषान्तरविलक्षणैर्विशिष्टैः प्रकृतिप्रत्ययादिसंस्कारविशेषैः संस्कृतत्वादियं किल संस्कृतभाषेत्यन्वर्थसंज्ञा लेभे। संस्कृतभाषायाः साहित्यमपि प्राचीनतममतिविशालञ्च। तञ्चेदं संस्कृतसाहित्यं द्विविधं खलु विभज्यते – वैदिकं लौकिकञ्चेति। तत्र वैदिके तावद्वेदाः, उपवेदाः, वेदाङ्गानि, उपनिषदः, पुराणानि च संगृह्यन्ते। लौकिके तु वाल्मीकिरामायणादारभ्य अद्यावधि विरचितमगाधं विपुलं समग्रञ्च संस्कृतसाहित्यं गृह्यते।

नियमश्चायं कश्चन यल्लोकेऽस्मिन् प्रयोजनायोपकल्पितः सर्वोऽपि विषयः तदनुबन्धिशासनकरं शास्त्रमेकमपेक्षत एवेति। शास्त्रविधिमविदित्वैव यदि स्वबुद्धया इष्टमनिष्टं वा कल्प्यते, तदा गर्ते पतनं, श्रेयःप्रेयोभ्यां भ्रंशश्चानिवार्य एव। अत एव अस्माकं भारतीयचिन्तने तत्त्वबोधाय विविधानि शास्त्राणि प्रादुर्भूतानि, विविधाश्च विद्याः प्रादुर्भूताः। तेषां सर्वेषां शास्त्राणां सर्वासां च विद्यानां वेदमूलकता शास्त्रकारैराचार्यैर्महाकविभिः समालोचकैश्चाप्यङ्गीक्रियत एव, सन्दर्भेऽस्मिन् नास्ति काऽपि विप्रतिपत्तिः। यतो वेदाः सृष्टेः प्रप्रथमो ज्ञानराशिः, प्रप्रथमं काव्यञ्च। तत एवान्यत्सर्वं ज्ञानं विज्ञानञ्चोद्भावितमिति सर्वस्वीकृतसिद्धान्तः। यतः—**अपौरुषेयं वाक्यं वेद इति** सायणीयऋग्भाष्ये। वस्तुतः कोऽपि दिव्यतमः प्रकाशो वेदाह्वयो नाम, परमकारुणिकेन भगवता परमेश्वरेण प्रणोदितः। यत्रेदमाम्नायते—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।[1]

अपि च—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[2]

अपि च – **इष्टप्राप्त्यानिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेद** इति सायणीयकृष्णयजुर्वेदीयभाष्यभूमिकायाम्। 'विद् ज्ञाने' इति ज्ञानार्थकाद् धातोर्घञि प्रत्यये कृते 'वेद' इति रूपं निष्पद्यते। विद् सत्तायाम्, विद् विचारणे, विद्लृ लाभे, विद् चेतनाख्याननिवासेषु इति धातुभ्यो 'घञि' 'वेद' इति रूपं निष्पद्यते। वेदार्थानुशीलनाद् ज्ञायते यत्वेदा हि विविधज्ञानविज्ञानराशयः संस्कृतेराधाररूपा जीवनस्योन्नायकाः कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधका मानवीयमूल्यप्रदायका मानवधर्मनिरूपकाश्च सन्ति। उक्तञ्च मनुना—

---

* वरिष्ठ-सहायकाचार्यः, साहित्यविभागः, श्री.ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठम्, नवदेहली

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्[3]

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।[4]

भारतीयसंस्कृतेः साहित्यस्यापि च मूलरूपं वेदेष्वेवोपलभ्यते। यजुर्वेदे—**'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'** इति प्राप्यते।[5] वैदिकी संस्कृतिः प्रथमा संस्कृतिरासीत्। वेदेषु भारतीयानां जीवनदर्शनाऽऽचार-विचार-नैतिकमूल्य-सामाजिकमूल्य-ज्ञान-विज्ञान-चिन्तनानि च प्राप्यन्ते। वेदा आचारसंहितारूपेण प्रमाणीक्रियन्ते। मानवीयमूल्यानां प्रतिपादनं वैदिकसंहितासु सर्वत्र दरीदृश्यते। मूल्यं मानवजीवनस्य दशां दिशञ्च निश्चिनोति, नियमयति च मानवजीवनम्। धर्मार्थकाममोक्षाणां चिन्तनेन सह आचारविचारयोः कलासाहित्ययोः कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोश्च ज्ञानेन साकं सद्व्यवहारो हि मानवीयमूल्यस्याऽऽधारस्तम्भो विद्यते। सर्वेष्वात्मवद्दृष्टिः सर्वान् प्रति श्रद्धा दया क्षमा चेत्यादयः सद्भावनाः, भारतीयजीवनमूल्यानि चावैदिकसाहित्यादारभ्य अर्वाचीनसाहित्यं यावद्विरचितेषु समग्रसाहित्यग्रन्थेषु वर्णितानि सन्ति, समुपलभ्यन्ते च। यथा—

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे सञ्जानाना उपासते।।[6]
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[7]

कीदृशमद्भुतं साहित्यमिदं यदस्माकं कृते प्रदत्तं ऋषिकविभिः। नानृषिः कविः 'कवृ वर्णे' इति दर्शनाद्वर्णनाच्च कविस्तस्य कर्म काव्यम्। नानृषिः कुरुते काव्यमिति भट्टतौतः।[8]

अत्रोदात्तभावानां विचाराणां मूल्यानाञ्च तथा प्रतिबिम्बनं दरीदृश्यते तत्तु सर्वोत्कृष्टसाहित्यस्य परिचायकम्। वस्तुत एतादृशानामुदात्तभावानां विचाराणाञ्चैव पल्लवनं परिबृंहणञ्च समग्रलौकिकसंस्कृतसाहित्ये दरीदृश्यते, यथा—आदिकाव्यरामायणेऽस्माभिर्दृश्यते यत्कथं भगवता रामेण सर्वैः जीवजन्तुभिः साकं समन्वयः क्रियते, का कथा मानवानाम्?

साहित्यविद्याया वेदमूलकता-

साहित्यविद्या इत्यत्र काव्य-नाट्य-नाट्यशास्त्र-काव्यशास्त्र-सौन्दर्यशास्त्रादीनाञ्च ग्रहणं भवति। **तत्र काव्यस्य वेदमूलकता यथा**—काव्यशब्दस्य कविशब्दस्य च प्रयोगोऽनादिप्रवाहपतितो दृश्यते। ऋग्वेदे कविकाव्यादिपदानां प्रयोगो बहुषु स्थलेषु समुपलभ्यते। सर्वेषामपि काव्यानां ज्ञाता अग्निर्विद्यते। यथा—**अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्। आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रोविश्वानि काव्यानि विद्वान्।**[9]

स्रष्टुः कृते कविरिति शब्दो वेदेऽस्ति प्रयुक्तः। यथा—**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः...।**[10] अथर्ववेदे प्रोक्तं प्रभुणा वेदाः तस्य परमात्मनः तथाविधं काव्यं यन्न नश्यति नापि च जीर्यति। यथा—**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।**[11] ऋग्वेदे **क्रान्तदर्शी** इत्यर्थे कविशब्दस्य बहुधा प्रयोगो दृश्यते।[12] अपि च- **कवीयमानः कः इह प्रवोचद् देवं मनः कुतोऽधिप्रजातम्।** ऋग्वेद 1.164.18 **कविः कवीनामुपश्रवस्तमम्। कविः कवित्वा दिवि रूपमासृजत्।** ऋग्वेद 10.124.7

वेदेषु ऋषिः कविशब्देनाभिहितः। ऋषयः द्रष्टारः। अव्यवहितं दर्शनमेव ऋषिदृष्टिः। वाक् एव तेषां महिमा। यथा—**वाग्वाऽस्य स्वो महिमा।** शतपथ. 2.2.4.4. वाक् स्वयमेव ब्रह्म अस्ति। यथा—**वाग्ब्रह्म** – गो.ब्रा. 1.2.10 **वाग्वैब्रह्म** – ऐ. ब्रा. 6.3 इत्यादि।

तथैव विशिष्टसुचिन्तितयोर्वाक्ययोरर्थे काव्यमित्यस्य शब्दस्यानेकत्र प्रयोगो दृश्यते।[13] वेदे वेदस्य काव्यत्वमुक्तम्—'पश्य देवस्य काव्यम्' इति वेदस्य काव्यत्वात् काव्यस्य मूलं वेद एव, तत्तु अङ्गी तस्य छन्दोव्याकरणादीनि शास्त्राण्यङ्गानि। अनेन कविकाव्ययोर्मूलभावो वेदे विद्यत इति। किं बहुना ऋग्वेदेऽनेकानि पदानि ध्वनिकाव्यरचनाविशिष्टानि विद्यन्ते, तानि च पदानि मन्त्राणां काव्यात्मकशैलीमभिव्यञ्जयन्ति।

इत्थं संस्कृतस्य प्रथमं विद्यास्थानं काव्यमस्ति। अष्टादशसु विद्यास्थानेषु यस्य प्राथम्यं तदधिवैदिकं वाङ्मयमेव। तस्य च प्रथमः स्कन्धः संहितारूपः संहितास्वपि '**ऋक्संहिता**' प्रथमतमा। सा च काव्यमिति। इत्थं काव्यस्य वेदमूलकत्वं सर्वथा सिद्धमित्यत्र नास्ति संशीतिलेशोऽपि।

साहित्यशास्त्रस्य वेदोपजीवकत्वम्-

शास्त्रेषु कानिच्छाशास्त्राणि प्रत्यक्षतो वेदसम्बद्धानि कानिचिच्च परम्परया। वेदैः सह सम्बन्ध एव तेषां शास्त्रत्वं ख्यापयति। यावत् कस्यापि शास्त्रस्य वेदैः सह सम्बन्धो नोपपद्यते तावत् तस्योपादेयत्वं नाङ्गीकुर्वन्ति समीक्षकाः। अतः सर्वशास्त्रस्य वेदाधिगमत्वं प्रतिपादयन्ति तच्छास्त्रनिपुणा विद्वांसः।

साहित्यशास्त्रस्यापि वेदमूलकत्वं विद्यत एव। कथमिति प्रथमं काव्यं संहितात्मकम्। तस्य यानि वाक्यानि तेषां तात्पर्यनिर्णयाय प्रवृत्तं पूर्वमीमांसाशास्त्रम्। फलतः पूर्वमीमांसाशास्त्रमेव प्रथमं काव्यशास्त्रमित्युपदिशन्त्याचार्याः, स्वीकुर्वन्ति च नैके आधुनिकाः साहित्यशास्त्रप्रणेतार आचार्याः समीक्षकाश्च। अत एव काव्यमीमांसा साहित्यमीमांसा च साहित्यविद्याग्रन्थौ। काव्यमीमांसा अर्थात् काव्यतत्त्वानां मीमांसा। मीमांसाशब्दस्यैवार्थो भवति विचारपूर्वकतत्त्वनिर्णय इति। विचारपूर्वकतत्त्वनिर्णये तत्प्रतिपादको ग्रन्थः। कर्मब्रह्मविषयभेदेन द्विविधः सः। कर्मकाण्डविषयसंशयनिवारको ग्रन्थो जैमिनीप्रणीतः स च पूर्वमीमांसात्वेन प्रसिद्धः। तथैव ब्रह्मज्ञानविषयकसिद्धान्तप्रतिपादको ग्रन्थ उत्तरमीमांसेति प्रसिद्धः। सिद्ध अन्तः (निर्णयः) सिद्धान्तः। यद्वा वादिप्रतिवादिभ्यां निर्णीतत्वेन आक्षेपरहितोऽर्थ सिद्धान्त इति प्रतिष्ठितः। अतोऽत्र काव्यतत्त्वानां सिद्धान्ततया प्रतिपादनाद् ग्रन्थस्यास्य काव्यमीमांसेति नाम अन्वर्थकमेव। पण्डितराजजगन्नाथेनापि तथ्यमिदं स्वीक्रियते। यथा चोच्यते तेन—

मननतरितीर्णविद्याऽर्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम्।।[14]

साहित्यशास्त्रीयसिद्धान्तानामपि मूलं वेद एव वर्तते। सर्वेषां शास्त्राणां धर्मार्थकामप्रतिपादनपुरस्सरं परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य प्रतिपादन एव तात्पर्यम्, तच्चात्मसाक्षात्कारादेव भवति, तदा काव्यस्यात्मा कः? इति प्रश्ने श्रुतिरुपदिशति '**रसो वै सः**'। '**रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**' इति। पण्डितराजजगन्नाथेनाप्युच्यते- अस्त्यत्रापि '**रसो वै सः**'। **रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इत्यादि** श्रुतिः प्रमाणम्।[15]

नाट्यशास्त्रस्य वेदमूलकत्वम्-

यद्यपि सर्वशास्त्रमर्मविज्ञानसन्दर्शनसमर्थं दृश्यश्रव्याद्यनन्तकाव्यप्रभेदानां रहस्योद्घाटनपरमलङ्कारशास्त्रमिदं प्रप्रथमं कदा केनाविष्कृतमिति निर्दिष्टतया निर्णेतुं न शक्यते, परं भरतमुनिप्रणीतं नाट्यशास्त्रमेवास्याः साहित्यशास्त्रविद्यायाः प्रप्रथमः समुपलब्धग्रन्थः। यत्र साहित्यविद्याया वेदमूलकत्वं प्रतिपादितं भरतमुनिना यथा—

योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मितः।[16]
तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।[17]
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।।[18]
एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।।[19]

अपि च–

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।[20]

तत्र चोच्चते महामहेश्वराचार्येण अभिनवगुप्तपादाचार्येण नाट्यशास्त्रस्याभिनवभारतीटीकायाम्– **नाट्यं च ब्रह्मणोद्धृत्योद्धृत्य वेदाङ्गान्याहृतमिति तद्विषयं शास्त्रमप्युदाहृतमित्युक्तम्।**[21] अपि च– तदेवं नाट्यादिरूपकोपक्रमं गीतातोद्यप्राणाभिनयवर्गपरिपुष्यद्रसचर्वणात्मकं परप्रीतिमयमेव नाट्यम्। ततस्तद्वयुत्पत्तिरितिनाट्यमेव वेद इति क्रमेण प्रदर्शितम्। तेनाक्रम्य योजनात्मकनियोगात्मकशासनप्राणशास्त्रवैलक्षण्येन स्वयमुपारूढज्ञानाभिधानविदः प्राणवेदरूपता नाट्यस्यैवेति सिद्धम्।[22]

निःशङ्कशार्ङ्गदेवेनापि नाट्यविद्याया वेदमूलकता प्रतिपादिता। तेनोक्तं सङ्गीतरत्नाकरग्रन्थे – नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः।[23] तत्र गीततत्त्वस्य **सामवेदप्रभवत्वं सविशेषं प्रतिपादितम् – सामवेदादिदं गीतं सञ्जग्राह पितामहः'** इत्याह शार्ङ्गदेवः। श्रुतिजातिनिरूपणक्रमे षड्जादीनां स्वाराणां श्रुतिप्रभवत्वं समाख्यातम्। नारदीयशिक्षायां षड्जादीनां स्वराणां सामगतसप्तस्वरेषु परिवर्तनं वर्ण्यते। यथा—

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीयः स गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः।।
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषाद विज्ञेयः सप्तमः पञ्चमः स्मृतः।।[24]

तत्र च टीकते कलानिधिटीकायाः टीकाकारो चतुरकल्लिनाथः– वेद्यतेऽनेन धर्मार्थाविति व्युत्पत्त्या ऋगादिमुख्यवेदमूलत्वेन च चतुर्मुखेण दत्तस्य वेदत्वे सिद्धे तदर्थभूतनाट्यप्रतिपादकभरतमुनिप्रणीतस्य चतुर्विधपुरुषार्थफलस्य शास्त्रस्य वेदमूलकत्वेन वैदिकत्वं वेदितव्यम्। अयमेवोपवेदेषु परिगणितश्च **'सामवेदस्योपवेदो गान्धर्ववेदः'** इति। नाट्यवेद एव गीतप्राधान्यविवक्षया गान्धर्ववेद उच्यते। अभिनयप्राधान्यविवक्षया तु नाट्यवेद इति चोच्यते। तत्र ऋग्वेदात्पाठ्यस्य संग्रहणम्, तस्य मन्त्ररूपत्वेन

शब्दप्रधानत्वादिति मन्तव्यम्, पाठ्यं नाम वाचिकाभिनेयः। यदुर्वेदादभिनयानां संग्रहमपि, तस्य पाटाक्षरोद्घाटनञ्च। अथर्वणाद्रसानां शृङ्गारादीनां संग्रहणमपि तस्य मारणमोहनाद्यभिचारकर्मप्रतिपादकत्वेन रसप्रधानत्वादिति भावः।[25]

वस्तुतो नाट्यमिदं धर्मकामार्थमोक्षदमस्ति। यो यं पुरुषार्थमुद्दिश्च प्रयुङ्क्ते स तस्य सिध्यतीत्यर्थः। अनेन नाट्यादेर्मोक्षसाधनत्वं प्रतिपादितम्। इत्थं नाट्यनाट्यशास्त्रयोर्वेदमूलकत्वं सिद्धमेव।

राजशेखरेणापि साहित्यविद्यायाः शास्त्रत्वं संस्थापितं प्रमाणितञ्च। प्रोक्तञ्च तेन यत्साहित्यं सप्तममङ्गं वेदस्य। शिक्षा-कल्प-निरुक्त-छन्दो-व्याकरण-ज्योतिषशास्त्राणां षडङ्गानां ज्ञानाभावे वेदार्थो यथा समीचीनतया न प्रकाशते तथैवालङ्कारशास्त्रस्य ज्ञानं विनाऽपि। अतो वेदार्थज्ञानाय अलङ्कारशास्त्रं परममुपादेयमस्ति। सन्दर्भेऽस्मिन् आचार्यराजशेखरस्य मतमपि प्रमाणत्वेनोपस्थापयितुं शक्यते, यतः तेन साहित्यविद्याया वेदाङ्गेषु प्रतिष्ठापनं कृतम्, शास्त्रत्वञ्च संस्थापितम्। तद्यथा-

'इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत। तच्च शास्त्रं द्विधा - अपौरुषेयं पौरुषेयं च। अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्रब्राह्मणे। विवृतक्रियातन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दाव्याख्यानविनियोगग्रन्थो ब्राह्मणम्। ऋग्यजुःसामवेदास्त्रयी। अथर्वणश्च तुरीयः। तत्रार्थव्यवस्थितपादा ऋचः। ताः सगीतयः सामानि। अच्छन्दांस्यगीतानि यजूंषि। ऋचो यजूंषि (सामानि) चाथर्वणं त इमे चत्वारो वेदाः। इतिहासवेदधनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदाः। **'वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो गेयवेदः'** इति द्रौहिणिः। 'शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो विचितिः, ज्योतिषं च षडङ्गानि' इत्याचार्याः। **उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतेः।** यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[26]
सेयं शास्त्रोक्तिः। इति राजशेखरः।[27]

मन्त्रेऽस्मिन् रूपकातिशयोक्त्योपमालङ्काराणां वैशिष्ट्यं विदितमेव विदुषाम्। अत्रातिशयोक्त्यलङ्कारसौन्दर्येण सह गूढ़तमभावानामभिव्यक्तिः प्रसिद्धा। अत्राभिव्यक्तिवादस्य अभिव्यञ्जनायाश्चापि दृष्टिः संनिहिताऽस्ति। रूपकातिशयोक्त्योपमालङ्काराणां सौन्दर्यं निहितमत्र। अथ चाऽत्र आत्मा परमात्मा प्रकृतिश्चेति त्रीण्युपमेयानि, सयुजा पक्षिणौ पिप्पलञ्चेति त्रिभिरुपमानैर्निगीर्यन्ते। अतोऽत्र रूपकातिशयोक्त्यलङ्कारौ। पण्डितराजजगन्नाथेनाऽप्यतिशयोक्तिरेषा प्रशंसिता। यथा—**इयं चाऽतिशयोक्तिर्वेदेऽपि दृश्यते। यथा—द्वा सुपर्णा।** इत्यादि।[28] **अत्र न केवलमतिशयोक्त्यलङ्कारोऽपित्वनुप्राससौन्दर्येण सह विभावनाविशेषोक्त्योरपि चमत्कृतिरनुभूयते सहृदयैः। माधुर्यगुणः पदद्योत्यो ध्वनिश्चाऽभिव्यज्येते। अत्रात्मनः परमात्मनश्च नित्यत्वं चैतन्यभावश्चाऽभिव्यज्यते। तत्र शास्त्रकाराणामाचार्याणाञ्च वचनमेव प्रमाणम्।**

वस्तुतो मन्त्रेऽस्मिन् दर्शनशास्त्रस्य निष्कर्षभूतं तत्त्वमस्ति निगूहितं काव्यशैल्या। अतोऽयं मन्त्रः काव्यस्योत्कृष्टमुदाहरणमित्यस्ति प्रसिद्धिः। अत्र ईश्वर-जीव-प्रकृतीनां तत्त्वानां नास्ति नामतः समुल्लेखः,

अपितु रूपकालङ्कारनियोजनया। तत्र द्वा सुपर्णा ईश्वरो जीवश्च। 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' अर्थात् जीवः स्वकर्मजनितं दुःखसुखात्मकं फलमश्नाति। 'अन्यः अनश्नन् अभिचाकषीति' अर्थात् जीवः स्वकर्मजनितं दुःखसुखात्मकं फलमश्नाति। 'अन्यः अनश्नन् अभिचाकषीति' अर्थात् ईश्वरः (परमात्मा) फलं न भुङ्क्ते सर्वत्र च स्वसौन्दर्यं परिप्रकाशयतीत्ययं भावो मन्त्रस्य। रूपकालङ्कारस्य चारुता, अनुप्रासच्छटेति सर्वमेवातिमनोहरं प्रतिभाति। 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकषीति' अत्र तु फलभोगं विना स्वतेजसः प्रसारणेन, कारणं विना कार्योत्पत्तिरूपाया विभावनायाः सृष्टिः चमत्कारविशेषमातनोति। फलभोगाभावेऽपि सौन्दर्यस्य प्रकाशनेन तु सति हेतौ फलाभावरूपाया विशेषोक्तेश्चमत्कारः। एतेनान्यशास्त्रवत्साहित्यशास्त्रस्यापि वेदोपजीवकत्वं सिद्धमेव, तत एव साहित्यशास्त्रस्य मूलं प्रतिपत्तव्यम्। वेदेषु यथा विविधा विद्याः बहूनि विज्ञानानि, शिल्पकलाः, गणित-ज्योतिषशास्त्राणि बीजरूपेणोपदिष्टानि, तथैवालङ्कारनिर्देशोऽप्यतिरमणीयतया समाविष्टोऽवगम्यते। प्रायशः प्रमुखाः सर्व एवालङ्कारा वेदेषु दृग्गोचरीभवन्ति। अतः सिद्धमेव राजशेखरवचनं यदृते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतेरिति। अनेन निष्पद्यते साहित्यशास्त्रस्य वेदमूलकत्वम्।

काव्यस्याविर्भावस्तु साक्षादैव वेदेभ्यः सञ्जायत इत्यत्र नास्ति वैमत्यम्, यतो भारतीयविद्यायाः प्रथमं काव्यं ऋग्वेद एवास्तीति निश्चप्रचम्। मन्त्रस्यास्य प्रभावो निम्नलिखितेऽस्मिन् पद्ये दरीदृश्यते—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।[29]
पद्येऽस्मिन् स्पष्टरूपेण ऋग्वेदीयमन्त्रस्य प्रभावो दृश्यते।

पौरुषेयं तु पुराणम्, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृतितन्त्रमिति चत्वारि शास्त्राणि। तानीमानि चतुर्दश-विद्यास्थानानि, यदुत वेदाश्चत्वारः, षडङ्गानि, चत्वारि शास्त्राणि' इत्याचार्याः। सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्' इति यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च तद्धि शास्त्राण्यनुधावति।'[30]

इत्थं राजशेखरेण वाङ्मयं द्विधा विभज्य पौरुषेयेषु शास्त्रेषु साहित्यं स्थापितम्। प्रतिपादितञ्च तेन यद्यथा पुरुषार्थसिद्धिः प्रवृत्तिनिवृत्तिश्च चतुर्दशविद्यास्थानेभ्यो जायते तथैव साहित्यविद्यास्थानादपि। अतः पञ्चदशं विद्यास्थानं साहित्यमिति तस्य प्रतिपत्तिः। यतः साहित्यं सकलविद्यास्थानैकायतनं हितोपदेशकत्वात् इति। साहित्यविद्याया महत्त्वं प्रदर्शयता तेन स्थापितं यत्साहित्यविद्या तु समग्रविद्यायाः सारतत्त्वं (निष्यन्दरूपम्) यतो निखिला विद्याः, निखिलाश्चोपविद्याः, साहित्यस्याङ्गानि। एतादृश एव भावो भरतभामहयोः।[31]

आचार्यराजशेखरेण साहित्यं पञ्चमीविद्येति व्याहरता न केवलं साहित्यस्य शास्त्रत्वमुपदर्शितमपितु सर्वविद्यानिष्यन्दत्वेन तस्य व्यापकत्वमपि प्रदर्शितम्। यथा चोक्तं तेन- '**आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तादण्डनीतयश्चतस्त्रो विद्या**' इति कौटिल्यः। '**पञ्चमी साहित्यविद्या**' इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः। आभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विधानां विद्यात्वम्।[32] एवं साहित्यविद्याया विद्यात्वं सम्प्रदर्श्य तेन साहित्यस्य वेदादिशास्त्रेभ्यो वैलक्षण्यं प्रतिपादयता तस्य स्वरूपमित्थं निगदितम्- '**शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।** उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः।

ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य।' इति। रुय्यकाचार्येणापि व्यक्तिविवेकटीकायां साहित्यविद्याया निर्वचनमुपन्यस्तम्। तद्यथा – 'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते, सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्।'[33] ऋग्वेदादन्यान्युदाहरणानि यथा—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे जायेव पत्य उषतीः सुवासाः।।[34]

मन्त्रेऽस्मिन् साहित्यिकतत्त्वानां निदर्शनं जायते। सहस्रशो हि वर्षाणामवधिर्व्यतीतो यदा महर्षिर्विश्वामित्रोऽनुयायिभिः शिष्यैः समं श्रुतुद्रीविपाशोः सङ्गमः सम्प्राप्तः। सरितोः समुन्नमन्तं सलिलराशिमवलोक्य सहसा तस्य हृदयगताः भावाः काव्यरूपेण प्रवहन्तः समुच्छलिताः- यथा—

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।[35]

शैलानामुत्सङ्गान्निर्गत्य समुद्रं कामयमाने मन्दुरातो विमुक्ते अश्वे इव हासमाने जवेनाऽन्योन्यं स्पर्धमाने हृष्यन्त्यौ द्वे शुभ्रे गावाविव शोभमाने मातराविव वत्सं लेढुमिच्छन्त्यौ विपाट् शुतुद्री च नद्यौ पयसा त्वरितं गच्छतः।

ऋग्वेदस्याऽस्मिन् मन्त्रे काव्यस्योत्तमस्य सर्वाणि तत्त्वानि सन्निहितानि वर्तन्ते। अत्र शृङ्गाररसस्य वात्सल्यरसस्य चाऽभिव्यक्तिर्विद्यते, माधुर्यगुणस्योपमालङ्कारस्य च चमत्कृतिरनुभूयते सामाजिकैः। ऋग्वेद आर्याणां मूलधर्मग्रन्थः तत्र काव्यात्मकं सौन्दर्यं सम्भृतमस्ति। रसगुणालङ्कारादीनां काव्यसौन्दर्याधायकानां तत्त्वानामनुभवो बहुधा सामाजिकानां हृदयसन्निहितो भवति। यथा—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्त्रेव निरिणीते अप्सः।।[36]

प्रातरुदयतः सूर्यस्य शोभामवलोक्य दीर्घतमसः सुतस्य कक्षीवतो महर्षेर्हृदयगताः भावाः काव्यरूपेण परिणताः, प्रस्फुरिताः बभूवुः। अत्र चतसृभिरुपमाभिरुपकृतस्य शृङ्गाररसस्याभिव्यक्तिर्भवति। अनेनैव विधिना महर्षिर्गौतमः पूर्वदिश्युदयन्त्या उषसोऽनुपमं सौन्दर्यं समीक्षमाणस्तां शोभनं वस्त्राभरणं वहन्तीं वक्षः प्रकटयन्तीं नर्तकीमिवाऽमनिष्ट। सा उषा सकलं भुवनं प्रकाशयन्ती गोष्ठं गौरिव व्रजति—

अधिपेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्त्रेव वर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः।।[37]

चमत्कृतियुताऽतिशयोक्तिः निम्नमन्त्रेऽपि दृश्यते—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश।।[38]

अत्र महर्षिणा वामदेवेन वृषभवर्णनप्रसङ्गेन वेद-सूर्य-यज्ञ-महादेवादीनां वर्णनं कृतम्। अतोऽत्र रूपकातिशयोक्त्यलङ्कारौ स्पष्टरूपेण लक्ष्येते। श्लेषालङ्कारस्य चमत्कृतिर्निम्नलिखिते मन्त्रे लक्ष्यते—

यत्र सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।

इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीराः पाकमत्रा विवेश।।[39]

अत्र मन्त्रेऽर्थद्वयं लक्ष्यते—आध्यात्मिकोऽर्थ आधिभौतिकश्च। अतोऽत्र श्लेषालङ्कारः। आध्यात्मिकोऽर्थः प्रकृत्यादिविषयवर्णनात्मकः। आधिभौतिकश्च पक्षिवृक्षादिविषयकः। अथ च द्वयोरप्यर्थयोः काव्यत्वं निहितम्।

लोकव्यवहारविषयस्य सुन्दरमुदाहरणमृग्वेदस्य दशममण्डलस्य चतुस्त्रिंशत्तममक्षसूक्तमस्ति। महर्षिरैलूषकवषो वदति—अक्षफलके प्रास्ता अक्षाः द्यूतकरं तथैवोन्मादयन्ति यथा सोमरसपानं सोमरसपायिनमुन्मादयति–

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्।।[40]

द्यूतक्रीडासमुत्पन्नायाः द्यूतकरस्याऽवस्थायाः काव्यमयं वर्णनं निम्नलिखितमन्त्रे वर्तते–

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।।[41]

द्यूतकरस्य श्वश्रूस्तं द्वेष्टि पत्नी च तमपरुणद्धि। याचमानोऽप्यसौ न कमपि सुखदं जनं प्राप्नोति। विक्रययोग्यस्याश्वस्येव कस्यापि भोगस्य सुखं स द्यूतकरो न लभते। मनोमोहिनी काव्यरचना अतिप्राचीनकाले ऋग्वैदिकयुग एव विकसिता इति प्रमाणानि सकल एव ऋग्वेदे समुपलभ्यन्ते। काव्यसाहित्यस्याधिष्ठात्र्या वाग्देवतायाः कल्पना तदानीं समुपलभ्यते। वाचमाश्रित्य ऋषयः सशक्तनवविजयप्रदानां मन्त्राणां रचनामकुर्वन्–

प्रतव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे।
अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः।।[42]

ऋग्वेदोत्तरकाले वाग्देवतेयं सर्वदेवतासु प्रधाना शक्तिमत्तमा च समभवत। इयमन्येषां सर्वेषां रुद्रवस्वादित्यविश्वेदेवमित्रवरुणेन्द्राग्न्यविश्वीसोमत्वष्टृभगादीनां देवतानां धारिका वभूव। इयं धनानां सङ्गमनी चिकितुषी यज्ञियानां प्रथमाऽऽसीत्। देवास्तां बहुषु स्थानेष्वनेकैः प्रकारैरकल्पयन्–

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।[43]

ऋग्वेदे काव्यरचनाया विकासो न केवलं मुक्तककाव्यरूपेणैवोपलभ्यते, प्रबन्धकाव्यविकासतत्त्वान्यपि तत्राऽवलोक्यन्ते अनेकेषु सूक्तेषु कथानकतत्त्वानि सन्निहितानि। तेषाञ्च कथानकानां प्रबन्धकाव्यरूपेण विकास उत्तरवर्तिनि युगे ब्राह्मण–पुराण–रामायण–महाभारतादिषु साहित्यग्रन्थेषु समुपलभ्यते। ऋग्वेदस्य नदीसूक्ते (3.33) विश्वामित्र–नद्योश्च संवादो विद्यते, यमसूक्ते (10.10) यमी–यमयोः संवादो वर्तते, सरमासूक्ते (10.108) च सरमापणीनां संवादोऽस्ति। अथ चान्येष्वपि सूक्तेषु बहवः संवादाः समुपलभ्यन्ते। संवादाश्चेमे कथानकपृष्ठभूमियुताः सन्ति। अनेके च संवादा उत्तरवर्तिनि काले साहित्ये प्रबन्धकाव्यरूपेण विकसिताः।

ऋग्वेदस्य रोचकश्चमत्कृतिपूर्णः संवाद उर्वशी पुरूरवसोर्विद्यते (10.95)। अत्र तयोर्नायिकानायकयोः प्रणयगाथा प्रभुणा कल्पिता। संवादस्यास्य प्रबन्धकाव्यरूपेण विकासः

शतपथब्राह्मणे, तदनन्तरञ्च महाभारते समभूत। अस्मादेव प्रबन्धकाव्यात प्रेरणामधिगम्य महाकविः कालिदासो विक्रमोर्वशीयं नाम मनोरमं नाटकमकल्पयत्।

एवमेव ऋग्वेदादनन्तरमन्येष्वपि वेदेषु यजुःसामाथर्वस्वपि काव्यतत्त्वानि समवलोक्यन्ते। तेषु कतिचन शुक्लयजुर्वेदे काव्यतत्त्वविमर्शार्थं लावण्यविमर्शार्थं, दिङ्मात्रमत्र प्रस्तूयन्ते सहृदयाह्लादनाय। तत्रादौकाश्चन अनुपमा उपमा एवात्र द्रष्टव्याः–

1. **सः नः पितेव सूनवेऽग्नेसूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।**[44]
2. **त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।**
   त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो भुक्षीय मामुतः।।[45]
3. **पुत्रमिव पितरावश्विनो इन्द्रावयुः काव्यैर्दसनाभिः।**[46]
4. **मातेवपुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्नि स्वैयौनावमारुषा।**[47]
5. **कन्या इव वहतुमेतवा उ अंच्यंजाना अभिचाकशीमि।**[48]
6. **सप्त तेऽग्ने समिधः सप्तजिह्वः सप्तऋषयः।**[49]

शुक्लयजुर्वेदे सख्यभावनाया लालित्यपूर्णोपदेशः यथा–

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहै।[50]

एवमेव पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।[51] **अनुप्रासस्य छटा यथा–द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः।**[52]

इत्यत्र रकारानुवर्तनाद् वकारानुवर्त्तनाच्छान्तीतिपदस्य च मुहुर्मुहुरनुवर्त्तनादनुप्रासलालित्यं सर्वथा प्रशस्यार्हमेव। पदानुप्रासः। एवमेव—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।[53]
कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।[54]

इत्यादयः।

अथर्ववेदेऽपि काव्यतत्त्वानां दर्शनं भवत्येव। प्रथमकाण्डस्य प्रथमसूक्ते एव वाणीपतिर्वाचस्पतिः प्रार्थ्यते। प्रथममन्त्रेऽत्र काव्यत्वं सन्निहितम्–

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।।[55]

अथर्ववेदस्य अप्सरःसूर्यराष्ट्रादिसूक्तानि ध्वनिकाव्यस्य मनोरमाण्युदाहरणानि सन्ति। अथर्ववेदे प्रोक्तं प्रभुणा–वेदाः तस्य परमात्मनस्तथाविधं काव्यं यन्न नश्यति नापि च जीर्यति। पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।[56]

उत्तरवर्तिनि वैदिककाले ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि काव्यमयीनां रचनानां प्राचुर्यमभिलक्ष्यते।

बहुन्याख्यानकान्यपि तत्र तस्य युगस्य काव्यरचनानैपुण्यं साधयन्ति। शतपथब्राह्मणे मनु-मत्स्यकथा, पुरुरवा-उर्वशीकथा, अन्यानि च कथनोपकथनानि तत्रोदाहरणरूपेण प्रस्तोतुं शक्यन्ते। शतपथब्राह्मणे नारीसौन्दर्यस्याऽऽदर्शो ऋषिणा प्रस्तुतः।[57] स चोत्तरकविभिः स्वरचनासु सम्मानितः। ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रतिपादितेषु विभिन्नाश्वमेधराजसूयादियज्ञक्रियाकर्मकाण्डादिष्वभिनयतत्त्वानां दर्शनं सर्वत्रोपलभ्यते। दर्शनविषयिकासूपनिषत्सु भारतीयदर्शनानां विविधपक्षाणामुपदेशाः सन्निहिता वर्तन्ते परन्तु तत्रापि काव्यतत्त्वानामभाव इति न। कठमुण्डकछान्दोग्यादिषूपनिषत्सु हि उत्तमकाव्यानामुदाहरणानि सन्त्येव। वेदेषु काव्यविकासो बभूवेति तथ्यमुत्तरवर्तिभिर्मुनिभिः सुस्पष्टं स्वीकृतम्। अतएव भरतमुनिना सर्वाण्येव नाट्यतत्त्वानि वेदेभ्य एव गृहीतानि। इति।

अत एवोच्यते सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति।

सन्दर्भ-सूचीः

1. ऋग्वेद 10.71.03
2. यजुर्वेद 31.77
3. मनुस्मृतिः 2.6
4. मनुस्मृतिः 2.7
5. यजुर्वेदः - 7.14
6. ऋग्वेद 10.191.2
7. ऋग्वेद 10.191.4
8. तथा चाह भट्टतौतः- नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्।
   विशिष्टभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।।
   स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
   दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः।।"
   तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
   नोदिता कविता तावद् यावज्जाता न वर्णना। काव्यादर्शसङ्केतटीका - 1/पृ. 3. काव्यानुशासनम् - अष्टमोऽध्यायः पृ. 379
9. ऋग्वेद 3.1.17.3.1.18
10. शुक्लयजुर्वेद 40.8
11. अथर्ववेद 10.8.32
12. यथा- ऋग्वेद - 1.11.4, 1.76.5, 2.23.17, 7.4.4, 9.7.4 इत्यादि।
13. यथा- ऋग्वेद 5.39.5, 9.6.8, 10.55.5 इत्यादि।
14. रसगङ्गाधर 1.7
15. रसगङ्गाधर। तैत्तिरीयोपनिषद्।
16. नाट्यशास्त्रम्- 1.4
17. तत्रैव 1.12
18. तत्रैव 1.15

19. तत्रैव 1.16
20. तत्रैव 1.17
21. अभिनवभारती 1.4
22. अभिनवभारती- 1.1
23. सङ्गीतरत्नाकरः 7/3
24. ना. शिक्षा 1/5/1-2
25. कलानिधिटीका (सङ्गीतरत्नाकरस्य) 7/3-9 पृ. /3.4
26. ऋग्वेद 1.164.20
27. काव्यमीमांसा-द्वितीयोऽध्यायः पृ. 2.3
28. रसगंगाधरः - द्वितीयाननम्, अतिशयोक्त्यलङ्कारप्रकरणम्।
29. इति ध्वन्यालोकस्य तृतीयोद्योतात्।
30. काव्यमीमांसा, द्वितीयोऽध्यायः। पृ. 3.4
31. यथा—सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
    नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।।ना.शा.1/115
    न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
    नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।। (ना.शा. 1.116)
    भामहश्च- न स शब्दो न तद् वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
    जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः।। (काव्यालङ्कारः - 5.4)
32. काव्यमीमांसा, द्वितीयोऽध्यायः पृ. 4
33. व्य. वि. टीका. पृ. 36
34. ऋग्वेद 10.71.4
35. ऋग्वेद 3.33.1
36. ऋग्वेद 1.124.7
37. ऋग्वेद 1.92.4
38. ऋग्वेद 4.58.3
39. ऋग्वेद 1.164.21
40. ऋग्वेद 10.34.1
41. ऋग्वेद 10.34.3
42. ऋग्वेद 1.143.1
43. ऋग्वेद 10.125.3
44. शुक्लयजुर्वेदः 3.24
45. शु.यजु. 3.60
46. शु. यजु. 10.34
47. शु. यजु. 12.61

48. शु. यजु. 17.97
49. शु. यजु. 17.49
50. शु. यजु. 36.18
51. शु. यजु. 36.24
52. शु. यजु. 30.17
53. शु. यजु. 40.1
54. शु. यजु. 40.2
55. अथर्ववेद – 1.1.1
56. अथर्ववेद– 17.8.32
57. शतपथब्राह्मणग्रन्थः – 1.2.5.16

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 13-19

वैशेषिकदर्शनदृशा दिक्कालविवेचनम्

ललितपाण्डेयः*

लौकिकाऽलौकिकनवीनचिन्तनस्य तर्कस्य वाऽन्वेषणं येनोपायेन भवति तद्दर्शनपदव्यपदिष्टः वर्तते। भारतीयदर्शनं तत्त्वान्वेषणाय लोकं प्रेरयति। अयं हि दर्शनशब्दः भावसाधनः करणसाधनश्च वर्तते। भावसाधने दर्शनशब्दस्यार्थः दृष्टिः भवति। **करणसाधनत्वे तु दृश्यते प्रत्यक्षीक्रियते न तु अनुमीयते नापि शब्दजन्यबोधविषयी क्रियते अनेनेति व्युत्पत्त्या दर्शनसाधनं भवति।**[1]

दर्शने यत्र इन्द्रियवेद्यानां क्षित्यादिपञ्चमहाभूतानां सर्वविधनिरूपणं दृश्यते तत्रैव दिक्कालसदृशातीन्द्रियपदार्थानामपि वर्णनं प्राप्यते। परञ्च दर्शनसम्प्रदायात् पूर्वमेव दिक्कालपदार्थयोः वैदिकवचनेषूपनिषत्सुसाहित्यादौ च भूयांसो विवेचनं विहितम्। सर्वं कालजन्यत्वमिति विचारस्तु सत्यमेव। प्रथमं तावत् कालविवेचनम्—

कालशब्दः कलयति आयुः इत्यर्थे कल संङ्ख्याने इति धातोः पचाद्यच् ततः प्रज्ञाद्यण् कृते सति निष्पद्यते। कालयति सर्वाणि भूतानि इत्यर्थे कल् प्रेरणे इत्यादिना धातुना क्यन्तात् पचाद्यच् सत्यपि वा कालशब्दः संसाध्यते। सामान्यतः काल शब्दस्य अर्थः समय इति गृह्यते, कोशग्रन्थेषु संङ्ख्यानं प्रेरणा वाऽर्थः व्युत्पाद्यते। कालशब्दस्य विविधविधो भेदः ''**क्षणमुहूर्तप्रहरदिनरात्रिपक्षमासायनवत्सरादिः इति।**''[2] वेदविद्यानुसारं कालो द्विविधः नित्योऽजन्यः अपरिछिन्नात्मकः एकः। द्वितीयः कालभेदः मायोपहितचैतन्यादुपहितो भवति। अपरोऽयं कालभेदः सूर्यादिग्रहगतिक्रियाधीनो परिछिन्नात्मको भवति। निरुक्तकारेण आचार्ययास्केन कालशब्दस्य निर्वचनम् एवम् अभिहितम्-''**कालः कालयतेर्गतिकर्मणः**''[3] अथर्ववेदस्य कालसूक्तानुसारम् अपरिछिन्नात्मकः काल एव परतत्त्वम्। परतत्त्वस्य संलक्षकगुणाः विभुत्व-नित्यत्व-नित्यज्ञानाश्रयत्व-सर्वज्ञत्वादयः कालतत्त्वे अनुस्यूताः सन्ति।[4]

सामान्यतः दिग्शब्दः देशिक-आधारत्वरूपेणाधिकरणत्वेन च व्यपदिश्यते। दिशति आकाशं ददाति वा इत्यर्थे दिश् धातोः ''**ऋत्विग्दधृक्स्त्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चाञ्च**''[5] इत्यादिसूत्रसहकारेण क्विन्प्रत्यये कृते सति दिक् शब्दः सिद्धयति। सा च दिशा पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरादिरूपा।[6] एतत्पर्यायः ककुभः, काष्ठा, आशा, हरित इत्यमरः।[7] दिशति ददात्यवकाशम्-दिश+क्विन्। आशायां प्राच्यादिव्यवहारहेतौ काष्ठायाम्।[8] शब्दरत्नावल्यां दिशाशब्दस्य पर्यायाः निदेशिनी, दिशा ककुभः हरितः गौः वर्त्तन्ते। आताः, आशाः उपराः आष्ठाः, काष्ठाः ककुभः हरितः इति वेदनिघण्टौ।

एतवता विषयस्य गाम्भीर्यं वैशिष्ट्यं व्युत्पत्तिञ्च प्रतिपाद्य वैशेषिकदर्शनदृशा कालविवेचनं क्रियते- वैशेषिकदर्शनानुसारं नवद्रव्येषु कालोऽन्यतमः द्रव्यपदार्थः[9] वर्तते। कालद्रव्यस्य नित्यद्रव्येष्वभावो भवति। यतोहि वैशेषिकानुसारेण नित्यद्रव्याणि परत्वापरत्वप्रतीतिशून्याः भवन्ति। किन्तूत्पद्यमानेषु वस्तुषु

* शोधच्छात्रः (M.Phil.), विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्रम्, जवाहरलालनेहरूविश्वविद्यालयः, नवदेहली

परत्वापरत्वप्रतीतिविद्यमानत्वात् कालः जन्यवस्तूनां निमित्तकारणं वर्तते।[10] भाष्यकारेण प्रशस्तपादेन कालसिद्ध्यर्थमनुमापकहेतुत्रयं दत्तम्।[11]

प्रथमः कालः परापरयुगपच्चिरक्षिप्रादीनां हेतुर्भवति। द्वितीयः कालः समेषां वस्तूनामुत्पत्ति-स्थिति-विनाशादीनां हेतुः वर्त्तते। तृतीयः कालः क्षण-लव-निमेष-काष्ठा-कलादिप्रत्ययानां हेतुः भवति। उदयनाचार्यमते काल अनित्यपरत्वस्यासमवायिकारणं भवति अर्थात् परत्वस्य समवायिरहितत्वे सति परत्वस्यासमवायिसमवेतत्वं मूर्त्तत्वरहितत्वं कालस्य लक्षणत्वम्। उत्पद्यमानानां कार्याणां जनक एवञ्च समस्तवस्त्वाधारः काल एव भवति। यावन्तोऽपि पदार्थाः जन्यत्वेन परिकल्पिता अर्थात् उत्पत्तिविनाशशालित्वेन ते सिद्धाः ते सर्व एव कार्यभूताः जन्याः, तेषां समेषां जन्यानां जनकत्वेनजगदाश्रयत्वेन च कालपदार्थ इति विश्वनाथाचार्येण भाषापरिच्छेदः नामके न्यायसिद्धान्तीयग्रन्थे प्रतिपादितः[12]। सर्वदर्शनसङ्ग्रहकारेण आचार्यमाधवेन कालस्य लक्षणमित्थं प्रतिपादितम्-

विभुत्वे सति दिगसमवेतपरत्वासमवायिकारणाधिकरणः कालः।[13]

वादिवागीश्वरेण स्वकीये मानमनोहरनामके ग्रन्थे कालदिशयोः सिद्धिः युगपदनुमानेन कृतः। तन्मते दिक्कालयोः लक्षणं सङ्ख्यापरिणामपृथक्त्वसंयोगविभागयुक्तः विशेषगुणरहितश्च विभुद्रव्याणां सञ्ज्ञा दिक्कालौ वर्तते। कणादसिद्धान्तचन्द्रिकायामुक्तं यत् सर्वकार्योत्पत्तिनिमित्तकः जगदाधारश्च कालो भवति। अन्नम्भट्टेनापि स्वकीये तर्कसङ्ग्रहाख्ये प्रकरणग्रन्थ उक्तम्-अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।[14] अतीतादीत्यस्यार्थोऽतीत-वर्तमान-भविष्यदित्याद्यात्मक एतस्यासाधारणहेतुः काल इति। अतीतादिर्यो व्यवहारः तस्य हेतुरतीतादिव्यवहारहेतुः। शिवादित्यमते कालस्य लक्षणमित्थं वर्तते- **आदित्यपरिवर्तनोत्पाद्यपरत्वापरत्वासमवायिकारणाधारः परत्वापरत्वानधिकरणं कालः।।**[15] एवम् वैशेषिकदर्शनस्य विविधेषु ग्रन्थेषु प्रदत्तानां काललक्षणानां निष्कृष्टं तथ्यमिदमस्ति यत् परत्वापरत्वप्रतीत्याधारः कालः। स च विभुः (pervasive)[16] द्रव्यपदार्थः वर्तते। ननु कालस्य सत्ता तु स्वतः सिद्धा अस्ति, किन्तु काले तद्द्रव्यस्य किं प्रमाणम्? यतोहि काले रूपरसादयः भौतिकगुणाः न भवन्ति न च कालस्य बाह्यप्रत्यक्षता संभवति, एवमेव तस्य मानसप्रत्यक्षोऽपि असंभवः अतः कालद्रव्यत्व विषये किं प्रमाणम्?

सैद्धान्तिकाः कथयन्ति यत् कालः प्रत्यक्षजन्यं नास्ति अपि त्वनुमानेन तज्ज्ञानं भवति। तदनुमानस्य परत्वापरत्वादयः हेतवः सन्ति। क्षणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्त्तयाम्-अहोरात्र-अर्धमास-मास-ऋतु-अयनादय अस्माकं व्यवहारोऽपि पृथिवीजलतेजवाय्व्वाकाशमूर्त्तद्रव्येषु संयुक्तं न भवितुमर्हति। उत वा कालः कार्योत्पत्तिस्थितविनाशादीनां हेतुः वर्तते। पुनरत्र शंका उत्पद्यते यत् परत्वापरत्वस्य वैशेषिक सम्मतार्थः किम्? परत्वं नाम अनुगतमतिसिद्धपरत्वत्वजातिमत्परत्वम्, तथाऽपर इति प्रत्यक्षसिद्धापरत्वत्वजातिमदपरत्वं च। वैशेषिकदर्शने परत्वापरत्वं सूर्यपरिवर्त्तनसंख्याश्रयि भवति अर्थात् कालिकपरत्वे आदित्यपरिवर्तनरूपज्येष्ठत्वज्ञानं निमित्तं भवति। यथा लक्ष्मणाद् रामः प्रचुरतरकालेन सम्बद्ध इति ज्येष्ठत्वज्ञानाद् रामे परत्वम्। अल्पतरसूर्यपरिवर्त्तनान्तरितजन्मवत्त्वरूपकनिष्ठत्वज्ञानं कालिकापरत्वे निमित्तम्। यथा रामाल्लक्ष्मणोऽल्पतरकालेन सम्बद्ध इति कनिष्ठत्वज्ञानाल्लक्ष्मणेऽपरत्वम्।[17] अत्र च सूर्यपरिवर्तनपरत्वापरत्वयोर्मध्ये संयुक्त-संयुक्त-समवाय नाम परम्परासम्बन्धः वर्तते।

कालद्रव्यस्यगुणाः-

स चैको विभुर्नित्यश्च कालः यद्यप्यैक एव किन्तूपाधिभेदादतीत-वर्त्तमान-भविष्यदिति व्यवहारः क्रियते।[18] कालः जन्यवस्तूनां निमित्तकारणमस्ति। अतस्तस्य परिमाणं विभुः अर्थात् परममहदस्ति। यतोहि सर्वव्यापकद्रव्यमेव परत्वापरत्वादिप्रतीतीनां हेतुर्भवति। एकत्वसङ्ख्यासिद्धत्वात् काल अन्यद्रव्याद् पृथग् वर्तते। परत्वादिकारणाद् तज्जन्यत्वाच्च कालस्य संयोगगुणो भवति। संयोगः परत्वापरत्वस्य कालस्य च जन्यमस्ति। अथ च यस्य संयोगो भवति तस्य विनाशोऽपि सम्भाव्यते। अतः कालस्य विभागगुणोऽपि भवति।

दिक्विवेचनम्—मूर्त्तद्रव्यमाधारीकृत्य तदपेक्षया अन्यमूर्त्तद्रव्येषु पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणप्रतीतिः येन द्रव्येण भवति तद्द्रव्यं दिगिति कथ्यते। प्राचीप्रतीची-उदीची-अर्वाचीत्यादिव्यवहारहेतुः दिग् भवति। अतः पूर्वपश्चिमादि प्रतीतीनामाधारः दिग्द्रव्यं वर्तते। वैशेषिकदर्शनपरम्परायां दिगपि कालवद् जगदाश्रय भूतमेकमतीन्द्रियस्वतन्त्रञ्च द्रव्यं वर्तते। तस्य प्रत्यक्षमेव न सम्भवति। अतोऽनुमानहेतुना दिशः सिद्धिः भवति।[19] आचार्यकणादानुसारेण इदमस्माद्दूरम् इदमस्मादन्तिकमित्यादिव्यवहारे यो हि दूरसमीपयोर्हेतुः तद् दिग्पदार्थः इति[20] आचार्यविश्वनाथानुसारेण बुद्धेरसाधारणनिमित्तकारणं दिक् वर्तते। तन्मते दूरदेशः, सामीप्योदेशः (दूरसामीप्यादि) प्रतीतीनां हेतुद्रव्यः दिगिति भवति।[21] सप्तपदार्थीकारमते दिशः लक्षणम् इत्थमस्ति **''आदित्यसंयोगानुत्पाद्य परत्वापरत्वासमवायिकारणाधारः परत्वापरत्वानधिकरणं दिक्।''**[22] अर्थाद् परत्वापरत्वस्यासमवायिकारणस्याधारः, सूर्यसंयोगानुत्पाद्यः (तपनपरिस्पन्दः) तथा परत्वापरत्वस्य अनधिकरणं यद्द्रव्यं सैव दिशा वर्तते। **लक्षणावल्यां अनियतपरत्वासमवायिसमवायिनी मूर्त्तत्वरहिता दिक्।।** केचन भाट्टमीमांसकानां मतमस्ति यत् दिक्पदार्थस्य ज्ञानं पूर्वापरप्रतीतिद्वारा प्रत्यक्षरूपेण भवति। **पूर्वपरादिप्रत्ययगम्या दिगपि प्रत्यक्षा।**[23] पार्थसारथिमिश्रेणाऽपि निगदितं यत् श्रोत्रेन्द्रियद्वारा शब्दस्य विशेषेणरूपेण दिशः साक्षात् ग्रहणं भवति। माधवाचार्येण सर्वदर्शनसङ्ग्रहे दिशः लक्षणमित्थं विवेचितम् - **''अकालत्वे सतविशेषगुणा महती दिक्''।**[24] कालभिन्नः विशेषगुणरहितः (रूपादिचतुष्टयम्, स्नेहशब्दौ, सांसिद्धिकद्रवत्वम्, बुद्ध्यादि नव गुणाः विशेषगुणाः भवन्ति)। विभुः व्यापकपदार्थः दिक् कथ्यते। कालेऽतिव्याप्तिवारणाय अकालः इति पदम्। आकाशादावितिव्याप्तिवारणाय विशेषगुणरहितः इति पदं वर्तते। यतोहि आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः आत्मनश्च विशेषगुणः बुद्धिर्भवति एवञ्च आकाश-आत्मन् द्रव्यपदार्थौ अकालः विभुश्च वर्तते किन्तु विशेषगुणरहितः नास्ति अतः विशेषगुणरहितः इति पदं दत्तम्। मनः द्रव्येऽतिव्याप्तिवारणाय महतीपदम्, मनः अकालः विशेषगुणरहितश्चास्ति किन्तु विभु नास्ति। अतः दिशः लक्षणमस्ति अकालत्वे सतविशेषगुणा महती दिक्।। अन्नम्भट्टेन तर्कसङ्ग्रहे दिशः लक्षणं स्पष्टीकृतं यत् - **प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्।।**[25] अर्थादियं प्राची इयमर्वाची इदमुदीची इत्यादिव्यवहारासाधारणकारणं दिगित्यर्थः। परमाण्वादौ अतिव्याप्तिवारणाय प्राच्यादिव्यवहारः हेतुरिति। आकाशादिवारणायासाधारणेति।

दिग्भेदा—प्रशस्तपादभाष्यकारानुसारेण दिशः दशौपाधिकभेदानां नामानि अधिष्ठातृ लोकपालानुसारमित्थं वर्तन्ते[26] - माहेन्द्री (पूर्वम्), वैश्वानरी (दक्षिण-पूर्वम्), याम्या (दक्षिणम्), नैऋति (दक्षिण-पश्चिमम्), वारुणी (पश्चिमम्) वायव्या (उत्तर-पश्चिमम्), कौबेरी (उत्तरम्), ऐशानी (उत्तर-पूर्वम्), ब्राह्मी (ऊर्ध्वम्) नागी (अधः)। एतासामेव देवतापरिग्रहात् पुनर्दशसञ्ज्ञा भवति। प्राचीप्रतीची भेदात् पुनः दशभेदाः भवन्ति इति शंका न करणीया, यतोहि माहेन्द्रीवैश्वानरी इत्यादयः भेदः उपचारवशादेव

निमित्तभेदाः सन्ति। किञ्च प्राचीप्रतीची इत्यादयः माहेन्द्रीत्यादिलोकपालाधिष्ठितानामेव समानार्थकाः सन्ति। एवञ्च दिशा तु तत्त्वतः एका एव, उपाधिवशात् विभागाः क्रियन्ते। सप्तपदार्थीकारः शिवादित्यमते दिशः एकादशविभागाः भवन्ति। दशभेदातिरिच्य रौद्री नाम्नः एकादशभेदोऽपि गण्यते। यश्च ऊर्ध्व-अधयोर्मध्ये स्थितो भवति।

एवं स्पष्टीभवति यत् वस्तुतः वैशेषिकदर्शनानुसारेण दिशा एका एव किन्तु उपाधिवशात् तस्या दश उत वा एकादशभेदाः भवन्ति।

पञ्चदिक्वृत्तिगुणाः—

सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः दिग्द्रव्यस्य गुणाः सन्ति। ''**कालवदेते सिद्धाः**'' इत्यतिदेशवाक्यस्य तात्पर्यमिदं वर्तते काल इव दिशः अपि पञ्चवृत्तिगुणाः भवन्ति।

दिक्कालयोः साम्यं वैषम्यञ्च—

वैशेषिकदर्शनानुसारेण दिक्कालयोर्स्वातन्त्र्यपदार्थत्वं तु सिद्धमस्त्येव। कालः कालिकसम्बन्धेन परत्वापरत्वादीनां हेतुः वर्तते। एवञ्च दिक् दैशिकसम्बन्धेन परत्वापरत्वहेतुः। कालः जन्यमानकार्याणामुपाधियुतः उत वा क्रियोपाधियुतो भवति। एवञ्च दिग् द्रव्यपदार्थः मूर्त्तकार्याणामुपाधिभिः संयुक्तो न भवति। **जन्यमात्रं क्रियामात्रं वा कालोपाधिः। मूर्त्तमात्रं दिगुपाधिः।।** सि.च. (तर्कसङ्ग्रहटीका)। कालोपाधीनां प्रतीतिः नियतलिङ्गा भवति। तथा च दिगुपाधीनां प्रतीतिः अनियतलिङ्गा भवति। नियतोपाध्युन्नायकः कालः, अनियतोपाध्युन्नायिका दिक्[27] अर्थात् कालिकप्रतीतिः स्थिरसिद्धा एवञ्च देशिकप्रतीतिः विपरिणामशीला भवति। वैशेषिकदर्शनानुसारेण कालवद् दिशा अपि कार्यं प्रति निमित्तकारणमस्ति। अनया दृष्ट्या दिक्कालयोः साम्यद्रव्यत्वं तु वर्तते परञ्च भिन्नप्रतीत्याश्रयत्वात् तयोः द्रव्योः पृथग् द्रव्यत्वं स्वीक्रियते।

कालवद् दिगपि परत्वापरत्वहेतुः। वर्तते। कालिक परत्वापरत्वः नित्यद्रव्याणां धर्मो न भवति। यतोहि नित्यद्रव्येषु कालदृष्ट्या पूर्वत्वं परत्वञ्च न भवति। यथा परमाणुद्वये कालिकक्रमनिर्धारणं न संभवति। अपरञ्च देशिकपरत्वापरत्वं नित्यद्रव्याणामपि धर्मो भवितुमर्हति। नित्येषु कालिकयोगः।।

अतः स्पष्ट्यते यद् कालिकपरत्वापरत्वस्य जन्य सम्बन्धेन कालः दिग् द्रव्याद् पृथग् सद् स्वतन्त्रद्रव्यं वर्तते। द्वयोर्द्रव्ययोर्सत्ता भिन्ना अस्ति। कस्यापि कार्यस्य तात्कालिकोपादानं निमित्तं वा किमपि भवितुमर्हति किन्तु दिक्कालौ प्रत्येककार्यस्यान्तिमोऽधारौ वर्तेते। कस्यापि कार्यविशेषस्य व्याख्यानं दिक्कालयोः सन्दर्भे एव संभवति। अतः वैशेषिकदर्शने दिक्कालयोः द्रव्यत्वं भिन्न-भिन्नं वर्तते।

निष्कर्ष—वस्तुतः दिक्कालयोः सम्बन्धे वैशेषिकदर्शनस्य ख्यातिः वर्तते। तदनुसारेण दिक्कालयोः सत्ता अपि वस्तुगतसत्ता वर्तते। कालद्रव्यमेकं बाह्यानुभवनिरपेक्षतत्त्वमस्ति, तथैव दिगपि बाह्यानुभवनिरपेक्षद्रव्यमस्ति अर्थात् अनुभवाद् प्रागेव अनयोः सिद्धिः जायते। अस्मिन् दर्शने दिक्कालौ पृथिवीजलतेजवाय्वाकाशवद् मूर्त्तद्रव्यं न स्तः किन्तु मूर्त्तद्रव्यवदेव अनयोः पृथग्स्वतन्त्रसत्ता स्वीक्रियते। जागतिकवस्तूनां दृश्यमानप्रतीतिः देशिककालिकसम्बन्धाभ्यामेव भवति। कालः ह्रासविकासयोः निमित्तकारणमस्ति। दिशा अपि सर्वेषां कार्याणां प्रति निमित्तकारणं भवति। बाल वृद्धेषु यद् अवस्थाभेदः दृश्यते तद् स्पष्टतः कालजन्य एव। सूर्यपरिवर्तनं (तपनपरिस्पन्दनेनापि) ज्येष्ठकनिष्ठादिव्यवहारः कालजन्य

एव भवति। अपरञ्च दिग्द्रव्यं दूर-सामीप्यादीनां कारणं भवति। दैशिकपरत्वापरत्वज्ञानं निमित्तं भवति। यथा देहलीस्थस्य विश्वविद्यालयाद् मथुरामपेक्ष्य काश्मीरदेशो विप्रकृष्ट इति ज्ञानाद् काश्मीरदेशे परत्वं दैशिकसम्बन्धेन ज्ञायते। निरवयवि दिशा नित्या अस्ति। दिक्कलयोः प्रत्यक्षप्रमाणेन सिद्धिः न भवति। अनुमानेन एव तयोः प्रतीतिर्जायते। परत्वापरत्वयुगपच्चिरक्षिप्रादयः कालहेतवः सन्ति। उक्तञ्च वैशेषिकसूत्रे आचार्यकणादेन अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि। एवमेव पूर्वपरादिप्रत्ययलिङ्गा दिग् भवति। अतः वक्तुं शक्यते यत् जगतेदं कलिक-दैशिकसम्बन्धैः निर्मितमस्ति। अस्माकं दैनिकव्यवहारस्याधारः कालिक-दैशिकसंबन्धः एव वर्तते। सद्वस्तूनामस्तित्वं दिक्कालं विना न संभवति। दिक्कालो हि अस्य वैशेषिकदर्शनस्य व्यवहारिकवस्तुवादितायाः परिचायकोऽस्ति। यदि दिक्कालस्य वास्तविकसत्ता न मन्यते तर्हि जगतः सर्वाणि कार्याण्यपि वास्तविकाः व्यवहारिकाश्च न भवितुमर्हन्ति। अतः दिक्कालेन विना सद्वस्तवः अकल्पनीयः।

सन्दर्भ सूचीः

१. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्सनहेतवः।

२. महाभाष्य दृष्टान्तमणिप्रभा

३. निरुक्तम् २/७/२५

४. कालो ह सर्वस्येश्वरो...अथर्ववेद १९/५३/८

५. पाणिनी सूत्रम् ३/२/५९:

६. कृत्वैवमवधिं तस्मादिदं पूर्वं च पश्चिमम् ।
इति देशो निर्दिश्येत यया सा दिगिति स्मृता।। श०क०द्रुमः, भाग-२, पृ० ७०६

७. दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः।
प्राच्यावाची प्रतीच्यस्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमः।। अमरकोषः १/३/१ पृ० १२

८. वाचस्पत्यम् पंचमो भागः, पृ० ३५१८

९. पृथिव्यप्तेजोवाय्व्वाकाशः कालदिगात्ममनांसि नवैव।। तर्कसङग्रहः पृ० ११
क्षित्यप्तेजोमरुद्-व्योमःकालदिग्देहिनोमनः ।। कारिकावलिः १/३

१०. नित्येष्वभावादनित्येषु भावाकरणं कालाख्येति।। वै०सू० २/२/९।।

११. कालः परापरव्यतिकरयोगपद्यायोगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् । प्र० पा०भा०, पृ० ४१

१२. जन्यानां जगतः कालो जगतामाश्रयो मतः। (भाषापरिच्छेदः)।

१३. सर्वदर्शनसङग्रहः, औलुक्य-दर्शनम्, पृ० ३५७।

१४. तर्कसङग्रहः पृ० १५

१५. स०प० पृ० ६६

१६. सर्वमूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम् । पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि मूर्त्तानि।।

१७. ज्येष्ठे कालकृतं परत्वं, कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम् । तर्कसङग्रहः पृ० २७

१८. काललिङगाविशेषादेकत्वं सिद्धम् ।। प्र०पा०भा०, पृ० ४३
स चायमाकाशवत्सर्वत्रैकः कालः यथाकाशलिङ्गस्य शब्दस्य सर्वत्रविशेषाद्विशेषालिङ्गाभावाचैकः

आकाशः। न्या०म०, भाग १, पृ० १२६

१९. दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा। न्यायकन्दली।।

२०. त इतमिति यतस्तत दिश्यं लिङ्गम् ।। वै०सू० २.२.१०।।

२१. भाषापरिच्छेद, पृ० ४६।

२२. स०प० पृ० ६६

२३. न्यायमंजरी।।

२४. सर्वदर्शनसङ्ग्रहे, औलूक्य दर्शनम् , पृ० ३५५

२५. तर्कसङ्ग्रह, पृ० १५

२६. तासामेव देवतापरिग्रहात् पुनर्दशसञ्ज्ञा भवति। माहेन्द्रीवैश्वानरीयाम्यानैऋतिवारुणीवायव्याकौबेरी-ऐशानीब्राह्मीनागी चेति प्र०पा०भा०, पृ० ४७

२७. वै०सू० २/२/१०

सन्दर्भ ग्रन्थानां सूचीः

- अथर्ववेद, सातवलेकर, श्रीदामोदर, अथर्ववेदसंहिता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, चतुर्थ संस्करणम्
- अन्नम्भट्टः, तर्कसङ्ग्रहः ''पदकृत्यसमन्वितः' श्रीढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी, 1976;
- अन्नम्भट्टः, तर्कसङ्ग्रहदीपिका, सं. अथल्ये-बोडास, बाम्बेसंस्कृतसीरीज, भण्डारकर ओरियण्टलरिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1963;
- अमरसिंहः, अमरकोषः, भाषा टीका श्रीमन्नालाल अभिमन्यु, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 2012;
- कणाद, वैशेषिकसूत्रम्, स. नारायणमिश्रः, चौखम्बासंस्कृतसीरीज, वाराणसी, 1966;
- केशवमिश्रः, तर्कभाषा, सं. बदरीनाथशुक्लः, मोतीलालबनारसीदास, वाराणसी, 1968;
- जयन्तभट्टः न्यायमंजरी, सं. डॉ. किशोरनाथ झा, कामेश्वरसिंह, दरभङ्गासंस्कृतविश्वविद्यालयः, विहार 2001
- तारानाथतर्कवाचस्पति, वाचस्पत्यम्, नई दिल्ली, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, पुनर्मुद्रितम् 2002
- माधवाचार्यः, सर्वदर्शनसङ्ग्रहः, उमाशङ्करशर्मा 'ऋषिः', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2012
- महर्षिपाणिनिः, अष्टाध्यायी, व्याख्याकारः पं. ईश्वरचन्द्रः, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान, नव देहली, 2014
- विश्वनाथः, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, हरिरामशुक्लः, काशी संस्कृतसिरीज, वाराणसी, 1992;
- विश्वनाथः, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, धर्मेन्द्रनाथशास्त्री, हिन्दी व्याख्या, मोतीलालबनारसीदास, वाराणसी 1953;
- शब्दकल्पद्रुम, राजाकान्तदेवः, नई दिल्ली, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, पुनर्मुद्रितः 2000
- स्वामी ब्रह्ममुनिः परिव्राजको विद्यामार्तण्डः, निरुक्तसम्मर्शः (आचार्यशैल्यनुसारिविवेचनात्मकं निरुक्तभाष्यम्), दिल्ली संस्कृत अकादमी, नव देलही 2012-2013

सहायकग्रन्थाः

- उपाध्याय बलदेव, भारतीय धर्म एवं दर्शन, चौखम्बा औरियन्टालिया दिल्ली, 1997

- युगलकिशोरमिश्रः, निबन्धः 'वैदिकदृष्ट्या दिग्देशकालविमर्शः' 44 वर्षे मार्गशीर्ष-फाल्गुनपूर्णिमे, 3-4 अङ्कः।
- राममूर्तिशर्मा, भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा, चौखम्बा औरियन्टालिया, दिल्ली
- शशिप्रभाकुमार, वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपण, प्रकाशन विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-1992
- सरस्वती सुषमा, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयानुसन्धानपत्रिका, वाराणसी
- सिन्हा, हरेन्द्रप्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1992

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 20-25

शब्दार्थतर्कामृते न्यायवैशेषिकाभिमतद्रव्यपदार्थस्य खण्डनम् - एकमनुशीलनम्

डॉ. आशीष कुमारः*

दार्शनिकसम्प्रदायेषु वैयाकरणानां विशिष्टं स्थानं वर्तते। अस्यामेव वैयाकरणदर्शनपरम्परायां नागेशात् परं मौनिश्रीकृष्णभट्टो महान् वैयाकरणदार्शनिको बभूव। अनेनैव विदुषा शब्दार्थतर्कामृताख्यो ग्रन्थो विरचितः। शब्दार्थतर्कामृते मौनिश्रीकृष्णभट्टेन न्यायाभिमतान् प्रमाण-प्रमेयविषयकान्नैकान् सिद्धान्तान् विविच्य सयुक्तिकं खण्डनम् अकारि। प्रकृतशोधपत्रे द्रव्यविषयिणी एव चर्चा समुपस्थाप्यते।

व्याकरणदर्शने द्रव्यनिरुपणम् -

द्रव्यगुणकर्म इत्यादिषु प्रयुज्यमान् द्रव्यशब्दः गुणैर्द्रुयते आश्रीयते इति द्रु धातोः '**अचो यत्**' इति सूत्रेण यत् प्रत्यये कृते सिद्धयति। व्याकरणदर्शने पारमार्थिक - सांव्यवहारिकभेदेन द्रव्यं द्विविधम्। पारमार्थिकद्रव्यन्तु लौकिकद्रव्यमित्यर्थः सांव्यवहारिकञ्च व्याकरणशास्त्रे व्यवहारोपयोगिमात्रमिति बोद्धव्यम्।

पारमार्थिकं द्रव्यम् -

शाब्दिकानां मते गुणसमूहात्मकमेव द्रव्यम्। नहि द्रव्यं गुणादिभ्यो बहिर्भूतं दृश्यते। अतः वक्तुं शक्यते यत् अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्, नहि शब्दादिभ्योऽन्यदुपलभ्यते, यत् द्रव्यशब्दवाच्यं भवति। यथा पाटलपुष्पे गन्धः अनुभूयते, रक्तरूपम्, मृदुः स्पर्शः, चर्वणे क्रियमाणे च ईषत्काषायः रसः अनुभूयते, अङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यामाघाते सति पुष्पे ततश्चटचटात्मको ध्वनिरूपः शब्दः श्रूयते। अतः गुणसमूहात्मकमेव द्रव्यमिति सिद्धयति। यथाह महर्षिः पतञ्जलिः- "अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्, न हि शब्दादिभ्योऽन्यदुपलभ्यते। पशोः खल्वपि विशसितस्य पर्णशते न्यस्तस्य नान्यच्छब्दादिभ्य उपलभ्यते'।[1] अपि च "द्रव्ये च भवतः कः सम्प्रत्ययः? गुण समुदायो द्रव्यम्"[2] इति।

सांव्यवहारिकद्रव्यम् -

सांव्यवहारिकद्रव्यमिति पदेन शब्दशास्त्रोपयोगि द्रव्यं गृह्यते। तच्च लिङ्गसंख्याकारकान्वितमिति शाब्दिकैः उच्यते-लिङ्गसंख्याकारकान्वितं हि द्रव्यं भवति अर्थात् यत् लिङ्गसंख्यान्वययोग्यं भवति तद् द्रव्यमिति। यथा 'घट' इति उच्चारिते एकत्वस्य पुल्लिङ्गस्य च बोधः भवन्ति। अतः घटः द्रव्यं लिङ्गसंख्याऽन्वययोग्यत्वात्। तथैव पाकः पाकौ पाकाः इत्यत्र क्रियावाचकपदेष्वपि लिङ्गसंख्यान्वयबोधात् द्रव्यत्वं सिद्धयति।

यथा खपुष्पमित्यत्र एकत्वसंख्याया अपि च नपुंसकलिङ्गस्य बोधः भवति अतः खपुष्पं द्रव्यम्।

---

* सहायकाचार्यः (संविदा) राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः), श्रीरणवीरपरिसरः, जम्मू

वाक्यपदीयकारेण भर्तृहारिणा तु द्रव्यलक्षणमित्थं प्रोक्तम्–

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनामप्रयुज्यते।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितम्।।[3]

अभिधीयते येन तदुपलक्षणम्। वस्तुसामान्यस्य कृते यदा इदं तद् इति सर्वनाम प्रयुज्यते तदा सोऽर्थः द्रव्यमित्युच्यते। अयं भावः – सर्वनाम्ना यत् परामृश्यते तद् द्रव्यं भवति। अनेन लक्षणेन गुणक्रियासामान्यान्यपि द्रव्याण्येव सिद्धयन्ति। यतोहि अस्येदं रूपं मधुरोऽयं रसः, चैत्रस्य इयं गतिक्रिया, गोरिदं गोत्त्वमित्यादयः सर्वनाम्ना परामृश्यन्ते अतः इमानि द्रव्यामि इति उच्यन्ते। प्रदीपकारेण अपि उक्तं वर्तते – ''**यत्किञ्चिदिदं तदिति सर्वनाम्नापरामर्शयोग्यं वस्तु तद् द्रव्यत्वेन विवक्षितम्। तेन जातिगुणक्रिया अपि गृह्यन्ते।**''[4] भेद्यत्वेन अर्थाद् विशेष्यत्वेन अथवा व्यावर्तकरूपेण यद् विवक्षितं भवति तद् द्रव्यमित्यपिभर्तृहरिणा कारिकायामुक्तम्। इदं च लक्षणं न वस्तुभूतस्य बहिःस्थस्य द्रव्यरूपस्यार्थस्य, अपितु जात्यादिरपि यदि विशेष्यत्वेन विवक्षितः तदा सोऽपि द्रव्यमित्यर्थः। सामान्येन जातिः भेदकधर्मरूपेण स्वीक्रियते यथा गोत्वं नाम एकं धर्म यदन्येन गवयशब्दवाच्येन अर्थेन गोव्यक्तिं पृथक्करोति। परन्तु यदा एतत् विशेष्यरूपेण विवक्षितं भवति तदा द्रव्यं भविष्यति। यथा '**नीलं गगनम्**' इत्यत्र नीलं नाम विशेषणम्, परन्तु यदा '**गगनस्य नीलवर्णः समुद्रस्य नीलवर्णात् भिन्न**' इत्युच्यते तदा नीलः विशेष्यत्वेन उक्तं भवति। अतः इदानीं नीलं द्रव्यम् अस्ति इति। एवञ्च सिद्धयति यत् इदं तत् इति परामर्शयोग्यं भवति तद् द्रव्यम् अथवा यत् भेद्यत्वेन विशेष्यत्वेन विवक्षितं भवति तद् द्रव्यम् इति वैयाकरणाः।

शब्दार्थतर्कामृते द्रव्यनिरूपणम् –

महाभाष्ये द्रव्यं द्विविधं परिभाषितम् वस्तुजगत्–दृष्टया व्याकरणशास्त्रीयदृष्टया च। वस्तुजगत्– दृष्टया महाभाष्ये '**गुणसमुदायो द्रव्यम्**' तथा च 'लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यम्' इत्यपि पारिभाषिकं व्याकरणशास्त्रीयं द्रव्यलक्षणमपि स्वीकृतम्। वैयाकरणदार्शनिकेन भर्तृहरिणा उक्तम् –

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनामप्रयुज्यते।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितम्।।[5]

इति द्रव्यलक्षणं स्वीकृतम्।

मौनिश्रीकृष्णभट्टः वैयाकरणाभिमतं पारिभाषिकं द्रव्यलक्षणं स्वीकृत्य न्यायवैशेषिकोक्तद्रव्यलक्षणस्य खण्डनं विदधाति। तन्मते '**क्रियागुणवत्समवायिकारणं द्रव्यमिति**' तार्किकोक्तद्रव्यलक्षणे स्वीकृते '**चं पठ**' इत्यादि स्थलेषु 'च' इति द्रव्यं न सिद्धयति, न्याय-वैशेषिकोक्तद्रव्यलक्षणस्यात्रासम्भवात्। द्रव्यत्वाभावे '**चादयोऽसत्त्वे**'[6] इति सूत्रेण 'च' इत्यस्य निपातसञ्ज्ञायां सुब्लुकि 'चम्' इति द्वितीयान्तं रूपं नैव स्यात्। तथा चोक्तं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन – ''किञ्च चं पठेत्यादौ चकारस्याद्रव्यत्वाच्च 'चादयोऽसत्त्वे' इति निपातत्वेऽव्ययत्वात् सुब्लुकि प्रयोगो न स्यात्।''[7] न चात्र पारिभाषिकद्रव्यत्वं स्यात्, तथा स्वीकारे तार्किकोक्तपारिभाषिकद्रव्यत्वस्य का आवश्यकता। अत एवोक्तं श्रीमौनिश्रीकृष्णभट्टेन 'न च तत्र पारिभाषिकं द्रव्यत्वमिति चेत्तर्हि तदेवास्तु। मास्तु भवत्परिभाषितं, प्रयोजनाभावात्।'[8] ननु द्रव्येष्वेव संयोगो भवतीति निरूपयितुं तार्किकोक्तद्रव्यपरिभाषा समीचीना इति चेन्न,

गुणाश्रयोरपि संयोगः भवतीत्यपि वक्तुं शक्यते। तथा चाह मौनिश्रीकृष्णभट्टः – 'न च द्रव्ययोरेव संयोग इति प्रयोजनं, गुणाश्रयोरेवेत्यनेनापि निर्वाहे तस्य व्यर्थत्वात्।'[9] एवञ्च शब्दार्थतर्कामृतकारेण न्यायवैशेषिकाभिमतद्रव्यलक्षणस्य व्यर्थत्वं प्रदर्श्य व्याकरणशास्त्रप्रतिपादितं द्रव्यलक्षणमेव समर्थितम्। अत उक्तं –

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितम्।।

इति भाष्योक्तं 'लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यम्' इति वा द्रव्यलक्षणमित्येव तत्त्वम्।'।।[10]

शब्दार्थतर्कामृते मौनिश्रीकृष्णभट्टेन द्रव्यत्वजातेरपि खण्डनम् अकारि। तन्मते यथा सुखजनककार्यं प्रति धर्मस्य दुखजनककार्यं प्रत्यधर्मस्य कारणताया आवश्यकत्वादपि तार्किकैः कार्यसामान्यं प्रति अदृष्टस्य कारणत्वम् अस्वीकृत्य, नादृष्टत्वं जातिरिति उच्यते, तथैव गन्धादिकार्यं प्रति पृथिव्यादेः कारणतया सत्त्वेऽपि कार्यसामान्यं प्रति द्रव्यत्वेन द्रव्यस्य कारणता नास्ति इति प्रतिपादयता मौनिश्रीकृष्णभट्टेनोक्तम् – **''शाब्दिकास्तु सुखजनककार्यं प्रति धर्मस्य दुःखजनककार्यं प्रति अधर्मस्य कारणत्वावश्यकतया यथा कार्य सामान्यं प्रति द्रव्यत्वेन कारणत्वे मानाभावात्, द्रव्यत्वजातेरपि असिद्धयापतेः।''**[11]

शब्दार्थतर्कामृतानुसारं द्रव्याद्रव्यभेदेन पदार्थःद्विविधः।[12] वस्तुद्रव्यावस्तुद्रव्यभेदेन द्रव्यस्य द्वैविध्यं भवति। नित्यानित्यभेदेन च वस्तुद्रव्यमपि द्विविधम्। नित्यद्रव्यमात्मा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशञ्चा–नित्यद्रव्यम्। तथा चोक्तं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन–''तत्र वस्तुपदार्थो द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। नित्य आत्मा तद्भिन्नपृथिव्यादनित्य इति''[13] एवञ्च मौनिश्रीकृष्णभट्टमते पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मेति भेदेन षड्द्रव्याणि। मौनिश्रीकृष्णभट्टेन पृथिव्यप्तेजोवायूनां नित्यस्वरूपस्य खण्डनमपि क्रियते। तथा चोक्तं तेन– 'तार्किकास्तु पृथिव्यप्तेजोवायूनामनित्यत्वं नित्यत्वञ्च, आकाशकालदिगात्ममनसां नित्यत्वमाहुः। तदसत् वेदविरुद्धत्वात्। एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इत्युत्पत्ति श्रवणात्। न चासत्कार्यवादे सम्भूत इत्यस्याविर्भूत इत्यर्थः वाय्वादीनामपि तथापत्तेः।''[14] मौनिश्रीकृष्णभट्टेन दिक्कालमनसां पृथक्द्रव्यत्वं न स्वीकृतम्–''कालादिग्मनसां नातिरिक्तद्रव्यत्वम्।''[15]

रघुनाथशिरोमणेः 'दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते'[16] इति सिद्धान्तः मौनिश्रीकृष्णभट्टेन खण्डितः। उक्तं च तेन ''दिक्कालयोरचेतनत्वेन चेतनेश्वर–तादात्म्याभावात्। अन्यथा सर्वस्यैवेश्वरतादात्म्यापत्तेः।[17] नित्यमाकाशमिति तार्किकाः। अत्र मौनिश्रीकृष्णभट्टानुसारम् आकाशस्य नित्यत्वं श्रुतिविरुद्धत्वात् नाङ्गीकार्यम्–''आकाशनित्यत्वे च न मानम्। 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इति श्रुत्या तस्यानित्यत्वबोधनाच्च''।[18] अस्मिन् श्रुतिवाक्ये 'सम्भूत' इति पदस्यार्थः 'आविर्भूत' इति कृत्वा आकाशस्य नित्यत्वं श्रुत्यनुमोदितमिति साधयितुमिच्छन्ति चेत् पृथिव्यादीनामपि नित्यत्वापत्तिः आपतति–''न च सम्भूत इत्यस्याविर्भूत इत्यर्थकतया कृतकत्वमेवासिद्धमिति वाच्यम्, पृथिव्यादीनां शब्दस्य च नित्यतापत्तेः।''[19]

तार्किकमते ''आत्मत्वाभिसम्बन्धात् आत्मा''[20] इति स्वीक्रियते। आत्मत्वं नाम आत्मत्वजातिः। तदभिसम्बन्धात् आत्मा इति व्यवहारः भवति। अथवा ''ज्ञानाधिकरणात्मा''[21] इति आत्मनः लक्षणम्। सुखदुःखादिगुणाः सन्ति, एते च कुत्रचिद् द्रव्ये आश्रिताः, गुणत्वात् रूपादिवत्। न च सुखदुःखादिगुणाः पृथिव्यादिद्रव्यमाश्रयन्ति, तत्रैतेषाम् अननुभवात्। शरीरावच्छिन्नात्मन्येव सुखादयो गुणाः अनुभूयन्ते। अत एव

ज्ञानाधिकरणमात्मेति कथ्यते। यश्चात्मा द्विविधः जीवात्मापरमात्माभेदात्। तत्र जीवात्मा प्रति शरीरावच्छेदेन नानाविधः, स च विभुर्नित्यश्चास्ति। परमात्मा तु एक एव, सर्वप्राणिषु अन्तर्यामिरूपेण तिष्ठति।

मौनिश्रीकृष्णभट्टमते आत्मत्वं न जातिः। जातिलक्षणं नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वमिति वर्तते। आत्मत्वं तु एकस्मिन्नेव अर्थात् आत्मनि एव भवति। अतः आत्मत्वं न जातिः एकव्यक्तिवृत्तित्वात्। यत्तु तार्किकाः वदन्ति उपाधिभेदात् आत्मनः भेदः सम्भवति तन्नोचितं यतोहि तार्किकाः 'घटाकाशः, मठाकाशः' इति उपाधिभेदं मत्वा आकाशत्वजातेः कल्पनां नैव कुर्वन्ति, तथैव अत्रापि उपाधिभेदात् जातिसिद्धिः न करणीया। तथा चोक्तं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन–"अत्र केचित् आत्मत्वं न जातिरेकव्यक्तिवृत्तित्वात्। न चोपाधिभेदवद् भिन्नत्वं, तादृशस्य जात्यनियामकत्वाद्। अन्यथा आकाशत्वमपि जातिः स्यात्। तत्रापि घटाकाशमठाकाशजलाकाशेत्यादिभेदस्य सत्त्वात्"।[22] अपि च तार्किकाः आत्मनो विषये वदन्ति– "स द्विविधः परमात्मा जीवात्मा च। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवः प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च'।[23] अत्रापि मौनिश्रीकृष्णभट्टेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शिता– एकमेवाद्वितीयमिति श्रुत्वा आत्मनः एकत्वं प्रतिपादितम्। मायाविद्यादुपाधिभेदात् जीवेश्वरभेदः प्रतीयते। भेदस्य पारमार्थिकत्वं न कल्प्यम् अन्यथा तत्त्वसीत्यादि अभेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधः स्यात्। अत्र 'तत्त्वम्' इति पदे 'तस्य त्वम्' इति भेदप्रतीतिरेवावगम्यते इति चेत्, न अहं ब्रह्मास्मीति विद्वदनुभवविरोधात् तथा चोक्तं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन– "एकत्वे मानन्तु एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुतिः। ननु कथं तर्हि जीवेश्वरभेदाः प्रतीयन्त इति चेत्, मायाविद्यादुपाधिभेदात्। भेदस्य पारमार्थिकत्वे तु तत्त्वमस्यादिश्रुतिरभेदार्थिकेति विरुद्ध्येत्। न च तस्य त्वमिति षष्ठीसमासेन भेद एव प्रतीयत इति चेत्, अहं ब्रह्मास्मीति विद्वदनुभवविरोधात्"[24] वस्तुतस्तु मूलप्रकृतेः द्वौ भेदौ रजस्तमोऽनभिभूत– सत्त्वप्रधाना माया, तदभिभूतमलिनसत्त्वप्रधाना त्वविद्या इति तयोर्भेदं परिकल्प्य मायाप्रतिबिम्ब ईश्वरः अविद्याप्रतिबिम्बो जीवः। एवञ्च जीवेश्वरयोः प्रतिबिम्बत्वं शुद्धचित्तो बिम्बत्वमिति।

न्यायवैशेषिकमते मनः अतिरिक्तं द्रव्यं स्वीक्रियते। 'मनस्त्वयोगान्मनः'[25] इति मनसः लक्षणम्। मनस्त्वं नाम सामान्यं मनोव्यक्तीनां भेदे स्थिते सति अनुमेयम्। मौनिश्रीकृष्णभट्टमते तु मनः नातिरिक्तं द्रव्यम्, प्रमाणाभावात्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेति पञ्चभूतानां सात्त्विकांशैः उत्पन्नमिन्द्रियमेव मनः इत्युच्यते। यथा श्रोत्रत्वङ्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि बाह्येन्द्रियाणि पाञ्चभौतिकानि तथैव मनः अपि। अन्तरञ्चैतावदेवश्रोत्रादिबाह्येन्द्रियाणि पृथक् पृथक् तत्त्वैः जायन्ते, मनश्च पञ्चानां भूतानां सात्त्विकांशैरुत्पद्यते। अतः मनसः पृथक् द्रव्यत्वं नैवोचितम्। तथा चोक्तं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन– "शाब्दिकास्तु मनो नातिरिक्तं द्रव्यं मानाभावात्, किन्तु पृथिव्यादीनां सात्त्विकांशैरुत्पन्नमिन्द्रियम्। यथा बाह्येन्द्रियाणि पाञ्चभौतिकानि तथेदमपि। एतावान् परं विशेषः तानि प्रत्येकं पृथिव्यादयंशैरिदन्तु सर्वैर्यथा चित्ररूपम्।"[26]

मौनिश्रीकृष्णभट्टेन तार्किकाभिमतसुवर्णस्य तैजसत्त्वं हीरकस्य च पार्थिवत्वं पूर्वपक्षरूपेणुपस्थाप्य खण्डनमकारि। सुवर्णस्य तैजसत्त्वसिद्धये न्यायवैशेषिकाभिमतानुमानवाक्यप्रयोगः इत्थमुपस्थाप्यते मौनिश्रीकृष्णभट्टेन–"सुवर्णं तैजसमत्यन्तानलसंयोगे सति अनुच्छिद्यमानद्रवत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घृतादिः"।[27] सुवर्णं तैजसं चेत्तर्हि उष्णस्पर्शवान् कथं न भवति इति प्रश्नस्य न्यायानुसारं समाधानं प्रस्तौति मौनिश्रीकृष्णभट्टः। तथा हि सुवर्णस्य पार्थिवांशैरभिभूतत्वात् उष्णस्पर्शप्रतीतिर्न भवति।

प्रकृतविषयमधिकृत्य मौनिश्रीकृष्णभट्टमते सुवर्णस्य पार्थिवत्वम् हीरकस्य च तैजसत्वं मन्यते। तथा चोक्तं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन–''शाब्दिकास्तु सुवर्ण पार्थिवं हीरकस्तैजस इत्याहुः''।[28] सुवर्णस्य पार्थिवद्रव्यत्वपक्षे अनुमानवाक्यमित्थं प्रदत्तम्–''सुवर्णं पार्थिवं पीतरूपाश्रयत्वात्, कठिनस्पर्शवत्वात् गुरुत्ववत्वाच्च हरिद्रावत्। नैमित्रिकद्रवत्वात् घृतवद् वा''।[29] सुवर्णस्य पार्थिवत्ये स्वीकृते, गन्धोपलब्धिः किमर्थं न इति चेत्, उच्यते मौनिश्रीकृष्णभट्टेन– ''गन्धस्तु अभिभूतत्वान्नोपलभ्यते'।[30]

मौनिश्रीकृष्णभट्टः हीरकस्य तैजसत्वसिद्धये चानुमानवाक्यमित्थं प्रदर्शयति– ''हिरकास्तैजसाः कठिनत्वे सत्यलौहलेख्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवी।'' यद्वा शुक्लभास्वररूपवत्त्वात् यथा आदित्यादिः।[31] हिरके काठिन्यं लभ्यते, तेजसि च काठिन्यं नैवोपलभ्यते, तर्हि कथं हिरकास्तैजसा इति वक्तुं पार्यते, इति चेत् न, यथा तार्किकमते तेजसि नैमित्तिकद्रवत्वमप्रसिद्धम् तथापि सुवर्णं तैजसमिति स्वीक्रियते, तथैव हीरके काठिन्यलाभेऽपि तैजसत्वं स्यादेव। हिरके अन्वयदृष्टान्तसत्त्वात् तैजसत्वसाधकानुमानप्राबल्यं सुवर्णस्य तैजसत्वसाधकानुमाने तु केवलव्यतिरेक्यनुमानं वर्तते। तथा चोक्तं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन– ''ननु तेजसि कठिनत्वमप्रसिद्धं, तव मते तेजस्यापि नैमित्तिकद्रवत्वस्याप्रसिद्धत्वेनोभयोस्तुल्यत्वात्। यथा तव मते सुवर्णरूपे तेजसि नैमित्तिकद्रवत्वं तथा मन्मते हीरकरूपतेजसि कठिनत्वं प्रसिद्धम्। इत्युभयोस्तुल्यत्वेन सुवर्णे तैजसत्वं हीरके नेत्यत्र मानाभावः हीरकेऽन्वयदृष्टान्तसत्त्वेन सुवर्णे केवलव्यतिरेक्यनुमानापेक्षया हीरके तैजसत्वानुमानस्य प्राबल्याच्च''।[32]

वस्तुतः मौनिश्रीकृष्णभट्टेन द्रव्यविषये कृतं तार्किकमतखण्डनं युक्तियुक्तं नैव प्रतिभाति। यतोहि तार्किकैः द्रव्यविषये यन्मतं सिद्धान्तितं तद् वस्तुजगतः पदार्थदृष्टया स्थपितं वर्तते। मौनिश्रीकृष्णभट्टेन वैयाकरणाभिमतं पारिभाषिकं द्रव्यं स्वीकृतं यच्च वैयाकरणैः सांव्यावहारिकं द्रव्यमित्युच्यते। तेनैव लक्षणेन तार्किकाणां वस्तुभूतस्य द्रव्यलक्षणस्य खण्डनं विहितं तच्च युक्तियुक्तं नैवास्ति। नहि वस्तुजगतः पदार्थानां व्याख्यानं व्याकरणशास्त्रस्य पारिभाषिकपदावल्या कर्तुं युक्तम् इति निष्कर्षः।

सन्दर्भ-सूचीः

1. महाभाष्यम्, 5.1.119
2. महाभाष्यम्, 4.1.03
3. वाक्यपदीयम्, काण्ड–3, भूयोद्रव्यसमुद्देश, कारिका–3
4. महाभाष्यप्रदीप 5.3.54
5. वाक्यपदीयम्, काण्ड–3 भूयोद्रव्यसमुद्देश, कारिका–3
6. अष्टाध्यायी – 1.4.57
7. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 14
8. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 14
9. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 14
10. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 14
11. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 13
12. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 14
13. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 47

14. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 47
15. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 47
16. पदार्थतत्त्वनिरूपणम्, पृ. 4
17. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 15
18. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 15
19. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 15
20. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. 167
21. तर्कसंग्रहः, पृ. 39
22. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 17
23. तर्कसंग्रहः, पृ. 39
24. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 17
25. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. 216
26. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 22
27. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 23
28. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 23
29. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 23
30. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 23
31. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 24
32. शब्दार्थतर्कामृतम्, पृ. 24-25

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 26-32

होराशास्त्रे (बृहज्जातके) देवताचिन्तनम्

रमानन्द भट्टः एन्*

।।श्रीगुरुभ्यो नमः।।

।।ज्ञानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्। मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।
।।मोहान्धकारमग्नानां जनानां ज्ञानरश्मिभिः। कृतमुद्धृणं येन तं नौमि शिवभास्करम्।।
।।सत्यज्ञानपरब्रह्मज्योतिरानन्दरूपिणीम्। नमामि सर्वोत्तरादात्तप्रश्नमालां सरस्वतीम्।।

''**स्वल्पं वृत्तविचित्रमर्थबहुलं शास्त्रप्लवं प्रारभे**''[1] इति प्रतिज्ञा वराहस्य। इयमेव समादृत्य बृहज्जातकम् इदं बह्वर्थकं शास्त्रम् इति परिगणय्य बहवः बुद्धिवृद्धाः हौरिकाः विशेषतया अर्थप्रकाशकानि नाना व्याख्यानानि रचयामासुः। तत्रप्रोक्तक्रमेण कल्पिताः, किन्तु तेषु अनुक्ताः सम्प्रदायप्राप्ताः अर्थाः अपि बहवः सन्ति, येषाम् उपयोगः प्रश्नजातकादिषु बहुधा क्रियमाणः अद्यापि लोके दृश्यते। तेषां स्थूलदर्शनम् अत्र कार्यते। ''**लोकात् शास्त्रमुखात् तथा गुरुमुखात्**'' इति न्यायवशाद् अत्र यन्निरूपितं तत्सर्वं मद्गुरूणां प्रसाद एव। (क्वचिच्च अत्र मया अपि अर्थाः कल्पिताः इति। तथा अत्र निरूपणे अयं क्रमः— बृहज्जातकोत्तशब्दैः देवताचिन्तनम् उपरि निरूप्यते, तत्र प्रमाणभूतानि इतरज्यौतिषग्रन्थवचनानि वा मन्त्रशास्त्रवचनानि वा इतरप्रमाणानि टिप्पाण्यां दीयन्ते इति वाचकेषु निवेद्यते।)

प्राथम्येन वराहेण साक्षादुच्यते — वह्न्यम्ब्वग्रिजकेशवेन्द्रशचिकाः सूर्यादिनाथाः[2] इति। अत्र रविणा अग्निः, चन्द्रेण वरुणः, कुजेन अग्निजो गुहः, बुधेन विष्णुः, गुरुणा इन्द्रः , शुक्रेण इन्द्राणी, शनिना कस्य नाम ब्रह्मा च चिन्तनीया इत्युक्तम्। तथैव **शिखिभूखपयोमरुधणानां वशिनो भूमिसुतादयः क्रमेण**[3] इत्यनेनापि क्रमेण कुजादिभिः अग्नेः, भुवः, अकाशस्य, जलस्य, वायोश्च चिन्तनं करणीयम् इति निरूपितम्।

1. गणपति-

गणपतिचिन्तनं तु मेषराशिशीलेन **क्षिप्रप्रसादः**[4] इत्यनेनशक्यते[5]। एवमेव मेषद्रेक्काणेषु – रौद्रं परशुं समुद्यतम्[6] इत्यत्र, अत्रैव पाठान्तरे **रौद्रः**[7] इत्यनेन, रक्ताम्बरा, **रक्तानि वस्त्राणि बिभर्ति** इत्येतैः परशुधारी, रक्तवासाश्चगणपतिरेव इति चिन्त्यम्[8]। द्रेक्काणाध्याये वृषभान्त्ये द्विपसमकायः[9] इति, कन्यामध्येनपुरुषः प्रगृहीतलेखनिः इत्येताभ्यां, अत्रैव **लेखनः**[10] इति पाठान्तरे तेनापि, तथा धनुषिस्थितस्य शुक्रस्य **गणैः पूज्यः**[11] इत्यनेन फलेन च धनुषि स्थिते शुक्रे गणपतिः चिन्त्यः। तथैव **भूगणपः**[12] इत्यनेनापि बुधशुक्रयुतिफलेन शुक्रबुधसम्बन्धे सतिशुक्रेण (शुक्रः प्रधानम् अस्मिन् चिन्तने इत्यर्थः) गणपतिः चिन्त्यः। अनफायोगदेन वा सुनफायोगकर्त्रा शनिनातत्प्रोक्तात् **गणेशः**[13] इति फलात् गणपतिः

---

* शोधच्छात्रः राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, राजीवगाँधीपरिसरः, मेणसे शृङ्गेरी, कर्नाटकः

चिन्त्यः इति भावयामि। अनेन गणपतिचिन्तनं युज्यते इति मम अभिप्रायः।

2. दुर्गा :

दुर्गारण्यपथालया सिंहे[14] इत्यनेन उक्तेन दशादिस्थितचन्द्रफलेन सिंहस्थे चन्द्रमसि, कर्कमध्ये **अरण्यगता** इत्यनेन च वनदुर्गाचिन्तनं[15] कर्तव्यम्। तत्रैव **सितर्क्षेन्नदा इत्यनेन** चन्द्रेण शुक्रक्षेत्रस्थेन अन्नपूर्णाचिन्तनं करणीयम्। शुक्रे सिंहस्थे **प्रवरयुवतिः**[16] इति फलम्। तेन प्रवरा च सा युवतिश्च इत्यर्थं स्वीकृत्य दुर्गा वा तद्भेदं श्रीरूपादिकं चिन्त्यम्। कुजर्क्षे शुक्रे कुजशुक्रयुतेश्च **परयुवतिरतः**[17,18] इति फलम्। अत्रापि परा च सा युवतिश्च, तस्यां रतः इत्यर्थं स्वीकृत्य पूर्वोक्तचिन्तनमेव क्रियते। कन्याराशेः अन्त्यद्रेक्काणेन गौरीचिन्तनम् अन्नपूर्णाचिन्तनं च क्रमात् **गौरी, कटच्छुहस्ता**[19] इत्याभ्याम् लक्षणाभ्याम्। अत्र गौरी नाम कन्या[20] इत्यतः कन्याकुमारी अपि ग्राह्या। कन्याराशेः आद्यद्रेक्काणस्थेन कन्यापदेनकन्याकुमारी, कन्यकापरमेश्वरी वा चिन्त्या। तत्रैव **गुरोः कुलं वाञ्छति** इत्यतः रेणुकापरमेश्वरी चिन्त्या। धनुषः मध्यद्रेक्काणे भद्रासने तिष्ठति इत्यतः त्रिपुरसुन्दरीचिन्तनम् (ललित) इति तद्विदां मतम्। तत्रैव **चम्पकहेमवर्णा** इत्यनेन, चापान्त्ये **हाटकचम्पकाभः**[21] इति, मीनमध्ये **वर्णेन चम्पकमुषा** इत्यपि लक्ष्मीः (वा रत्नाम्बिका) चिन्त्या[22]। मीनान्त्येनापि **कूलं प्रयाति**..... इत्यादिना लक्ष्मीः, जलदुर्गा च चिन्त्या। मकरमध्ये कलास्वभिज्ञा इति सरस्वती, पुनः तत्रैव श्यामा, कुम्भान्ते च श्यामः इत्येताभ्यां श्यामलादेवी, शूलिनी दुर्गापि[23] चिन्त्या। मेषान्त्ये चण्डः इत्यनेन स्त्रीत्वम् अपेक्ष्यचण्डिकाचिन्तनं क्रियते। कर्कमध्ये पद्मार्चिता, कन्यान्ते **देवालयं स्त्री प्रयता प्रवृत्ता** इति पद्मावती, **मूर्धनि भोगियुक्ता** इति महाकाली अपि चिन्त्या। मेषमध्येन **वाजिमुखी** इति अश्वारूढा पार्वती चिन्त्या।

3. शिवः-

वृश्चिकस्थे रवौ[24] उक्तेन **साहसिको विषार्जितधनः शास्त्रान्तगः**[25] इत्यनेन फलेन शिवः चिन्त्यः। सिंहस्य अन्त्यद्रेक्काणे **कूर्ची मनुष्यः कुटिलैश्च केशैः**[26] इति, धनुषः अन्त्यद्रेक्काणे च कूर्ची इत्येताभ्याम् अपि शिवः चिन्त्यः। वृषभस्य अन्त्यद्रेक्काणेन शरभसमाङ्घ्रिः, कर्कादौ च शरभाङ्घ्रिः इत्येताभ्यां शरभेश्वरो विचिन्त्यः। कर्कटस्य अन्त्यद्रेक्काणेन **सर्पवेष्टितः** इत्यनेन तथा **शशाङ्के पापलग्ने.....**[27] इत्यनेनापि रुद्रः वा कालकण्ठः चिन्त्यः। तुलान्त्येविभीषयन् तिष्ठति वने मृगान्काञ्चनतूणवर्मभृद् इत्यनेन किरातेश्वरो विचिन्त्यः। तत्किरातरूपं किरातार्जुनीयादिषु प्रसिद्धम्।

4. विष्णुः-

मिथुने कन्यायां च लग्ने वा चन्द्रमसि उक्तेन **स्त्रीलोलः.... दूतः...**[28], **परगृहैः संयुज्यते**[29] इत्यनेन बुधस्य मेषवृश्चिकयोः राशिफलेन द्यूतान्नपान....चोर...[30] इत्यादिलक्षणेन, वृषतुलयोः बुधफलेन **आचार्यभूरि....गुरुभक्तियुतश्च**[31] इत्यनेन, बुधस्य कर्कटराशिफलेन **स्वजनस्य शत्रुः**[32] इत्यनेन, **सिंहस्थे रवौ वनशैलगोकुलरतिः**[33] इति, **गीतप्रियो नृत्यवित्**[34] इति बुधगुरुयुतिफलेन गुरुणा वा बुधेन, कुम्भमध्यद्रेक्काणेन दग्धे शकटे इत्यनेन[35], कृष्णः इति मेषाद्यद्रेक्काणफलेन, वृश्चिकराशिशीलेन शैशवे **जनकगुरुवियुक्तः**[36] इत्यनेन च कृष्णः चिन्त्यः। स च क्वचिद् वेणुधरः, मुरलीगानलोलः, कालीयमर्दनः वा शकटासुरभञ्जनः इत्यादिकं इतरलक्षणेन उक्तेन च विचिन्त्य वाच्यम्। द्रेक्काणाध्यायोक्तैः फलैः मिथुनमध्ये **धनुष्मान्** इति, कन्यामध्ये **विपुलञ्च बिभर्ति कार्मुकम्** इति,

धनुरादौ धनुर्विगृह्य इति, मिथुनावसाने सधनुष्कः इति, तुलान्ते धनुर्धरः इत्येतैः श्रीरामचिन्तनं युज्यते। मेषादौ रौद्रं परशुं इत्यनेन परशुरामः चिन्त्यः। मेषमध्ये वाजिमुखी इति, सिंहमध्ये हयाकृतिः इति, धनुरादौ **अश्वसमानकायः** इति, मकरान्त्ये किन्नरोपमतनुः इति तुलान्ते किन्नररूपभृन्नरः इत्येतैः हयग्रीवः चिन्त्यः[37]।

कर्काद्यद्रेक्काणे उक्तेन **क्रोडतुल्यवदनः** इत्यनेन, मकरादौ **सूकरकायसमानशरीरः** इत्यनेन, बुधशुक्रयुतिफलेनभूगणपः[38] इत्यनेनापि बुधेन वराहः चिन्त्यः। सिंहराशेः मध्यद्रेक्काणे सिंहः इत्यनेन, वृश्चिकान्ते **मृगपतिः** इत्यनेन, कुजे सिंहे **वनचरः**[39] इत्यनेन, रविलग्नफलेन **शूरस्तब्धः**[40] इत्यनेन, सिंहे राशौ च उदिते नृसिंहः चिन्त्यः। कुम्भान्त्ये **त्वक्पत्रनिर्यासफलैः बिभर्ति** इत्यनेन, रवौ धनुषि उक्तेन **भिषक्**[41] इति फलेन च **धन्वन्तरिः** चिन्त्यः। सिंहमध्येन बिभर्ति कृष्णाजिनकम्बलं नरः इत्यनेन वामनः चिन्त्यः। तुलाद्यद्रेक्काणेन भाण्डं विचिन्तयति कस्य विपण्यमेतद् इत्यादिना पाण्डुरङ्गस्य चिन्तनं, तुलामध्येन **मनसैति तुलाधरमध्यगतः** इति श्रीनिवासस्य चिन्तनमपि क्रियते। मीनराशौ उदिते मीनावतारी विष्णुः चिन्त्यः। मकरान्त्ये **तूणचापकवचैः समन्वितः** इत्यनेन कल्किः चिन्त्यः। कच्छपकुम्भसमानशरीरा इति वृश्चिकमध्ये, अल्यन्ते च **कूर्मतुल्यवक्त्रः** इति कूर्ममूर्तिः चिन्त्यः। मीनादौ **स्रुग्भाण्डमुक्तामणिशङ्खहस्तव्याक्षिप्तहस्तः** इत्यनेन शङ्खपाणिः चिन्त्यः।

5. क्षेत्रपालः-

शनौ बुधक्षेत्रे सति रक्षापतिर्भवति[42] बौधे इति फलम्। अनेन क्षेत्रपालः चिन्त्यः। अनेन रक्षकमन्त्रोपि अत्र विचिन्त्यः।

6. हनुमान् :-

शनौ बुधक्षेत्रे सति **मुख्यभृतश्च बौधे**[43] इति फलम्। अनेन हनुमान् चिन्त्यः। तथा द्रेक्काणेषु सिंहान्त्ये **वानरतुल्यचेष्टः** इति, तुलावसाने **वानररूपभृद्** इति हनुमान् वक्तव्यः।

7. स्कन्दः-

मेषस्वभावे **शक्त्या पाणितलेङ्कितः**[44] इत्युक्तेन स्कन्दो निर्दिष्टः[45]। मेषवृश्चिकयोः सतिकुजे **चमूप**[46] इति, गुरौ मेषवृश्चिकयोः सति सेनानीः[47] इत्येतैः फलैः सुब्रह्मण्यः चिन्त्यः।

8. सर्पः/नागः -

सर्पद्रेक्काणैः अल्यादि - अलिमध्य - कर्कान्त्य-मीनान्त्यैः क्रमात् सर्पनिबद्धपादा, भुजगावृतदेहा, **सर्पवेष्टितः**, सर्पविवेष्टिताङ्ग इत्येतैः फलैः सर्पचिन्तनं, तक्षकादिभेदचिन्तनं वा युज्यते। विषसम्स्बन्धित्वाद् वा सर्पवेष्टितत्वाद् विषधरः शिवः चिन्त्यः। सर्पवेष्टितत्त्वाद्गणपतिरपि[48] चिन्त्यः।

9. नन्दीः-

मकरादौ योक्त्रकजालजकबन्धनधारी इति, वृषभमध्ये लाङ्गले सशकटे कुशलश्च इति, वृषोदये वा नन्दी चिन्त्यः।

10. वीरभद्रः-

मकरादौ **रौद्रमुखः** इत्यनेन, मेषादौ **रक्तविलोचनः** इत्यपि वीरभद्रः चिन्त्यः। अत्रैव रुद्रगणाः वा साक्षात् रुद्रः चिन्तयितुं शक्यः।

11. गरुडः

मिथुनमध्यद्रेक्काणस्थेन गरुडाननश्च इत्यनेन, सिंहादौ गृध्रशब्देन, तुलामध्ये गृध्रमुखः इत्यनेन, कुम्भादौ गृध्रतुल्यवदनः इत्यनेन च गरुडः चिन्त्यः। गरुडवाहनोप्यत्र चिन्त्यः। अत्र यदुदीरितं, ये च अर्थाः विशेषतया प्रतिपादिताः तेषु सर्वेष्वपितत्तद्ग्रहकारकत्त्वम्, इतरशास्त्रबलवत्त्वं, तन्त्रोक्तदेवताध्यानादिना कल्पितत्वं, पुराणमहाभारतादीनामप्याश्रितत्त्वं वा अस्त्येव। पुराणादिप्रसिद्धं विस्तरभयान्नात्र प्रतिपादिताः, तथैव शब्दशः यज्ज्ञायते तदपि नोक्तम्, तथाप्यत्र एकः दृष्टान्तः— बुधे चन्द्रर्क्षे **स्वजनस्य शत्रुः** इत्यदः फलमाश्रित्य चन्द्रर्क्षस्थेन बुधेन कृष्णः इत्युक्तम्। तत्र हरिवंशे प्रसिद्धं कंसः कृष्णस्य मातुलः। तस्यैव वैरी कष्णः इति। अतः इदं लक्षणं कृष्णे घटते, किन्तु केवलमेतावता वक्तुं न शक्यते (क्वचिच्च शक्येत)। किन्त्वत्र प्रश्नमार्गोक्तस्य (15.06) बुधस्य श्रीरामाद्यवतारविष्णुरितरक्षेत्रेषु चन्द्रात्मजः इति फलरूपं लक्षणं, तथा **चन्द्रस्य यदुनायकः** इति फलञ्च[49] पूर्वोक्तं पोषयतीति चन्द्रर्क्षस्थेन बुधेन कृष्णः चिन्तितः। तत्र कंसमर्दनकालिकः कृष्णः बालः इत्यतः बालकृष्णः, बालगोपालकृष्णः इति वा कथयितुं शक्यते। अन्यत्रापि एवमेव योज्यम्।

मया यदुक्तमत्र लक्षणं तस्य दर्शनमात्रतः यथावत्फलकल्पनं न कार्यम्। देवतानिर्णयार्थं लग्न-नवम-द्वितीय-पञ्चम-एकादश-दशमभावानाम् आधिपत्यं, तत्र कथञ्चित्संबन्धो वा ग्रहस्य दृश्येत् एवं देवतानिर्णयाय प्रश्नमार्गादिशास्त्रोक्तमार्गः समाश्रयणीयः। अत्र केवलं देवताभेदाः प्रपञ्चिताः। अत्रोक्तम् लक्षणम् **''इदम् अन्यतमम्''** इत्येव स्वीकृत्य लक्षणबाहुल्याद् यः निर्णयः स एव निर्णयः स एव आदेष्टव्यः इति स्फुटमिह भवति द्वित्रसंवादभावाद् इत्यादिशास्त्रनियमाः अत्र सर्वत्र समन्वयन्ति। तत्र उक्तं ग्रहफलं तत्तद्ग्रहसत्त्वे एव, इतरराश्यादिफलं केषुचिद् ग्रहेषु एव युज्यते केषुचिन्न इत्यपि द्रष्टव्यम्। राशिफलम् इत्युक्ते चन्द्रस्यैव फलम्। तत्फलम् लग्ने कल्प्यम्, क्वचिच्च ग्रहेष्वपि। राशिफलं क्वचिच्च्द्रे न युज्येत। अन्यऽस्मिन् ग्रहे सति युज्येत[50]। तद्यथा युज्यते तथैव स्वीकार्यम्। देवताचिन्तने द्रेक्काणानां महान् उपयोगः। द्रेक्काणैश्च देवतामूर्तिभेदान्, मूर्तिस्वरूपादिकं, सात्त्विकादिभेदांश्च प्रकल्पयेत्। पुरुषद्रेक्काणे स्त्रीत्त्वे अपेक्षिते स्त्रीत्त्वकल्पनं, स्त्रीद्रेक्काणे पुरुषत्त्वकल्पनम् इत्यादि कार्यम्। राशिफलं तु प्रश्ने तल्लग्नोदये, द्रेक्काणफलमपि तदुदये, तथा राशिद्रेक्काणयोः उभयोः फलं तयोः पूर्वोक्तभाव-भावाधिपसम्बन्धे, कारकग्रहे वा तस्मिन् सति यथायोग्यं समायोजयेत्। तथा ग्रहरहितराशिभ्यः बलिभ्यः अधिपग्रहफलं वा केवलं राशिफलं कथयेत् इत्यादि द्रष्टव्यम् एवं देवबाधाचिन्तने, देवताभेदचिन्तने, परिहारचिन्तने, मूर्तिचिन्तने, मन्त्रचिन्तने इतरस्मिन् देवताविषयचिन्तने च होरायाः, तत्रापि द्रेक्काणाध्यायस्य महान् उपयोगः। अत्र यन्निरूपितमेतद्दिङ्मात्रम्, इतोपि सन्ति बहवः विषयाः प्रश्नजातकचिन्तनोपयोगिनः, ते अत्र स्थलाभावन्न निरूप्यन्ते तथा अत्र निरूपितानां समेषां विषयानाम् उपलब्धिरेव वासना इत्यलमतिपल्लवितेन।

।।नमोस्तु पूर्वप्रणेतृभ्यः।। त्वदीयाभिः वाग्भिः तव जननि वाचां स्तुतिरियम्।। ।।शम्।।

सन्दर्भः

1. बृहज्जातकम्— 1.02.
2. बृहज्जातकम्— 2.05.
3. बृहज्जातकम्— 2.06.
4. बृहज्जातकम्— 16.01.
5. शारदातिलके क्षिप्रप्रसादमन्त्रः गणपतिपरः। शारदातिलकम्, 13.14 ।
6. अनेन द्रेक्काणफलेन ''रक्तविलोचनः'' इत्यनेन महाकली अपि चिन्त्या। मन्त्रमहोदधौ ''घोरास्याम्....'' इत्यादि ध्यानम्— 3.9
7. भट्टोत्पलीयः पाठः। रुद्रसम्बन्धी रौद्रः— गणपतिः, स्कन्दः, वीरभद्रोपि। ''रौद्रो भीष्मे..... रौद्री गौर्याम्'' — अतः गौरी अपि चिन्त्या — शब्दार्थकौस्तुभे रौद्रशब्दो द्रष्टव्यः।
8. गणपत्यथर्वशीर्षे— ''रक्तं लम्बोदरं .... रक्तवाससम्''। श्रीगणेशमहादर्शनाख्ये ग्रन्थे 380 पृष्ठे— ''रक्तो रक्ताङ्गरागांशुक.....।'' तस्मिन्नेव ग्रन्थे 17 पृष्ठे ''उद्वहन्परशुम्...''।
9. शारदातिलकम्— 13.94, 88— ''हस्तिमुखः....''
10. अयं पाठः रुद्रभट्टीयः। श्रीगणेशमहादर्शनाख्ये ग्रन्थे 13 पृष्ठे— ''यं पुस्तकाक्ष ...करभूषणम् ....''— द्विजगणपतेः ध्यानम्। शुक्रशनियुतौ अपि गणपतिः चिन्त्यः ''भवति च लिपि पुस्तचित्रवेत्ता ....'' (बृहज्जातकम् — 14.5)
11. बृहज्जातकम्— 16.29.
12. बृहज्जातकम्— 14.04.
13. बृहज्जातकम्— 13.08.
14. बृहज्जातकम्— 08.11— अरण्यम् आलयः यस्याः सा। सिंहराशिस्थितश्चन्द्रो भगवती अन्यपूजिता– प्रश्नमार्गः— 1.209
15. शारदातिलकम्– 11.71
16. बृहज्जातकम्– 16.29.
17. बृहज्जातकम्– 16.27.। रतिः श्रद्धा (द्रष्टव्यम् — शब्दार्थकौस्तुभे रति वा रत)
18. बृहज्जातकम्– 14.03.
19. कटच्छुः लोहभाण्डविशेषः इति रुद्रः, दर्वीति भट्टोत्पलः। अन्नपूर्णाध्याने —''दर्वीहाटकभाजनम् च दधती ...''— मन्त्रमहोदधिः— 9.7
20. ''गौरी तु नग्निकानागतार्तवा'' इत्यमरः — 2.6.8।
21. शुद्धजाम्बूनदाभाम् ....'' इति लक्ष्मीहृदये प्रसिद्धं महालक्ष्मीध्यानम्।
22. अत्र गणपतिरपि चिन्त्यः श्रीगणेशमहादर्शनम् 385 पृष्ठे लक्ष्मीविनायकमन्त्रः ''कनकाभमीडे'' इति ध्यानात्।
23. शारदातिलकम्— 11.37.46

24. प्रश्नमार्गेपि वृश्चिकरवौ "कीटे स्वयम्भूः" (15.205) इति शिवचिन्तनमेव उक्तम्।
25. बृहज्जातकम्— 16.16 (समुद्रमंथने प्राप्तं कालकूटं सहसा पीत्वा तद्द्वारा लोके विख्यातिरूपं धनं प्राप्य यः स साक्षात् शिव एव। तथा केवलं वैराग्यस्य मूर्तरूपमपि स एव इत्यतः शास्त्रान्तगः इत्यनेनापि स एव ग्राह्यः इति लक्षणत्रयस्यापि शिवे सङ्गतिः।)
26. "गङ्गातरङ्गरमणीयजटाकलापम्....." प्रसिद्धं शिवस्तोत्रम्।
27. बृहज्जातकम्, 5.03— शिवः सर्पाभरणः। रुद्रध्याने "ब्रह्माण्डव्याप्तदेहा.....भुजङ्गैः....."। तथा शारदातिलके– 20-10, 28 - अघोर – पाशुपतध्यानयोः — "सजलघन .... भुजंगधरम् .....", "पन्नगभूषणम्....."
28. बृहज्जातकम्– 16.03— "हरेः शशिभुवः" प्रश्नमार्गः— 24.12
29. बृहज्जातकम्– 16.06
30. बृहज्जातकम्– 16.21
31. बृहज्जातकम्– 18.08। "वृषसंस्थः बुधो गोपालकृष्णः स्यात्"— प्रश्नसङ्ग्रहः— 14.49
32. बृहज्जातकम्– 16.22
33. बृहज्जातकम्– 16.15
34. बृहज्जातकम्– 14.04
35. अत्र दैत्यमर्दिनीदेवी अपि चिन्त्यते।
36. बृहज्जातकम्– 17.8
37. अत्र स्त्रीदेवतालक्षणे सति अश्वारूढ़ा पार्वती चिन्त्या। अश्व-खड्ग-बाणसम्बन्धे सति कल्किरपि चिन्त्यः तथा हयग्रीवध्याने– "अश्ववक्त्रम् ....." इति– शारद तिलकम्– 15.75
38. बृहज्जातकम्– 14.04
39. बृहज्जातकम् 16.20। नृसिंहस्वरूपम् – प्रपञ्चसारः – 25.7, 8। "नृसिंहो भूमिपुत्रस्य" — बृहत्पराशरहोरा – 2.5।
40. बृहज्जातकम्– 20.1
41. बृहज्जातकम्– 16.16। "रविकण्टककोणस्थः धिषणः रविवर्गगः धन्वन्तरीति कथ्यते...." – प्रश्नानुक्रमः – 14.117। अत्र गुरुवर्गे रविः इति विलोमतया कल्प्यते केवलं पारस्परिकः सम्बन्धः एतयोः अपेक्षितः इत्यतः।
42. बृहज्जातकम्– 16.30
43. बृहज्जातकम्– 16.30।
44. बृहज्जातकम्– 16.01।
45. तन्त्रसमुच्चयः– 7.69।
46. बृहज्जातकम्– 16.18
47. बृहज्जातकम्– 16.25। अमरकोषः 1.1.39

48. श्रीगणेशमहादर्शनम्– प्रयोगप्रकरणम्– 375 पृष्ठे बीजगणपतिमन्त्रः–"भोगीन्द्राबद्धभूषम्..."।
49. बृहत्पराशरहोरा– 2.5। "स्वामिफलाः राशयः सर्वे" — इति होराकृष्णीये – 19..04।
50. गुरुणा तु देवताभेदाः "ज्ञेया ग्रहर्क्षान्वयात्" (प्रश्नमार्गः— 15.6) ज्ञेयाः इत्यादि राश्यन्वयेन देवताचिन्तनम्। "स्फुटमिह भवति द्वित्रसंवादभावाद्"– प्रश्नमार्गः– 14.30।

ग्रन्थ-सूचीः

1. जातकफलसारोद्धारः, श्रीनिवास आचार्यः, ज्योतिर्विज्ञानप्रकाशन, कब्याडिमठ।
2. शारदातिलकम्, चौखाम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी।
3. प्रपञ्चसारः, मोतीलाल बनारसीदास, देहली।
4. श्रीगणेशमहादर्शनम्, श्रीबह्मावत्पादप्रकाशनम्, स्वर्णवल्लीमहासंस्थानम्, शिरसि।
5. आगमोक्तपूजाविधानम्, प्राणेशप्रकाशन, शिबरूरु।
6. तन्त्रसमुच्चयः, नाग प्रकाशक, देहली।
7. बृहत्पराशरहोराशास्त्रम्, पद्मनाभ शर्मा, चौखाम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009
8. दशाद्ध्यायी, सनतनभारती पाठशाला, मैसूरु
9. बृहज्जातकम्, रुद्रविवरणम्, चौखाम्बा सुरभारती, वाराणसी, 2007
10. अपूर्वार्थप्रकाशिका, अड्यार् लाइब्रेरी, मद्रास 1951
11. प्रश्नसङ्ग्रहः, (कन्नड़) रत्नावती प्रकाशन, उडुपी, 2004
12. प्रश्नमार्गम् (कन्नड़) होन्नपद्म, उडुपी, 2001
13. होराकृष्णीयम्, (कन्नड़), पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिर, बेङ्गलूरु— 2009
14. होराकृष्णीयम्, चतुरसुन्दरी (अज्ञातमूलम्)
15. जैमिनीयसूत्रम्— चौखाम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
16. बृहज्जातकम्, भट्टोत्पलविवृत्तिः, मोतीलाल बनारसीदास, देलही, 2005

———————

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 33-36

सर्वज्ञात्ममुनि सम्मत योगाङ्ग विचार

डॉ. अवधेश प्रताप सिंह*, सुजीत कुमार पाण्डेय**

वेदान्त-दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का चरमबिन्दु है। जिसमें श्रुतिमूलक रहस्यात्मक विषयों का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है।[1] बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना कर इस श्रुतिमूलक ब्रह्मवाद को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है। ब्रह्मसूत्र को अधिकृत कर लिखे गए भाष्यों के माध्यम से विकसित दार्शनिक सम्प्रदायों में अद्वैतवेदान्त-दर्शन को विशेष स्थान प्राप्त है। संहितामूलक इस औपनिषदिक दर्शन के सूत्रधार गौडपाद (780 ई.)[2] एवं इनके प्रशिष्य तथा गोविन्दपाद के शिष्य[3] शङ्कर (788-820 ई.)[4] प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। भाष्यकार शङ्कर के जीवन काल में ही इनके शिष्यों ने शारीरक भाष्य को अधिकृत कर अद्वैतवेदान्त-दर्शन के संरक्षण पूर्वक विकास के निमित्त कलम उठा लिया था। जहाँ पद्मपाद (820 ई.)[5] ने पञ्चपादिका टीका, वाचस्पति मिश्र (840 ई.)[6] ने भामतीटीका लिखकर अद्वैतवेदान्त-दर्शन को समृद्ध किया वहीं सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि (900 ई.)[7] ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों पर लिखे गये शाङ्करभाष्य में निहित भावों को सम्यक् रूप से समझने एवं तत्कालीन अद्वैतविरोधी दार्शनिकों के कुतर्कों के निराकरणार्थ एक अद्भुत प्रकरण[8] ग्रन्थ की रचना की है। जो विद्वत् समाज में संक्षेप शारीरक के नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रकरण ग्रन्थ चार अध्यायों में निबद्ध है। यह अद्वैतवेदान्त दर्शन का पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें कुल 1240 श्लोक हैं।[9] इनके पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रभाव इनके प्रतिपादन शैली पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

प्रकृत शोध आलेख के आलोक में प्रश्न उठता है कि योगाङ्ग विचार से यहाँ क्या तात्पर्य है। योगाङ्ग शब्द से यहाँ पातञ्जल योग दर्शन सम्मत अष्टाङ्ग योग का ग्रहण किया गया है।[10] यहाँ अष्टाङ्ग शब्द हेत्वर्थक है, क्योंकि त्रिक्-दर्शन सम्मत छः अङ्गों वाली यौगिक प्रक्रिया यहाँ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि इस यौगिक प्रक्रिया में यम और नियम का ग्रहण नहीं किया गया है।[11] योगसूत्र में यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन आठों को अष्टाङ्गयोग नाम से अभिहित किया गया है।[12] ध्यातव्य हो कि सर्वज्ञात्म-मुनि ने अपने संक्षेपशारीरीक में '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**' के सन्दर्भ में '**वेदान्त वाक्यविषयश्रवणाधिकारित्व**'[13] के प्रसंग में योग के सभी आठों अङ्गों पर विचार न कर केवल यम एवं नियम पर ही विस्तृत रूप से विचार किया है। सर्वज्ञात्ममुनि ने यम एवं नियम पर विचार करते हुए पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा का वास्तविक अधिकारी कौन है? तथा कोई जिज्ञासु किस प्रकार उक्त दोनों शास्त्रों में प्रतिपादित अधिकारी अर्हता प्राप्तिभूत साधनों का किस प्रकार से विनियोग करे इस पर सूक्ष्म रूप से विचार किया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि सर्वज्ञात्ममुनि ने सर्वप्रथम स्वसिद्धान्ताभिमत यम नियम विषयक अवधारणा को प्रस्तुत किया है। तदन्तर अद्वैतेतर सिद्धान्त के अनुसार

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

** संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

यम, नियम सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला है। सर्वज्ञात्ममुनि का मानना है कि—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर–प्रणिधान संज्ञक नियम हमारे वाचिक, कायिक एवं मानसिक प्रवृत्ति का निषेधक होने से प्रवृत्यात्मक न होकर निवृत्यात्मक है।[14] यह अद्वैताभिमत सिद्धान्त है, क्योंकि अद्वैतशास्त्र निवृत्ति प्रधान है। संक्षेपशारीरक के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती ने भी सर्वज्ञात्म मुनि के मत के समर्थन में लिखा है कि **''यमशास्त्रवन्नियमशास्त्रस्यापि निवृत्ति परत्वमेव न प्रवृत्ति परत्वमित्यर्थः**[15] अर्थात् यम शास्त्र के समान ही नियम शास्त्र भी प्रवृत्ति परक न होकर निवृत्ति प्रधान ही है। मधुसूदन सरस्वती ने उत्तरमीमांसा को सन्यास शास्त्र से अभिहित किया है।[16] उनका मानना है कि सन्यास शास्त्र निवृत्ति प्रधान है। इन्होंने **लशुनं न भक्षयेत्**[17] इस निषेधात्मक वाक्य को आधार बनाकर विधि वाक्य की प्रवृत्यात्मकता का खण्डन कर उसकी निवृत्यात्मकता को सिद्ध किया है। सारसंग्रहकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार 'लहसुन नहीं खाना चाहिए' इत्याकारक शाब्दबोध होने पर यह बोध होता है कि लहसुन खाना इष्ट नहीं है। इसके पश्चात् व्यक्ति लहसुन खाने के प्रति उदासीन हो जाता है। **औदासीन्यं प्रवृत्याभावः**[18] अर्थात् यहाँ उदासीन का अर्थ प्रवृत्ति का अभाव है। तदन्तर व्यक्ति लहसुन खाने के प्रति जो आसक्ति है उन रागादि की निवृत्ति के लिए वह प्रयत्न करता है।[19] इसी प्रसंग में सारसंग्रहकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि लहसुन भक्षणादि के प्रति रागादि की दृढ़ता को हटाने के लिए विधि वाक्य की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व्यक्ति स्वयं ही रागादि के निवृत्ति के लिए प्रवृत्त होता है।[20] सन्यास शास्त्र की निवृत्यात्मकता के प्रसंग में सर्वज्ञात्म मुनि का कहना है कि पूर्वमीमांसा के षष्ठ अध्याय में प्रवर्तक एवं निवर्त्तक शास्त्रों की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति एवं निवृत्ति उभय साधारण अधिकारी का विचार किया गया है,[21] किन्तु इस ब्रह्म मीमांसा शास्त्र में **''अत्रैकमेव तु निवृत्यधिकारमार्गमाश्रित्य''**[22] अर्थात् एक मात्र निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर 'अथातोब्रह्मजिज्ञासा घटक अथ के सन्दर्भ में ब्रह्मविद्या के अधिकारी को अधिकृत कर विमर्श किया गया है। ध्यातव्य हो कि सर्वज्ञात्म मुनि ने योगाङ्ग पर सामान्य रूप से विचार करते हुए लिखा है कि यम के समान नियम भी निवृत्ति प्रधान[23] है। किन्तु यम एवं नियम पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए बताया है कि यम निवृत्ति रूप तथा नियम प्रवृत्ति रूप होते हैं।[24] निवर्त्तक शास्त्र से यम तथा प्रवर्तक शास्त्र से नियम का प्रतिपादन होता है।[25] सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार यम जहाँ निवृत्ति का बोधक है वहीं नियम प्रवृत्ति परक है। सारसंग्रह के रचयिता मधुसूदन सरस्वती ने यम के विषय में लिखा है कि चाहे वह किसी भी प्रकार से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देने की बात हो, किसी स्वार्थ के कारण झूठ नहीं बोलने की बात हो, किसी की वस्तु, पुत्र, पुत्री आदि का अपहरण नहीं करने की बात हो, हमेशा स्त्रक, चन्दन बनितादिरूप विषयों में नहीं लगे रहने की स्थिति हो या फिर विषयादि को संग्रह नहीं करने की भावना हो ये सभी वाक्य निवृत्ति परक हैं।[26] यहीं कारण है कि यम को निवृत्ति प्रधान कहा गया है। इसी प्रकार से पवित्र रहना, तपश्चर्या करना, मन में संतोष धारण करना, वेदान्त शास्त्र का स्वाध्याय करना एवं ईश्वर की भक्ति करना आदि वाक्य प्रवृत्ति परक है।[27] सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार निवृत्ति दो प्रकार की होती है[28] (i) बाह्य (ii) आभ्यन्तर।

एक बाह्य शरीर इन्द्रिये संयम रूपा[29] तथा दूसरी अभ्यन्तर वस्तु विषयक सदात्मकूटस्थ रूपा है।[30] सारसंग्रहकार इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'आत्मबाह्यशरीराद्याश्रितेत्यर्थः''[31] अर्थात् पहली जो निवृत्ति है वह शरीर मूलक निवृत्ति है तथा दूसरी आभ्यन्तर वस्तु संश्रया सर्वान्तर वस्त्वात्मिका[32] अर्थात् आत्मनिष्ठ

निवृत्ति है। प्रश्न उठता है कि इन दोनों निवृत्तियों में क्या अन्तर है। इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि यम रूप शरीर मूलक निवृत्ति प्रयत्न जन्य होने से विधि शास्त्र से विहित है, किन्तु दूसरी आत्म वस्तुनिष्ठ निवृत्ति निवृत्ति मात्रस्वरूपा होने से विधि शास्त्र का विषय नहीं है।[33] यही इन दोनों में अन्तर है। टीकाकार मधुसूदन सरस्वती ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'न हिंस्यात'[34] इस निषेध वाक्य से अहिंसा करनी चाहिये अर्थ की प्रतीति होती है। यह पूर्वमीमांसाभिमत सिद्धान्त है। अद्वैत मत में तो 'हिंसा मेरा इष्ट साधन नहीं है।''[35] यही अर्थ अभिप्रेत है। शाङ्कर मत में प्रवृत्यात्मक अभाव ही निषेध का बोधक है। इतना ही नहीं बाह्य अर्थात् शरीर मूलक निवृत्ति मायामयी है, क्योंकि शरीर, इन्द्रियादि मायिक पदार्थ है,[36] किन्तु आभ्यान्तर अर्थात् आत्म निष्ठ निवृत्ति आत्म स्वरूप होने से पारमार्थिक है।[37] ध्यातव्य हो कि इन दोनों निवृत्तियों में बाह्य निवृत्ति की अपेक्षा से ही निवृत्ति शास्त्र का विधान किया गया है।[38] अन्ततः सर्वज्ञात्ममुनि ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए निष्कर्षतः कहा है कि निवृत्ति स्वरूप यम, प्रवृत्ति स्वरूप नियम इन दोनों शास्त्रों से विहित साधनों से युक्त साधक ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है।[39]

निष्कर्ष—प्रकृत शोध आलेख का निष्कर्ष यही है कि संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्म मुनि एवं इनके टीकाकार मधुसूदन सरस्वती ने यम को निवृत्ति परक तथा नियम को प्रवृत्ति प्रधान सिद्ध किया है। सर्वज्ञात्ममुनि एवं मधुसूदन सरस्वती का मानना है कि ब्रह्मविद्या निवृत्ति परक है। संक्षेपशारीरक एवं सारसंग्रह टीका में यम एवं नियम क्रमशः उत्तर मीमांसा एवं पूर्वमीमांसा-दर्शन के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यम एवं नियम इन दोनों शास्त्रों में विहित साधन युक्त साधक ही ब्रह्म विद्या का वास्तविक अधिकारी है। अतः यम और नियम दोनों ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में सहायक है।

सन्दर्भ सूचीः

1. वेदान्ते परमं गुह्यं पुशकल्पे प्रयोदितम्।
   ताप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः। श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/22
2. एस.एन. दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास भाग 1, पृष्ठ 393
3. नैष्कर्म्यसिद्धि, भूमिका पृ. 26, संपादक कृष्ण पन्त शास्त्री
4. एस.एन.दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास भाग 1, पृ. 390
5. वही, पृ. 86
6. वही, पृ. 89
7. एस.एन.दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृ. 93
8. शारीरकाथविषयावगति प्रधानं-संक्षेपतः प्रकरणं करवाणि हृष्यन्। संक्षेपशारीरक 1/10
   शास्त्रैकदेश सम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
   आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः। इति विष्णुधर्मोत्तरस्मरणात्। संक्षेप शारीरक 1/10
   पर मधुसूदन सरस्वती कृत सारसंग्रह टीका
9. कनखल, हरिद्वार संस्करण, 1999 (एस.एन.दास गुप्त भी यही मानते हैं)
10. योगसूत्र 2/29
11. तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क एवं समाधि इन छः अङ्गों वाले शास्त्र के योग कहा है। अभिनव गुप्त ने 'तर्क' को श्रेष्ठ बताया है। तन्त्रालोक 1/16 पर विवेक टीका तथा तन्त्रालोक 1/15 द्रष्टव्य है।
12. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। योगसूत्र 2/29

13. संक्षेपशारीरक 1/90
14. यमनियम विधानैवङ्मनः काय चेष्टाव्युपरमणमशेषेः कथ्यते न प्रवृत्तिः।। संक्षेप शारीरीक 1/74
15. संक्षेपशारीरक 1/74 पर सारसंग्रह टीका
16. 'मुमुक्षुविषयं संन्यास शास्त्रम्। वही
17. ''लशुनं न भक्षयेत्, न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि निषेधेन तत्तद् भक्षणादेष्टिसाधनत्वाभावरूप पौदासीन्यबोधाद्यथा तद्भक्षणादि प्रापकरागादि निवृत्तौ यतते तद्वदित्यर्थः। संक्षेपशारीरक 1/75 पर सारसंग्रह
18. संक्षेप शारीरक 1/75 पर सारसंग्रह टीका
19. वही
20. ''एवं य यथा लशुनादिभक्षणे प्रवर्तकरागौंकंठयनिवृत्तये श्रुतिमन्त्ररेण स्वयमेव प्रवर्तते एव मात्रापीति' संक्षेपशारीरक 1/76 पर सारसंग्रह टीका
21. वृत्ताप्रवर्त्तकनिवर्त्तकशास्त्रसिद्ध्यै षष्ठे प्रवृत्ति निवृत्यधिकारियिन्ता। संक्षेपशारीरक 1/78
22. वही
23. संक्षेपशारीरक 1/74
24. यमस्वरूपा सकलानिवृत्तिः स्तथा प्रवृत्तिर्नियमस्वरूपा। संक्षेप शारीरक 1/85
25. वही
26. ''निवृत्तिः सर्वप्रकारेण प्राणिपीडाऽनृतवचनादेर्निवृत्तिः। संक्षेपशारीरक 1/85 पर सारसंग्रह टीका
27. ''प्रवृत्तिः शोयादिरुपेत्यर्थः। वही
28. ''निवृत्तिरस्ति द्विविधा बहिः स्थिता शरीर सर्वेन्द्रियसंयमात्मिका।
    तथाऽपराऽभ्यन्तर वस्तु संश्रया सदात्मकूटस्थयिदेक विग्रहा।। संक्षेपशारीरक 1/86
29. वही
30. वही
31. संक्षेपशारीरक 1/86 सारसंग्रह टीका
32. वही
33. तयोस्तु बाह्य विधिशास्त्र लभ्या प्रयत्ननिर्वत्यतया प्रतीतेः।
    विधानशास्त्रं विरहय्य लभ्या यितिस्वरूपा त्वितरा निवृत्तिः।।संक्षेप शारीरक 1/87
34. ''न हिंस्यात्' इत्यादिनिषेधविधेः' अहिंसा कुर्यात' इत्यर्थ प्रतीतेः सा तथेत्यर्थः। एतस्य परसिद्धान्तमाश्रित्योक्तं, स्वमते हिंसादिगत श्रेयः साधनत्वाभावस्यैव तदर्थत्वा–दिति। संक्षेप शारीरक 1/87 पर सारसंग्रह टीका
35. वही
36. मायामयी बाह्य निवृत्तिरिष्टा। संक्षेपशारीरक 1/88
37. चितिस्वरूपा परमार्थसत्या। वही
38. तयोर्निवृत्योश्च निवृत्तिशास्त्रंविधायकबाह्यनिवृत्यपेक्षम्। संक्षेपशारीरक 1/88
39. शास्त्रद्वयेन परिदर्शितसाधनेन साध्यस्पृहापरवशः पुरुषोमुमुक्षुः।
    शुश्रुषते गुरुमथेत्युदितः स चात्र वेदान्तवाक्यविषयश्रवणाधिकारी।। संक्षेपशारीरक 1/90

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 37-44

श्रीमद्भगवद्गीता में आहार-विमर्श व वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपादेयता

कु. रजनी नेगी*

श्रीमद्भगवद्गीता कृपासिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से निःसृत एक ऐसा ज्ञान है जिसमें जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण समस्त तथ्यों का समावेश है, इन्हीं में से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है ''आहार''। भौतिकता के इस युग में जिस प्रकार मानव भौतिक सुखों को पूर्ण करने की तीव्र लालसा में स्वयं के स्वास्थ्य को दुष्प्रभावित कर रहा है, वह चिन्तनीय विषय है। उसे किस प्रकार का आहार ग्रहण करना चाहिए इस विषय में कोई गाम्भीर्य नहीं दिखता। ईश्वर द्वारा प्रसाद रूप में प्राप्त यह देह प्राणी के लाभ व उपयोग के लिए है। अतः दुर्लभता से प्राप्त इस मानव शरीर की रक्षा व दीर्घजीवन हेतु मानव को सदैव सचेत व प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि निश्चय ही ''**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**'' (कुमारसम्भव— 5.33) अर्थात् शरीर ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने समस्त धर्म-सम्बन्धी कार्य को सिद्ध कर पाते हैं। अतः इसका उचित रक्षण व भरण-पोषण हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए और श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें आहार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण संदर्भ प्राप्त होते हैं जो वर्तमान समय में भी प्रासंगिक है।

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है जो मानव के सम्पूर्ण जीवन के लिए एक श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक के रूप में अवस्थित है। यह सम्पूर्ण समाज गीता के ज्ञानबिन्दु से सदैव ही प्रकाशित रहा है। वर्तमान समय के लिए आवश्यक समस्त तथ्यों को गीता में सरतम रूप से वर्णित किया गया है। इनमें से एक प्रमुख ज्ञान बिन्दु है ''**आहार**'', जो हमारे मन, बुद्धि व अन्तःकरण निर्माण का आधार है। आहार आ उपसर्ग पूर्व हृ धातु में घञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। ''**आह्रियत् इत्याहारोऽन्नम्**''[1] अर्थात् जिसका आहरण-ग्रहण किया जाय वह आहार है। मनुष्य द्वारा जिस प्रकार का आहार ग्रहण किया जाता है उसके द्वारा प्रदत्त शरीर का उचित आहार द्वारा भरण-पोषण किया जाना चाहिए ताकि उत्तम विचारों का निर्माण कर मानव कल्याण मार्ग पर प्रशस्त हो पाये तथा इस अमूल्य जीवन को सार्थक कर पाये, जैसा कि श्रीमद्भागवत् में भी वर्णित है—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्युयावन्निः श्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्।।[2]

निःसंदेह मानव परमात्मा की सबसे सुन्दर रचना है।[3] हमारे पवित्र वेदों में मानव शरीर को एक ऋषि

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, डी०ए०वी० (पी०जी०) कॉलेज, देहरादून

आश्रम व देव मन्दिर माना गया है। हमारा शरीररूपी मन्दिर अनेक देवताओं का आयतन है।[4] अतः जिस प्रकार एक मन्दिर में हम हमेशा सात्त्विक आहार ही अर्पित करते हैं, उसी प्रकार हमें अपने शरीररूपी मन्दिर को भी सदैव शुद्ध व सात्त्विक आहार से पोषित करना चाहिए। वेदों में स्थान-स्थान पर अन्न से परिपूर्ण जीवन की प्रार्थनाएँ परिलक्षित होती हैं[5] व प्रत्येक अंग की स्वस्थता व दृढ़ता की कामना की गयी है। हमारी भारतीय संस्कृति में चार प्रकार के पुरुषार्थ बताये गये हैं—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति में हमारा शरीर ही मुख्य आधार है और एक स्वस्थ शरीर से ही पुरुषार्थों की सिद्धि सम्भव है। अतः परमात्मा द्वारा प्रदत्त इस शरीर के पोषण पर ध्यान देते हुए हमें अन्य कर्मों में प्रवृत्ति होना चाहिए, तभी मनुष्य स्वस्थ व दीर्घ जीवन व्यतीत कर सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा आहारी व आहार का सुन्दर व सरल विवेचन कर यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार का आहारी कौन-कौन सा आहार ग्रहण करता है? वह आहार ग्रहण करने पर किस प्रवृत्ति का जन्म होता है? कैसा परिणाम होता है? यह विवेचन गीता में दृष्टिगोचर होता है। भगवान् श्रीकृष्ण छठें अध्याय में एक आदर्श जीवनचर्या के नियम को समझाते हुए पार्थ से कहते हैं कि दुःखों का नाश करने वाला योग नियमित व यथायोग्य आहार-विहार करने वाले कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले तथा यथायोग्य सोने व जागने वाले पुरुष से ही सिद्ध होता है।[6] कहने का तात्पर्य है कि समुचित मात्रा में आहार-विहार करने पर योग की सिद्धि की जा सकती है, ऐसा नहीं है कि योग-प्राप्ति के लिए मानव शरीर को कष्ट दें, निराहार रहें क्योंकि यह शरीर परमात्मा का ही अंग है और शरीर को कष्ट देना अर्थात् अपने इष्ट को पीड़ा पहुँचाना। भगवान् मनु कहते हैं कि ईश्वर सूक्ष्म अवयवों सहित इस तन में प्रविष्ट होते हैं—

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्यम्।।[7]

गीता में भी वर्णित है कि सम्पूर्ण शरीर अव्यक्त (ब्रह्म) से उत्पन्न होते हैं।[8] अतः इस शरीर को सन्तुलित व आहार से रक्षित किया जाना चाहिए। समुचित मात्रा में किया गया आहार-विहार ही जीवन को सम्पुष्ट करता है। उपनिषदों में आहार को एक व्रत के सामान बताया गया है और निरन्तर बढ़ाने की प्रेरणा दी है।[9] कहा गया है "उदर का आधा भाग सव्यंजन अन्न से पूर्ण करें और तीसरा भाग जल से भरें तथा चौथा भाग वायु के संचर के लिए रिक्त रखें, यही युक्त आहार का नियम है।"[10] आहार का ग्रहण सदैव उतनी ही मात्रा में किया जाना चाहिए जितना कि शरीर में ग्रहण करने की क्षमता हो। शरीर की स्वीकार्य क्षमता से अधिक खाना अहितकर सिद्ध होता है और न ही अल्पाहार उचित होता है, जैसा कि गीता में वर्णित है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।[11]

इसी सन्दर्भ में वर्णित है कि "जो अन्न आत्मसम्मित होता है वही रक्षा करता है, वह मारता नहीं है, जो अधिक होता है वह मारता है और जो कम होता है वह रक्षा नहीं करता।"[12] शरीर को पर्याप्त पोषण न मिले तो वह अन्य कर्मों में में एकाग्र नहीं हो पाता। मनुष्य द्वारा जो भी आहार ग्रहण किया जाता है वह यह ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए कि वह ईश्वर को समर्पित हो रहा है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं हे अर्जुन! तू जो कुछ भी करता है, जो कुछ भोजन करता है वह सब मुझे अर्पण कर दें।[13] अतः आहार में

अधिकता व न्यूनता नहीं होनी चाहिए। ''**प्राणः प्राण भूतानाम् अन्नः**'' अर्थात् प्राणियों में प्राण अन्न[14] अथवा आहार ही होता है। हमारी भारतीय संस्कृति में अन्न को ईश्वर सदृश पूजनीय माना गया है[15] व अन्न की उपासना का संदेश दिया गया है। आहार द्वारा ही मानव आरोग्य को प्राप्त करता हुआ दीर्घकाल तक अपने पुरुषार्थों में सक्रिय रहता है। कृपासिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— ''**अन्नाद्भवन्ति भूतानि**''[16] अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। अन्न द्वारा ही शरीर की उत्पत्ति भरण-पोषण सम्भव है। चारों प्रकार के जीव (जरायुज, उद्भिज, अण्डज, स्वदेज) अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। महर्षि भृगु जब अपने पिता भगवान् वरुण से ब्रह्म के विषय में जानने की इच्छा प्रकट करते हैं, तो भगवान् वरुण इस प्रकार अन्न की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं –

''**अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति .....। अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति....।**''[17]

यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं।[18] इन्हीं गुणों से प्रभावित मानव-प्रवृत्ति के आधार पर आहार भी तीन श्रेणियों में विभाजित है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—''**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**''[19] अर्थात् आहार सबको तीन प्रकार का प्रिय होता है। प्रत्येक व्यक्ति की जैसी प्रवृत्ति होती है, उसके द्वारा वैसा ही आहार अधिकतर प्रयुक्त किया जाता है और जैसा आहार ग्रहण किया जाता है तदानुरूप विचार भी निर्मित होते हैं जैसा कि कहा जाता है ''**जैसा अन्न वैसा मन**''। आहार हमारे अन्तःकरण-निर्माण में सबसे प्रमुख घटक है। मनुष्य में सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण पाये जाते हैं।[20] उपस्थिति तीनों गुणों की होती है; किन्तु प्रत्येक में केवल एक गुण की प्रधानता व अधिकता होती है। जिन मनुष्यों में सत्त्व गुण की प्रधानता होती है; उनके द्वारा सात्त्विक आहार ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार तामसिक व राजसिक आहार ग्रहण किया जाता है।

भारतीय संस्कृति में सात्त्विक आहार[21] को सबसे शुद्ध व पवित्र आहार माना जाता है। सात्त्विक आहार को आध्यात्मिक व वैज्ञानिक दोनों ही दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि यह आहार शारीरिक निरोगता, शक्तिवर्द्धन व दीर्घायुष्य प्राप्ति का एक शुद्ध स्रोत है। धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो सात्त्विक आहार का ग्रहण उपासनादि पवित्र कार्यों में ग्रहण किया जाता है और ईश्वर को भी भोग में सात्त्विक आहार ही प्रदान किया जाता है। अतः धर्म की दृष्टि से सात्त्विक आहार का जितना माहात्म्य है, वैज्ञानिक दृष्टि से भी उतना ही माहात्म्य है। जीवनपर्यन्त शरीर को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु सात्त्विक आहार परम हितकारी है। जिस आहार से मनुष्य की आयु बढ़ती है, सत्त्वगुण बढ़ता है, शरीर में निरोगता बढ़ती है, सुख-प्रसन्नता-स्थिरता बढ़ती है, हृदय में निरोगता बढ़ती है तथा जो हृदय को शक्ति देने वाले, रसयुक्त होते हैं वे सात्त्विक आहार के अन्तर्गत आते हैं और यही आहार सात्त्विक पुरुषों को विशेष प्रिय होता है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।[22]

श्रुतियों में भी घृतादि[23] सात्त्विक द्रव्यों को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। सात्त्विक आहार द्वारा मानव में सत्त्वगुण[24] की वृद्धि होती है। प्रकाश व ज्ञान का प्रकाश पुंज ही सत्त्व गुण है। ''जब शरीर में सब द्वारों के भीतर ज्योति की, बोध, अनुभूति और ज्ञान के प्रकाश की बाढ़ आ जाये, मानों एक बंद घर के दरवाजे और खिड़कियाँ धूप की ओर खुल गयी हों— जब बुद्धि सजग और प्रबुद्ध हो जाये, इन्द्रियाँ तीव्र

हो उठें, सम्पूर्ण मन तृप्त और प्रकाशपूर्ण हो जायें, प्राण-सत्ता शान्त और स्थिर होकर प्रकाशयुक्त निवृत्ति और प्रसाद से परिपूरित हो उठे, तब मनुष्य को समझना चाहिए कि उसकी प्रकृति के अंदर सत्त्वगुण का उदय और अत्यधिक विकास हो गया है।''[25] सात्त्विक आहार द्वारा ही मनुष्य में सत्त्वगुण का विकास संभव है और मानव में सत्त्व अंग स्वयं भगवान् का रूप है—''**सत्त्वं सत्त्ववतामहम्**''।[26] यह सर्वविदित है कि जिस प्रकार अन्न हम ग्रहण करते हैं, तदानुरूप ही हमारे मन में विचार निर्मित होते हैं। उपनिषदों में अन्न की निंदा का स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है।[27] प्राचीनकाल में ज्ञानी ऋषि-मुनियों द्वारा भी सदैव से ही सात्त्विक भोजन ग्रहण किया जाता था। इसी कारण उनके कर्मों व विचारों में तेजस्विता परिलक्षित हुआ करती थी। उनका जीवन स्वस्थ व दीर्घायु पूर्ण होता था। छान्दोग्योपनिषद् में अनेक स्थलों पर योगेश्वर सनत्कुमार महर्षि नारद को अन्न की उपादेयता का ज्ञान समझाते हैं। आहार में जितनी पवित्रता होगी जीवन में भी उतनी ही पवित्रता का निवास होगा। सात्त्विक आहार ग्रहण करने के फलस्वरूप बढ़े हुए सत्त्व गुण की वृद्धि में यदि मनुष्य प्राणों का त्याग करता है, तो यह श्रेष्ठ व निर्मल लोक को प्राप्त करता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।[28]

इस प्रकार सात्त्विक आहार द्वारा जहाँ मानव एक उत्तम स्वास्थ्य को प्राप्त करता है वहीं दूसरी ओर मन उत्तम गुणों से परिपूर्ण हो आत्मशक्ति के मार्ग पर प्रशस्त हो जाता है।

राजसिक आहार— के अन्तर्गत वे आहार आते हैं जो अत्यन्त कटु, बहुत खट्टे, अतिलवणयुक्त, बहुत गर्म, अतितीक्ष्ण, बहुत सूखे और बहुत दाह पैदा करने वाले तथा दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले होते हैं, ऐसे आहार राजस् पुरुष को प्रिय होते हैं—

''**कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।**
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।''[29]

सात्त्विक पुरुषों द्वारा राजसिक आहार सदैव उपेक्षणीय होता है। राजसिक आहार के सेवन से मनुष्य की वृत्ति में चंचलता उत्पन्न होती है। शरीर में नाना प्रकार के दुःखों का आगमन होना प्रारम्भ हो जाता है। मन अस्थिर होकर काम, क्रोध, निराश, उद्वेग जैसे कई विकारों से ग्रसित हो उठता है क्योंकि राजसिक आहार, रजो गुण[30] की वृद्धि का कारण होता है और रजोगुण की वृद्धि के फलस्वरूप सत्त्वगुण का प्रकाश व ज्ञान दब जाता है जिससे लोभ-मोह इत्यादि वृत्तियों का जन्म होता है।[31] जब अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्न करते हैं कि हम न चाहते हुए भी पापकर्मों के लिए क्यों प्रेरित होते हैं, तो इसका कारण भगवान् श्रीकृष्ण राजस् गुण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए काम-तृष्णा को ही बताते हैं।[32] रजोगुण के अधीन हो जो भी कर्म किया जाता है, वह निश्चय ही महान् कष्टकारी बनता है— ''**रजसस्तु फलं दुःखम्।**''[33] मनुष्य लोभी बन जाता है।[34] इस प्रकार राजसिक व्यक्ति पृथ्वीलोक में ही रह जाते हैं।[35] भगवान् मनु ने भी कहा है कि मनुष्य जो भी कर्म करता है उसी प्रकार की गति व योनि को प्राप्त होता है।[36] इस प्रकार राजसिक आहार स्वास्थ्य व आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से अहितकर कहा गया है। राजसिक आहार मनुष्य के पतन का कारण होता है, जो मनुष्य में अनेक अवगुणों को जन्म देकर कुमार्ग पर अग्रसर कराने में अहम भूमिका निभाता है।

तामसिक[37] आहार में वे आहार आते हैं, जो दुःख व अनेक रोगों का कारण होते हैं। यह आहार तामसिक प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को प्रिय होता है। तामसिक आहार में वे आहार सम्मिलित हैं, जो बासी, दुर्गन्धयुक्त व अपवित्र होते हैं—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।[38]

तामसिक भोजन आयु, सत्त्व, बल व आरोग्य का विरोधी कहा गया है। तामसिक भोजन के अन्तर्गत आने वाले अपवित्र खाद्य पदार्थ मदिरा, अमिष[39] इत्यादि द्वारा बुद्धि, मन व आत्मा मलिनता को प्राप्त होती है। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में केवल स्वादपूर्ति हेतु अपनी तृप्ति के लिये पशु-हत्या करना जघन्य पाप माना गया है।[40] मांस इत्यादि ग्रहण करने से मानव में हिंसक प्रवृत्ति का जन्म होता है, जो मनुष्य को क्रूर बनाती है। इसी प्रकार उच्छिष्ट आहार भी तामसिक आहार में सम्मिलित है। उच्छिष्ट आहार किसी भी अन्य व्यक्ति को देने का पूर्ण निषेध है।[41] दुःख व शोक प्रदाता तामसिक आहार द्वारा विचार भी अशुद्ध होते हैं; क्योंकि हमारे द्वारा जो भोजन ग्रहण किया जाता है उसके सूक्ष्म अंश से ही हमारा मन निर्मित होता है—**''एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति।''**[42] अतः हमारे मन में जो भी विचार उत्पन्न होते हैं, जैसे संस्कार बनते हैं; उनमें आहार की मुख्य भूमिका होती है और जैसा आहार हम ग्रहण करते हैं तदनुसार ही स्थान प्राप्त करते हैं। तामसिक आहार तमोगुण[43] में वृद्धि कर मनुष्य को मूढ़ योनि का भागी बनाता है[44] तथा मनुष्य को आलसी व प्रमादी बनाने में सहायक होता है।[45]

इस प्रकार हमें स्वयं के आहार में ऐसे खाद्य पदार्थ सम्मिलित करने चाहिए जो हमें शारीरिक व मानसिक रूप से दृढ़ता प्रदान करें। वर्तमान समय में मानव का भक्ष्याभक्ष्य-विचार शिथिल होता जा रहा है। मनुष्य जैसे-जैसे उन्नति की तरफ अग्रसर हो रहा है, उसकी व्यस्तता भी बढ़ती जा रही है और आहार में उतनी ही विकृतियाँ बढ़ने से मानव मानसिक व शारीरिक रूप से क्षीण होता जा रहा है। तामसिक-राजसिक आहार में मानव का रुझान बढ़ने से उसके स्वभाव में भी तामस-राजस गुणों का विकास हो रहा है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आहार में उन खाद्य पदार्थों को शामिल करें जो उसे एक स्वस्थ शरीर प्रदान कर पायें। आहार शुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण अवदान है।[46] जब हमारी भोजन-प्रणाली में सुधार होगा तभी हम एक आदर्श जीवनयापन कर पायेंगे। आवश्यक है कि हम आहार का प्रयोग स्वादानुसार न करके विवेकानुसार करें, उसमें आसक्ति का भाव न हो, यही यज्ञमय जीवन की दीक्षा है— **''स यदिशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः।''**[47] मानवकल्याण हेतु सात्त्विक आहार का अधिकाधिक प्रोत्साहन किया जाय जाना चाहिए क्योंकि जैसा अन्न ग्रहण किया जायेगा, प्रजा भी उसी प्रकार की उत्पन्न होगी—

दीपो भक्ष्यते ध्वान्तं कज्जलं व प्रसूयते।
यदन्नं भक्ष्यते नित्यं जायते तादृशी प्रजा।।[48]

प्राणिमात्र को चाहिए कि वह शास्त्रनिहित ज्ञान के अनुरूप अपने जीवन को एक आदर्श रूप दें, तभी वह सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। निःसंदेह गीता-ज्ञान एक ऐसा प्रकाश है, जो हमें धर्म के साथ-साथ वर्तमान परिप्रेक्ष्य के आवश्यक वैज्ञानिक तथ्यों से भी अवगत कराती है। गीता का एक-एक शब्द शिक्षाप्रद है जो कि अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने वाली तथा मन को आकर्षित कर लेने वाली है।

काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम्।
आदिमध्यान्तशट्केशु तस्मै भगवते नमः।।[49]

सन्दर्भ-सूचीः

1. श्रीमद्भगवद्गीता 'गूढ़ार्थदीपिका', (हिन्दी व्याख्याकार— डॉ० मदनमोहन अग्रवाल), 6.17 टीका से उद्धृत, पृ०सं० 383
2. श्रीमद्भागवत्— 11.9.29; साधक संजीवनी— 7.19 टीका से उद्धृत, पृ०सं० 540
3. "पुरुषो वाव सुकृतम्", ऐतरेयोपनिषद्, 1.2.3
4. ऐतरेयोपनिषद्, 1.2.4
5. "अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
   प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो देहि द्विपदे चतुष्पदे।।" यजु० 11.83
6. श्रीमद्भगवद्गीता, 6.17
7. मनुस्मृति, 1.18
8. श्रीमद्भगवद्गीता, 8.18
9. "अन्नं न परिचक्षीत्। तदव्रतम्", तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.8.1
10. श्रीमद्भवगद्गीता 'गूढ़ार्थदीपिका', (हिन्दी व्याख्याकार— डॉ० मदनमोहन अग्रवाल), 6.17 टीका से उद्धृत, पृ०सं० 384
11. (i) श्रीमद्भगवद्गीता, 6.16
    (ii) अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
    अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्।। मनुस्मृति, 2.57
12. श्रीमद्भगवद्गीता 'गूढ़ार्थदीपिका', (हिन्दी व्याख्याकार— डा० मदनमोहन अग्रवाल), 6.16 टीका से उद्धृत पृ०सं०, 382
13. श्रीमद्भगवद्गीता, 9.27
14. 'अद् भक्षणे' धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'अदोऽनन्ने' (अष्टा० 3.2.68) सूत्र के निपात से अन्न शब्द बनता है। साधक संजीवनी, अध्याय 3.14-15 टीका से उद्धृत, पृ०सं० 195
15. "अन्नं वै प्रजापति", प्रश्नोपनिषद् 1.14
16. श्रीमद्भगवद्गीता, 3.14
17. तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.1-2
18. श्रीमद्भगवद्गीता, 14.5
19. तदेव, 17.7
20. तदेव, 18.40
21. सात्त्विक (सत्त्व+ठञ्) अर्थात् प्राकृतिक, शुद्ध, संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे
22. श्रीमद्भगवद्गीता, 17.8
23 (i) अमृताहुतिराज्याहुतिः अमृतं वा आज्यम्।
    आज्यं वै देवानां सुरभिः घृतं मनुष्याणाम्।। "कल्याण—वेदकथांक" वर्ष 73, सन् 1999

ई०, पृ०सं० 496

(ii) घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व, शु० यजु० 12.44; "कल्याण—वेदकथांक", वर्ष 73, सन् 1999 ई०, पृ०सं० 496

24. (i) तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।। श्रीमद्भगवद्गीता, 14.6

(ii) 'सत्त्वं' लघु प्रकाशकमिष्टम्", सांख्यकारिका- 13

25. गीता-प्रबन्ध, श्री अरविन्द, पृ०सं० 399

26. श्रीमद्भगवद्गीता 10.36

27. "अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। ..... अन्नं बहु कुर्वीत्। तदव्रतम्। ..... न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तदव्रतम्। तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.7-10

28. (i) श्रीमद्भगवद्गीता 14.14

(ii) ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था, श्रीमद्भगवद्गीता, 14.18

29. श्रीमद्भगवद्गीता, 17.9

30. श्रीमद्भगवद्गीता, 14.7; मनुस्मृति, 12.33

31. श्रीमद्भगवद्गीता, 14.12

32. तदेव, 3.36-37

33. तदेव, 14.16; मनुस्मृति— 12.29

34. रजसो लोभ एवं च, गीता, 14.17

35. 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः', गीता, 14.18

36. मनुस्मृति, 12.41

37. तामसिक (तमस्+ठञ्) अर्थात् अन्धकायुक्त, संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे

38. श्रीमद्भगवद्गीता, 17.10

39. मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः।। मनुस्मृति, 5.55

40. मनुस्मृति, 5.38, 45-49

41. मनुस्मृति, 2.58

42. छान्दोग्योपनिषद्, 6.6.2

43. श्रीमद्भगवद्गीता, 14.8; मनुस्मृति, 12.30, 34

44. श्रीमद्भगवद्गीता, 14.15; मनुस्मृति, 12.22

45. (i) अज्ञानं तमसः फलम्, गीता, 14.16

(ii) प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च, गीता, 14.17

46. मनुस्मृति, 5.108

47. छान्दोग्योपनिषद्, 3.17.1

48. चाणक्यनीतिदर्पण, 8.3

49. श्रीमद्भवद्गीता, गूढ़ार्थदीपिका, अध्याय 18.78 टीका से उद्धृत, पृ० स० 901

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची :

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1979
2. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, हिन्दीभाषानुवादकार— प० ढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, सम्वत् 2020
3. डा० पाण्डुरङ्ग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास— चतुर्थ भाग, सम्पादक—अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति उ०प्र० शासन, लखनऊ, 1973
4. मधुसूदन सरस्वती, श्रीमद्भगवद्गीता 'गूढ़ार्थदीपिका', हिन्दी व्याख्याकार— डॉ० मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2005
5. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत— हिन्दी-कोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973
6. शांकरभाष्योपेता, ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत्— 2068
7. श्री अरविन्द, गीता-प्रबन्ध, अनुवादक-जगन्नाथ वेदालंकार, श्रीअरविन्द आश्रम पांडिचेरी, द्वितीय संस्करण, 2000
8. मनुस्मृति, व्याख्याकार— पं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत्, 1977
9. सम्पादक— डॉ० नरेश झा, चाणक्यनीतिदर्पणः, व्याख्याकार— डॉ० गुंजेवर चौधरी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
10. सम्पादक— पं० अमोलकराम शास्त्री, छान्दोग्योपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना, 1890
11. सम्पादक— राधेश्याम खेमका, कल्याण 'वेदकथांक', कल्याण वर्ष— 73, (जनवरी-फरवरी अंक), गीता प्रेस, गोरखपुर, सन् 1999 ई०
12. स्वामी रामसुखदास कृत, श्रीमद्भगवद्गीता 'साधक संजीवनी', गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत्— 2068

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 45-49

आचार्य नवल किशोर काँकर रचित राष्ट्रवेद : विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ० डॉली जैन*

परम्परागत संस्कृत शिक्षा की दृष्टि से राजस्थान की धरती सदैव उर्वर रही है। यहाँ के महाकवि माघ और हरिभद्र सूरि जहाँ 7वीं सदी से ही संस्कृत साहित्याकाश को आलोकित कर रहे हैं, वर्तमान सदी में यहाँ अनेक विद्वानों ने संस्कृत एवं वैदिक वाङ्मय में असाधारण श्रीवृद्धि का प्रतिमान कायम किया है। पं० नवल किशोर काँकर इसी परम्परा के मनीषी हैं और उनकी गणना राजस्थान के संस्कृत विद्वानों के अग्रिम पंक्ति में की जाती है। संस्कृत साहित्य एवं वैदिक वाङ्मय को आपने अपने अनेकानेक नवीनतम उत्कृष्ट ग्रन्थों एवं रचनाओं से समृद्ध किया है। आपने यहाँ उत्कृष्ट गद्य रचना करके अभिनव बाण का नाम पाया है वहाँ ऋषि युग के बाद अब नवीन वैदिक रचना प्रकाशित करके ऋषि-मुनियों में स्थान बना लिया है। आपने वैदिक भाषा और वैदिक छन्दों में ही नवीन वैदिक रचना राष्ट्रवेद के नाम से प्रस्तुत की है। इन नवीन वेद मन्त्रों को लिखकर भी प्राचीन वेद मन्त्रों से पृथक् रखने के लिए इन नए मन्त्रों में प्राचीन परम्परानुयायी श्री कॉकर ने स्वरांकन नहीं किया है।

वेद शब्द सत्ता, ज्ञान, विचार, लाभ (प्राप्ति) इन अर्थों के साथ चेतना, आख्यान और विचार इन अर्थों को भी प्रकट करता है। 'विद्' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर वेद शब्द निष्पन्न होता है। अदादि, दिवादि, तुदादि, रुधादि गण की विद् धातु से क्रमशः उपर्युक्त सात अर्थ प्रकट होते हैं। विद् धातु सत्तार्थ में दिवादि गणीय, ज्ञानार्थ में अदादि गणीय, विचारार्थ में रूधादि गणीय, लाभार्थ में तुदादि गणीय और चेतन, आख्यान एवं विचारार्थ में चुरादिगणीय है। इस तरह इसके सात अर्थ हैं, परन्तु इसके तीन ही प्रधान अर्थ गृहीत होते हैं— ज्ञान, सत्ता और लाभ। तदनुसार वैयाकरण लोग वेद शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं— **'विद्यन्ते, ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा येन स वेदः'** अथवा **विदन्ति, जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति सर्वाः सत्यविद्या यैयेषु वा स वेदः**। इसके अनुसार राष्ट्रवेद शब्द का अर्थ होता है :— जिस राष्ट्रवेद से राष्ट्रधर्म अथवा तद्विषयीभूत पुरुष जाने जाते हैं या प्राप्त होते हैं वह राष्ट्रवेद है या जो वेद राष्ट्र की समुन्नति के उपाय को किंवा उसके परिचय को प्रकट करता है वह राष्ट्रवेद है।

ग्रन्थारम्भ में लेखक के द्वारा मङ्गलप्राप्ति पूर्वक विघ्नविनाशार्थ अपने अभीष्ट देवता का स्मरण-नमन आदि किया जाता है ऐसी प्राचीन परम्परा है। आप्तवाक्य भी इसे प्रमाणित करते हैं।[1] आचार्य श्री काँकर ने इस राष्ट्रवेद के प्रारम्भ में राष्ट्र-गायत्री मन्त्र लिखा है—**''महो राष्ट्रस्य धीमहि वरीयो द्युम्नवर्धनम्। धियस्तन्नः प्रशोधयात्।।''**

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत, दर्शन और वैदिक अध्ययन विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

अर्थात् हम सब भारत राष्ट्र के निवासी समस्त ज्योतियों से श्रेष्ठतम तथा यश-वैभावादि के वृद्धि साधनभूत इस राष्ट्रदेव के तेज का ध्यान करते हैं। यह उत्कृष्ट तेज हम सब भारतीयों के कार्यकलापों को और बुद्धि को शुद्ध करे।

इस राष्ट्र गायत्री मन्त्र में श्री काँकर ने राष्ट्र ज्योति से अर्थात् भगवान् राष्ट्रदेव से बुद्धि को शुद्ध करने की प्रार्थना की है। राष्ट्रवेद में ग्यारह सूक्त हैं और सभी में ऋषि के स्थान पर श्री काँकर का उल्लेख है। प्रस्तुत राष्ट्रवेद का सूक्तानुसार विषय वर्णन, छन्द, देवता आदि का विवेचन इस प्रकार है—

(1) प्रथम सूक्त : प्रथम सूक्त **श्रेयः** सूक्त है। इसमें पहली ऋचा की लक्ष्मी देवता और शेष के विष्णु देवता हैं। इसमें 7 ऋचाएँ हैं। छन्दों में प्रथम छह ऋचाओं का त्रिष्टुप् और सातवीं का भूरिक् त्रिष्टुप् छन्द है। राष्ट्राभ्युदय में इस सूक्त का विनियोग माना गया है। इस सूक्त में श्रीकाँकर प्रथम ऋचा से लक्ष्मी की स्तुति करके[2] अवशिष्ट ऋचाओं से भगवान् विष्णु का स्मरण करते हैं और विष्णु से राष्ट्राभ्युदय की याचना करते हैं। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों में उपमा अलङ्कार का सौन्दर्य दर्शनीय है।[3] इस सूक्त में श्रीकाँकर जी ने विष्णु को सर्वव्यापक[4] ब्रह्मस्वरूप[5], सुदर्शनचक्रधारक[6], चतुर्भुज[7], अनादि[8] और त्रिपाद से त्रैलोक्य को नापने वाला[9] कहा है।

(2) द्वितीय सूक्त : द्वितीय सूक्त **गुरु** सूक्त है। इसका देवता गुरु है। इसमें 12 ऋचाएँ हैं। इसमें उष्णिक्, त्रिष्टुप्, भूरिक् त्रिष्टुप्, वृहती, निचृत् जगती, निचृत् त्रिष्टुप्, आस्तार पङ्क्ति और गायत्री छन्द का प्रयोग किया गया है। इस सूक्त का विनियोग वेदाध्ययन में सफलता के लिए बताया गया है।

इस सूक्त में श्री काँकर ने अपने वैदिक वाङ्मय के गुरू श्री मधुसूदन ओझा जी की स्तुति करते हुए कहा है कि आप अपने ज्ञान वैभव से सूर्यलोक तक की भी बात जानते हैं। अतः मेरे मन की बात जानना तो साधारण सा काम है। मैं पत्नी सहित आपका स्तवन करता हूँ।[10] श्री काँकर जी ने अपने गुरु को पिता के समान अच्छे कार्यों में लगाने वाला कहा है।[11] श्री काँकर जी ने अपने वैदिक गुरु के साथ-साथ विहारिन्[12] इस पद से अपने साहित्य गुरु श्री बिहारी लाल जी महाराज का भी उल्लेख किया है।

(3) तृतीय सूक्त : यह **भारतभूमि** सूक्त है। इसका भारतभूमि देवता है। इसमें 10 ऋचाएँ हैं। इसमें गायत्री, त्रिष्टुप्, विराट् गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, पथ्या बृहती एवं परोष्णिक् आदि छन्द हैं। इस सूक्त का विनियोग लोककल्याणकारी कार्यों के आरम्भ में, राष्ट्रपर्व में और ध्वजारोहण के अवसरों में बताया गया है। यह सूक्त राष्ट्र भक्ति से ओत-प्रोत है। श्री काँकर कहते हैं कि भारतभूमि पर जन्म ग्रहण करने के लिए स्वर्गवासी देवता भी अपने स्वामी देवेन्द्र से सदा प्रार्थना करते रहते हैं।[13]

(4) चतुर्थ सूक्त : यह सूक्त राष्ट्रसूक्त है। इसका देवता भारत राष्ट्र देवता है। इसमें 17 ऋचाएँ हैं। इसमें वृहती, त्रिष्टुप्, जगती, निचृत त्रिष्टुप्, भुरिक् गायत्री, अनुष्टुप्, गायत्री, पुर उष्णिक् और त्रिपात्, विराट् गायत्री छन्द है। इस मन्त्र का विनियोग राष्ट्र पर्वों के अवसर पर देश भक्ति के अभिलाषी को करना चाहिए। इसमें राष्ट्र प्रेम का आधिक्य दिखलाई पड़ता है। श्री काँकर कहते हैं कि भारत वर्ष का वर्णन हमारे प्राचीन महर्षि प्रणीत वेदमन्त्रों में प्राप्त होता है[14] स्वयं देवराज इन्द्र भी स्वर्ग में भारत जैसा सफल प्रशासन स्थापित करना चाहता है[15] क्योंकि भारत लड़ने के लिए उद्यत शत्रु के आगे भी मित्रता का हाथ ही बढ़ाता है[16] परन्तु शान्तिप्रिय यह राष्ट्र आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करने को भी प्रस्तुत रहता है।[17] यहाँ विभिन्न

जाति के लोग, विभिन्न मतों को मानने वाले और विभिन्न भाषा वाले लोग रहते हैं, परन्तु यह भारत राष्ट्र सभी को समान सुख प्रदान करता है।[18]

(5) पञ्चम सूक्त : यह सूक्त **राष्ट्रपति** सूक्त है। इस सूक्त का भारत राष्ट्रपति देवता है। इसमें 16 ऋचाएँ हैं। इसमें त्रिष्टुप्, गायत्री, पुर उष्णिक् और अनुष्टुप् छन्द हैं। बहुफल प्रदाता होने के कारण इस सूक्त का बहुविध कार्यों में विनियोग माना गया है। इस सूक्त में श्री काँकर वेद भगवान् से भारत के राष्ट्रपति की दीर्घायुष्य की कामना करते हैं और स्तवन करते हैं।[19] वे कहते हैं कि जो लोग भारत की सम्पत्ति को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं उनके लिए हमारे राष्ट्रपति सिंह की तरह प्रस्तुत रहते हैं।[20] हमारे राष्ट्रपति अपने नीति कौशल से स्वराष्ट्र और परराष्ट्र की सभी गतिविधियों को तत्काल जान लेते हैं।[21] अतः राष्ट्र को समुन्नत करने की कामना वाले हमारे राष्ट्रपति के दीर्घ जीवन के लिए हम भारतीय प्रार्थना करते हैं।[22]

(6) षष्ठ सूक्त : यह **गाँधी** सूक्त है। इसके देवता महात्मा गाँधी हैं। इसमें पाँच ऋचाएँ हैं। इसमें त्रिष्टुप्, भुरिक् त्रिष्टुप्, महाबृहती और गायत्री छन्द हैं। इसका विनियोग राष्ट्रोपद्रवशान्ति के लिए किया गया है। इस सूक्त में श्री काँकर के अनुसार गाँधी जी के कारण ही हमें स्वतन्त्रता मिली है। गाँधीजी ने ही अहिंसक युद्ध के द्वारा भारत को स्वतन्त्र करवाकर स्वराज्य प्राप्त करवाया है।[23] श्री काँकर इस समय भी गाँधी जी से सद्बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं। जिससे हम भारतीय अपने शत्रुओं को रक्तपात के बिना ही पराजित कर सकें।[24]

(7) सप्तम सूक्त : यह सूक्त **जवाहरलाल नेहरू** सूक्त है। इसके देवता जवाहरलाल नेहरू है। इसमें 5 ऋचाएँ हैं। इसमें पथ्यापंक्ति, सती वृहती, जगती, ज्योतिष्मती जगती और त्रिष्टुप् छन्द हैं। राष्ट्र के उद्योगों में सफलता लाभ के लिए सूक्त का विनियोग बताया गया है। इसमें पं० जवाहरलाल नेहरू का वर्णन है। श्री काँकर कहते हैं कि नेहरू जी स्वतन्त्रता महायाग के पूरक थे।[25] नेहरू जी ने ही सर्वत्र शान्ति स्थापना के लिए पंचशील सिद्धान्त की स्थापना की थी।[26] श्री काँकर नेहरू जी के भारतवर्ष में पुनर्जन्म ग्रहण करने की अपेक्षा करते हैं और कहते हैं कि भारत में आपका पुनर्जन्म किसी मरणासन्न प्राणी को अमृत प्रदान करने के समान होगा।[27]

(8) अष्टम सूक्त : यह सूक्त **इन्दिरा** सूक्त है। इसकी इन्दिरा देवी देवता हैं। इसमें आठ ऋचाएँ हैं। इसमें त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जगती एवं अतिजगती छन्द हैं। सभी कार्यों में उन्नति की प्राप्ति के लिए इस सूक्त का विनियोग बताया गया है। इस सूक्त में भारत की पूर्व प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी और श्लेष के माध्यम से लक्ष्मी जी का भी वर्णन किया गया है।

(9) नवम सूक्त : यह सूक्त **कृषक सूक्त** है। इसका देवता भारतीय कृषक है। इसमें आठ ऋचाएँ हैं। इसमें गायत्री, पुरोष्णिक्, उष्णिक्, अतिपात् निचृत् और त्रिपाद् गायत्री छन्द हैं। धान्यवपन के प्रथम दिन इसका विनियोग माना गया है। इसमें श्री काँकर जी ने भारतीय कृषक का सजीव चित्रण किया है। वे भारतीय कृषक की तुलना तपस्वी से करते हुए कहते हैं कि कृषक भी अत्यन्त कृश शरीर का, भूख-प्यास, शीत, वर्षा, धूप आदि को सहन करता हुआ तपोयोग का ही अनुष्ठान करता है।[28] कृषक सूर्योदय के पूर्व ही अपने काम में व्यापृत हो जाता है।[29] इसकी पत्नी भी खेती के काम में हाथ बँटाती हुई कामों में लगी रहती है।[30]

(10) दशम सूक्त : यह सूक्त **भाग्यचक्र** से सम्बद्ध है। इस सूक्त का नामकरण भाग्य के पर्याय दिष्ट शब्द से किया गया है। इसका भाग्यचक्र या कालचक्र देवता है। इसमें छह ऋचाएँ हैं। इसमें निचृत् जगती, जगती और अनुष्टुप् छन्द हैं। अपने अभ्युदय की कामना करने वाले के लिए इस सूक्त का विनियोग बताया गया है। इस सूक्त में श्री काँकर ने भाग्यचक्र की महिमा का गुणगान किया है। आपने वर्तमान धन लोलुपता की प्रवृत्ति का भी संकेत किया है कि मनुष्य धन के लिए अपने बन्धु तक को भी मारने में नहीं हिचकिचाते।[31] गो हत्या से आहत होकर वे कहते हैं कि धन के लोभी मनुष्य आज दूध, दही प्रदान करने वाली गायों तक की हत्या करवा रहे हैं।[32]

(11) एकादशसूक्तः यह **अभीष्ट** सूक्त है। इसकी शुरू की पाँच ऋचाओं का देवता अग्नि या योगिराज दाता है। इसमें छह ऋचाएँ हैं। इसमें त्रिष्टुप्, सतः पंक्ति, जगती, अनुष्टुप् और गायत्री छन्द हैं। इस सूक्त का बहुविध विनियोग बताया गया है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों में श्री काँकर जी ने अपनी पुत्री के विवाह के अवसर पर उसको आशीर्वाद दिया है। हे पुत्री ! तुम दोनों ऐश्वर्य सम्पन्न दाम्पत्य सुख प्राप्त करो। तुम इसके साथ सांसारिक सुखों का उपभोग करो। तुम दोनों के मन सदा मिले रहें और तुम वृद्धावस्था पर्यन्त सुखपूर्वक रहो।[33] अन्य मन्त्रों में भी श्री काँकर ने अपनी पुत्री के चिर सौभाग्य की कामना की है। अन्त में राष्ट्र गायत्री मन्त्र से ही इस सूक्त की समाप्ति की है। राष्ट्रवेद के लेखन से आपने अपने को पावनतम माना है।

इस प्रकार आधुनिक ऋषि श्री नवल किशोर काँकर ने "राष्ट्रवेद" नामक वेद की रचना की है। प्रस्तुत शोध-पत्र का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है—

1. यह वेद ग्रन्थ पुरुष विशेष के द्वारा रचित है और इसमें लौकिक विषयों का ही वर्णन है, इसलिए यह विशुद्ध पौरुषेय है।

2. श्री काँकर ने स्वयं के लिए ऋषि शब्द का प्रयोग किया है। शतपथ ब्राह्मण में वेदों को काव्य माना गया है[34] और अनेक जगह ऋषि व कवि में अभेद माना गया है।[35] सम्भवतः इसी दृष्टि से श्री काँकर ने स्वयं को ऋषि कहा है।

3. श्री काँकर के राष्ट्रवेद में राष्ट्र भक्ति की दृढ़ भावना व्यक्त होती है। राष्ट्र नायक जैसे महात्मा गाँधी, पं० नेहरू आदि का आपने स्मरण किया है। इनके पुनराविर्भाव की भी आपने कामना की है। इस प्रकार-प्राकारान्तर से इन्होंने आज के नेताओं को गाँधी, नेहरू के समान आचरण करने का सन्देश दिया है।

4. भारतीय कृषक वर्ग भी आपकी करुणा का विषय बना है। कृषकों की दुःस्थिति सुधारने का सन्देश भी आपने दिया है।

सन्दर्भ-सूचीः

1. मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति। महाभाष्य।
2. राष्ट्रवेद 1/1
3. राष्ट्रवेद 1/5
4. राष्ट्रवेद 1/2
5. राष्ट्रवेद 1/4

6. राष्ट्रवेद 1/4
7. राष्ट्रवेद 1/5
8. राष्ट्रवेद 1/6
9. राष्ट्रवेद 1/3
10. राष्ट्रवेद 2/10
11. गुरो न्ययुङ्क्था नु मा वेदाभ्यासेऽपीवृत्ते।
    जनयिता न न्ययुङ्क्त सुक्रतौ स्वात्मजम्।। राष्ट्रवेद 2/1
12. राष्ट्रवेद 2/12
13. राष्ट्रवेद 3/5
14. राष्ट्रवेद 4/7
15. राष्ट्रवेद 4/9
16. राष्ट्रवेद 4/1
17. राष्ट्रवेद 4/3
18. राष्ट्रवेद 4/12
19. राष्ट्रवेद 5/1
20. राष्ट्रवेद 5/3
21. राष्ट्रवेद 5/14
22. दिवे दिवे दधिमा शंसमस्मिन् देवा धत्त न्यक्थ्यं यशो गभस्त्योः।
    तद् द्युक्षानीमहे सदं वो व्युषि सं यजध्वै कृणुध्वं दीर्घमायुः।। राष्ट्रवेद 5/15
23. राष्ट्रवेद 6/2
24. राष्ट्रवेद 7/1
25. राष्ट्रवेद 7/1
26. राष्ट्रवेद 7/2
27. राष्ट्रवेद 7/3
28. राष्ट्रवेद 9/1
29. राष्ट्रवेद 9/2
30. राष्ट्रवेद 9/4
31. राष्ट्रवेद 10/4
32. राष्ट्रवेद 10/1
33. सञ्जास्पत्यं सुभगमस्तु वत्से पत्यैनोत तेजिष्ठा भुङ्क्ष्व भोगान्।
    समङ्क्तां दाता सुमनांसि वां नु मा वियौष्ठं जरिम्णे व्यश्नुतं शम्।। राष्ट्रवेद 11/1
34. त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दः। शतपथ ब्राह्मण 8/5/2/4
35. (i) ऋषयः कवयः। मैत्रायणी ब्राह्मण 4/1/2
    (ii) एते वै कवयो यद् ऋषयः। शतपथ ब्राह्मण 1/4/2/8

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 50-53

प्रश्नोपनिषद् में प्राण का स्वरूप

नितेश व्यास*

वेदों का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् को वेदान्त भी कहा जाता है। वेदान्त का मूल प्रतिपाद्य विषय जीवब्रह्मैक्य, विशुद्ध चैतन्य परब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त कराने के लिए उपनिषदों में अनेक प्रकार की उपासनाओं का निरूपण किया गया है जिसका अनुसन्धान करके मनुष्य ईश्वर सायुज्य पद प्राप्त कर सकता है। इन उपासनाओं में प्राणोपासना भी अन्यतम है जिसके माध्यम से उपनिषद् विज्ञ ऋषिप्रज्ञा ने उत्कर्ष को प्राप्त किया है। प्राण ही सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत् प्राण की शक्ति से यत्किञ्चित् अभिभूत है। इस प्राणतत्त्व का प्रतिपादन विभिन्न नामों से उपनिषद् में पदे-पदे मिलता है किन्तु प्रश्नोपनिषद् में इस प्राणतत्त्व के विविध रूपों तथा प्राण की विविध शक्तियों का प्रतिपादन किया गया है। परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जब प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई तो उन्होंने संकल्प रूप तप किया। तप से उन्होंने सर्वप्रथम रयि तथा प्राण, दोनों का जोड़ उत्पन्न किया— **स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं च....।**[1]

इन्हीं से परमात्मा ने आगे सृष्टि कार्य करवाया। इनमें जो सबको जीवन प्रदान करने वाली जीवनी शक्ति है उसे ही प्राण नाम दिया गया है। इस जीवनी शक्ति के प्रभाव से ही प्रकृति के स्थूल स्वरूप में समस्त पदार्थों में जीवन, स्थिति और यथायोग्य सामञ्जस्य आता है। इसके अतिरिक्त स्थूल भूतसमुदाय का नाम 'रयि' है।[2] जो प्राणरूप जीवनी शक्ति से अनुप्राणित होकर कार्य करने में सक्षम होता है। अतः प्राण को चेतना तथा रयि को आकृति कहा जा सकता है। ये रयि तथा प्राण ही कहीं प्रकृति-पुरुष तो कहीं अग्नि-सोम नाम से व्यवहृत होते हैं।

1. आदित्य का प्राण रूपेण प्रतिपादन—केनोपनिषद् में प्राण का अनेक रूपों में विवेचन किया गया है जिसमें सर्वप्रथम प्राण का आदित्यरूप में वर्णन करते हुए कहा गया है कि—''**आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा...।**''[3] '**अग्निसोमात्मकं जगत्**' इस वचन के अनुसार यह संपूर्ण विश्व दो तत्त्वों से मिलकर बना है। यह सूर्य जो हमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है वही प्राण है क्योंकि इसी में सबको जीवन प्रदान करने की चेतना शक्ति का आधिक्य है। यह आदित्य ही उस सूक्ष्म जीवनी शक्ति का घनीभूत स्वरूप है। समस्त प्राणियों के स्थूल शरीरों का पोषण इस रयि अथवा चन्द्रमा की शक्ति को पाकर ही होता है। प्रत्येक शरीर में ये दो शक्तियाँ अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त है उनमें जीवनी शक्ति का सम्बन्ध सूर्य रूप प्राणतत्त्व से है तथा मांस, मज्जा आदि स्थूल तत्त्वों का सम्बन्ध रूप रयि तत्त्व से है।

यह आदित्य रूप प्राण ही पूर्वदिशा में उदय होकर अपना प्रकाश फैलाता हुआ समस्त प्राणियों के प्राणों को अपनी किरणों से धारण करता है। इसी प्रकार सूर्य जिस समय जिस दिशा में अपना प्रकाश

* प्राध्यापक, महिला पी.जी. महाविद्यालय, जोधपुर

फैलाता है वहाँ-वहाँ प्राणियों को स्फूर्ति देता है अतः यह सूर्य ही समस्त प्राणियों का प्राण है—**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।**[4]

छान्दोग्य उपनिषद् में इस आदित्य प्राण को प्रणव एवं उद्गीथ रूप में प्रतिपादित किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो उद्गीथ है वही ऋग्वेदियों का प्रणव है उसी प्रणव को छान्दोग्योपनिषद् में उद्गीथ कहा गया है। आदित्य की उद्गीथ रूप में प्रस्तावना करते हुए कहा गया है कि "क्योंकि वह उद्गीथ संज्ञक अक्षर ॐकार को 'स्वरन्' उच्चारण करते हुए जाता है अथवा 'स्वरन्' यानि चलने वाला सूर्य, प्राणों की प्रवृत्ति के प्रति 'ॐ' इस प्रकार अनुज्ञा करता है।" अतः यहाँ सविता को उद्गीथ संज्ञक ही माना है। यथा—**अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः इत्यसौ वा आदित्यः उद्गीथः एष प्रणव ओमिति ह्येषः स्वरन्नेति।**[5]

2. अग्निरूप प्राण—आदित्यरूप प्राण के स्वरूप के प्रतिपादन के अनन्तर प्रश्नोपनिषद् में मनुष्य की देह में स्थित वैश्वानर अग्नि के रूप में प्राण का निरूपण किया गया है। प्राणियों के शरीर में जो 'जठराग्नि' नाम से कही जाने वाली वैश्वानर अग्नि है जो अन्न को पचाती है वह सूर्य का ही अंश है। अतः सूर्य ही है।[6] जैसाकि गीता में कहा गया है

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रिता।
प्राणापानसमायुक्तं पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।[7]

इसी अग्निरूप प्राण का विस्तार से विवेचन प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न, गार्ग्यमुनि एवं महर्षि पिप्पलाद के प्रश्नोत्तर संवाद में मिलता है। वहाँ प्रश्न है कि गाढ़ निद्रा के समय मनुष्य शरीर में कौन-कौन देवता जाग्रत रहते हैं? इसका उत्तर मुनि पिप्पलाद इस प्रकार देते हैं कि उस समय इस मनुष्य शरीर रूपी नगर में पञ्च प्राण रूप अग्नियाँ ही जाग्रत रहती हैं।[8] यहाँ निद्रा की यज्ञ रूप में उद्भावना की गयी है। अतः पञ्च प्राण के पञ्चाग्नि रूप बताया गया है। जिस प्रकार यज्ञ में अग्नि ही प्रधान देवता होता है उसी प्रकार इस नरदेह में प्राण मुख्य देवता है।

यज्ञ रूपक में किस प्राणवृत्ति की किस अग्नि के रूप में कल्पना की गयी है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि शरीर में जो प्राण की अपान वृत्ति है वही इस यज्ञ की गार्हपत्याग्नि है, व्यान दक्षिणाग्नि है, मुख्य प्राण इस कल्पना में आहवनीय अग्नि है।[9] यह जो मुख्य प्राण श्वास-प्रश्वास के रूप में शरीर के बाहर निकलता है एवं भीतर आता है, वही इस यज्ञ की आहुतियाँ है, इन आहुतियों द्वारा जो पोषक तत्त्व शरीर में प्रविष्ट होते हैं वे ही हवि हैं। इस हवि को समस्त शरीर में आवश्यकतानुसार समभाव का कार्य समान वायु का है। अग्नि रूप होने पर भी आहुतियों को पहुँचाने का कार्य करने के कारण इसे 'होता' कहा गया है जो कि अग्नि का ही एक विशेषण है—

अग्निमिळे पुरोहितं यज्ञस्यदेवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।[10]

इस यज्ञ का यजमान मन है एवं उदान वायु इस यजमान का अभीष्ट फल है क्योंकि जिस प्रकार अग्निहोत्र करने वाले यजमान को उसका अभीष्टफल उसे अपनी ओर आकर्षित करके कर्म फल का भोग करने के लिये स्वर्गादि लोकों में ले जाता है उसी प्रकार यह उदान वायु मन को प्रतिदिन निद्रा के समय उसके कर्म फल के भोग स्वरूप ब्रह्मलोक में परमात्मा के निवास स्थानरूप हृदयगुहा में ले जाता है। जहाँ वह शान्ति का अनुभव करता है।

3. संवत्सर रूप प्रजापति एवं प्राणोपासना—उपनिषदों में विविध रूपकों के माध्यम से परब्रह्म परमेश्वर तथा उसकी प्राप्ति के साधन भूत प्राण तत्त्व का विवेचन मिलता है। इसी क्रम में परमेश्वर को संवत्सर का रूप बताया गया है। इसमें दो अयन है दक्षिण एवं उत्तर। इनमें उत्तर अङ्ग प्राण है अर्थात् वही इस विश्व के आत्मरूप उस परमेश्वर का सर्वान्तर्यामी स्वरूप है एवं दक्षिण अङ्ग रयि अर्थात् उसका बाह्य भोग्य स्वरूप है। संपूर्ण इष्टापूर्त कर्म उस संवत्सर रूप परब्रह्म के दक्षिण अङ्ग की उपासना है। इसके प्रभाव से चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है तथा कर्मफल भोगने के उपरान्त पुनः इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। यही पितृयाण मार्ग है। इसके विपरीत श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अध्यात्म विद्या के द्वारा परमेश्वर की निष्काम उपासना करते हैं, यही उस संवत्सररूप प्रजापति के उत्तर अङ्ग की उपासना है। इसे ही ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति की उपासना कहा गया है। इसके उपासक उत्तरायण मार्ग से सूर्यलोक में जाकर परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। यह सूर्य ही संपूर्ण जगत् के प्राणों का केन्द्र है।

4. प्राण की परब्रह्म रूप में उपासना—प्रश्नोपनिषद् के द्वितीय प्रश्न में महर्षि पिप्पलाद एवं भार्गव के संवाद में प्राण को परब्रह्म परमेश्वर रूप में वर्णन किया गया है। वहाँ रोचक संवाद के द्वारा प्राणों की सभी देवों में श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। संपूर्ण चराचर जगत् को धारण करने का सामर्थ्य उस प्राण तत्त्व में ही है। उस सर्वात्म स्वरूप प्राण की स्तुति में कतिचित् मन्त्र जो वाणी इत्यादि देवताओं द्वारा गाये गये हैं—

एषोऽग्नितपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु।
एष पृथिवीरयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्।।
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्मं च।।
देवानामसि वह्निनतमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वांगिरसामसि।
इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः।।....इत्यादि[11]

इसी का समर्थन करते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि प्राण ही आशा से बढ़कर है जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरें समर्पित रहती हैं, उसी प्रकार इस प्राण में सारा जगत् समर्पित है। प्राण ही अपनी शक्ति के द्वारा गमन करता है, प्राण प्राण को देता है और प्राण के लिये ही देता है। प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है, प्राण भातृ-भगिनी है, वही आचार्य है तथा प्राण ही ब्राह्मण है—

प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।।[12]

यहाँ पितृ आदि शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ का त्याग करके उनका प्राण विषयक होना सिद्ध किया गया है क्योंकि प्राण रहने पर ही पिता आदि के लिये पितृ आदि शब्दों का व्यवहार होता है। इसके उत्क्रमण करने पर इस प्रकार का व्यवहार भी नहीं होता। अतः प्राण ही सभी का प्रकाशक है।

प्राण ब्रह्म की उपासना का विवेचन करते हुए तैत्तिरियोपनिषद् की भृगु वल्ली में वरुण पुत्र भृगु प्राण की ब्रह्म रूप में उपासना का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्राण ही ब्रह्म है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि

मृत शरीर में प्राण नहीं रहते—

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति।।[13]

इस जगत् में जितने भी देवता, मनुष्य, पशु आदि शरीरधारी प्राणी है, वे सभी प्राण के सहारे ही जी रहे हैं। प्राण के बिना किसी का भी शरीर नहीं रह सकता क्योंकि प्राण ही सब प्राणियों की आयु अर्थात् जीवन है। अतः तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में प्राण को '**सर्वायुषः**' कहा गया है। वहाँ इस सर्वायुष्य रूप प्राण की ब्रह्मरूपेण उपासना का फल बताते हुए कहा गया है कि साधक 'यह प्राणियों की आयु है अतः सबका जीवन है।' यह समझकर प्राण की उपासना करता है वह पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है—**प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते...।**[14]

प्रश्नोपनिषद् भी इस प्राण ब्रह्म की उपासना की फलस्तुति करते हुए कहता है कि जो कोरे विद्वान् इस प्राण के रहस्य को समझ लेता है, समझकर उसे हर प्रकार से सुरक्षित रखता है, उसकी अवहेलना नहीं करता, उसकी सन्तान परम्परा अविच्छिन्न रहती है क्योंकि उसका वीर्य अमोघ एवं अद्‌भुत शक्ति सम्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त साधक यदि इस प्राणतत्त्व के आध्यात्मिक रहस्य को समझकर अपने जीवन को सार्थक बना लेता है एवं क्षणभर भी उस ब्रह्म स्वरूप के चिन्तन से विचलित नहीं होता वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है—

उत्पत्तिमायातिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति।।[15]

सन्दर्भ-सूचीः

1. प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न, मन्त्र संख्या - 4
2. तस्मान्मूर्तिरेव रयिः। प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न, मन्त्र - 5
3. वही।
4. ऋग्वेद, सवितृ सूक्त।
5. छान्दोग्योपनिषद्, पञ्चम खण्ड, मन्त्र-1
6. स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्। प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न, मन्त्र-7
7. भगवद्‌गीता 15/14
8. प्राणाग्नयः एव एतस्मिन्पुरे जाग्रति। प्रश्नोपनिषद्, चतुर्थप्रश्न, मन्त्र - 3
9. गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्य पचनो यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादावहनीय प्राणः। वही
10. ऋग्वेद, अग्निसूक्त 1.1
11. प्रश्नोपनिषद्, द्वितीय प्रश्न, मन्त्र - 5,6,8,9
12. छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय-7, खण्ड-15, मन्त्र-1
13. तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, तृतीय अनुवाक।
14. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, तृतीय अनुवाक।
15. प्रश्नोपनिषद्, तृतीय प्रश्न, मन्त्र 12

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 54-60

पातञ्जलयोगोक्त परिकर्मपरिशीलन

डॉ. सुधांशु कुमार षडङ्गी*

कलिकलुषदूषित इस चराचर प्रपञ्च में आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति हेतु योगोक्त मार्ग को श्रेष्ठ कहा गया है। यह योग पुरुष के आत्यन्तिकस्वरूपावस्थान में हेतुभूत चित्तवृत्तियों के निरोधरूप ही है।[1] यह पतञ्जलि के द्वारा कहा गया चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योग अधिकारी के भेद से तीन प्रकार का है। जैसे—उत्तम अधिकारी—जो कि योगारुढ़ संज्ञक है, मध्यम अधिकारी – जो कि युञ्जान संज्ञक है और अधम अधिकारी – जो कि आरुरुक्षु संज्ञक है – इनके लिए अभ्यास और वैराग्य[2], क्रियायोग[3] तथा अष्टाङ्गयोग[4] का निर्देश योगसूत्र में दिया गया है। यद्यपि उत्तम अधिकारी के लिए ईश्वरप्रणिधानरूप[5] वैकल्पिक योगसाधनोपाय का ग्रहण किया गया है, तथापि अभ्यास और वैराग्य की महत्ता स्वीकृत है। इन दोनों में से चेतन तथा अचेन दृष्ट पदार्थों के प्रति एवं आनुश्रविक स्वर्गादि विषयों के प्रति वितृष्णा के साथ-साथ इन सभी विषयों के प्रति जो अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति होती है वह वैराग्य है और चित्त की स्थिरता के लिए किया गया प्रयत्न विशेष अभ्यास कहलाता है। वस्तुतः प्रारम्भिक अवस्था में चित्त एकाग्रता की अवस्था में ध्येयाकाराकारित रहने पर भी विक्षिप्तता के कारण ध्येय से अतिरिक्त विषयों में चित्त का सञ्चरण हो जाता है। इन बाह्यविषयों से हटाकर चित्त को बारम्बार ध्येय में ही लगाने को यत्न कहा गया है और यहाँ पर इस स्थिति को सम्पादित करने की इच्छा से उसके साधनों का जो अनुष्ठान होता है, उसे अभ्यास कहा जाता है। इस अभ्यास के अन्तरङ्गसाधन के रूप में परिकर्मों का ग्रहण किया जाता है। यह परिकर्माङ्ग ही प्रस्तुत शोधलेख का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें परिकर्मों का स्वरूप तथा भेदादि का निरपेक्ष निर्वचन किया जाएगा।

चित्त को त्रिविध मलों से परिष्कार करने वाला कर्मविशेष को परिकर्म कहा जाता है। अतः भास्वतीकार ने कहा है कि—**''उक्तस्य चित्तस्य योगशास्त्रेण स्थित्यर्थं यदिदं परिकर्मपरिष्कृतिनिर्द्दिश्यते....।''**[6]

योगवार्त्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षु ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। इनके मतानुसार परिकर्म चित्त की शुद्धि में तात्पर्य रखता है और यह चित्तस्थैर्य में प्रमुख उपाय है। अमरकोष में भी इसी का समर्थन किया गया है। जैसे—**क० ''परिकर्माङ्ग संस्कारः।''**[7] इसके स्पष्टीकरण में सुधा व्याख्या में कहा गया है कि—

''पेति परि मलवर्जनार्था क्रिया परिकर्म स्नानोद्वर्त्तनादिः 'प्रतिकर्म इति क्वचित्पाठः' अङ्गं संस्क्रियतेऽनेन।''[8] **ख० ''प्रतिकर्म प्रसाधनम्।''**[9] यहाँ पर कहीं कहीं प्रतिकर्म के रूप से स्वीकृत है,

---

* सहाचार्य, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत-भारती अनुशीलन संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय, साधु आश्रम, होशियारपुर, पंजाब

जैसे कि हम ऊपर देखें। सुधा व्याख्या में कहा गया है कि—

''प्रत्यङ्गं प्रतिख्यातं वा कर्म। शाकपार्थिवादिः। प्रसाध्यतेऽनेनाङ्गम्। करणे ल्यूट्।''[10]

यह परिकर्म 6 प्रकार का है—

1. चित्तप्रसाद।
2. विषयवती प्रवृत्ति।
3. विशोका वा ज्योतिष्मती।
4. विरक्तचित्तचिन्तनम्।
5. स्वप्ननिद्राज्ञानान्यतरज्ञानचिन्तनम्।
6. यथाभिमतध्यान।

इनका विस्तृत विवेचन नीचे किया जा रहा है।

1. चित्तप्रसाद :

इन 6 प्रकार के परिकर्मों में से यह प्रथम तथा महत्त्वपूर्ण है। यह चित्त का प्रसन्न होना है। प्रसाद शब्द से तात्पर्य चित्त का विषयों की कलुषता से शून्य होना है। योगशास्त्र में चित्तप्रसाद के दो उपाय बताये गये हैं। जैसे—सुखादि अनुभव प्राप्त वालों में मैत्री आदि की भावना तथा प्राणायाम। इन दोनों में से प्रथम उपाय के स्पष्टीकरण में सूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है कि—

''मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।''[11]

अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यशील और पापशील पुरुषों के प्रति क्रमशः, मित्रता, दया, मुदिता तथा उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न हो जाता है। वस्तुतः इस लौकिक संसार में सुखी, दुःखी, अच्छा, बुरा आदि हर तरह के प्राणी होते हैं। इन व्यक्तियों का अपने स्वभाव के अनुकूल राग, द्वेष आदि चित्त में उत्पन्न होता है। इसके कारण लोभ, क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार लोभ, क्रोध आदि स्वभाव वाले अपरिष्कृत चित्त को समाधि तथा उसका साधनभूत यौगिक सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता है। अतः इसके निवारण हेतु इन भावादि के प्रतिपक्षों की भावना का विधान बताया गया है। जैसे—सुख का आनन्दपूर्वक भोग करने वाले प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना करना चाहिए। दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा का प्रदर्शन करना चाहिए।

पुण्यशील प्राणियों के प्रति मुदिता तथा पापी प्राणियों के प्रति उपेक्षा की भावना करना चाहिए। इस प्रकार भावना करने पर साधक का सात्त्विक धर्म उदय होता है। जिसके कारण चित्त प्रसन्नता को प्राप्त करता है और प्रसन्न हुआ चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है।[12] चित्त प्रसाद का द्वितीय उपाय प्राणायाम है। प्राणायाम से चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है। अतः पतञ्जलि ने कहा है कि— **''प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।''**[13] अर्थात् प्राण का प्रच्छर्दन और विधारण करने से भी चित्त स्थिर होता है। प्राणवायु का शरीर के अन्दर से किसी एक नासापुट से प्रयत्न विशेष के साथ बाहर करना प्रच्छर्दन कहलाता है तथा उस प्राणवायु को संयत करके रखना विधारण कहलाता है। यहाँ पर प्रयत्न विशेष से योगशास्त्र में वर्णित पद्धति का ही ग्रहण किया गया है। श्रीविज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रच्छर्दन, रेचन तथा विधारण कुम्भक है। क्योंकि पूरण क्रिया के पश्चात् कुम्भक क्रिया होती है और भी रेचन क्रिया के अनन्तर पूरक किये बिना ही प्राणवायु का विधारण क्रिया भी सम्भव नहीं हो सकता है।[14] परन्तु स्मृतिशास्त्रों में तीन प्रकार के प्राणायाम स्वीकृत हैं। जैसे—रेचक, पूरक और कुम्भक। योगी याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि—**''प्राणायामश्च विज्ञेयो रेचकपूरककुम्भकाः।''**[15] परन्तु यहाँ पर प्रतीत होता है कि सूत्रकार को केवल दो प्रकार के प्राणायामों का

निर्वचन ही विवक्षित है। यहाँ पर एक शङ्का उत्पन्न होती है कि जब अधम अधिकारी के लिए उद्दिष्ट साधनों में से प्राणायाम का निर्वचन किया है, तो फिर इसमें क्यों किया गया है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारी के योगसाधन के रूप में यमादिनिरपेक्ष प्राणायाम ही उपदिष्ट हुआ है और यमादि अष्टाङ्गों में वर्णित प्राणायाम अधम अधिकारी के लिए उपदिष्ट है। यही इनमें भेद है। उत्तम अधिकारी केवल दो प्रकार के प्राणायाम से ही रागादि मलों के प्रक्षालन पूर्वक चित्त को स्थिर कर सकते हैं। अतः दोनों में कोई दोष नहीं है।

2. विषयवती प्रवृत्ति :

विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध आदि तन्मात्ररूप हैं। योग के स्वल्प अभ्यास से ही इन विषयों का साक्षात्कार करने वाली वृत्ति विषयवती प्रवृत्ति कहलाती है अर्थात् चित्त का जो साक्षात्कार होता है, वह दिव्य गन्धादि पाँच इसके विषयत्व के रूप से होते हैं। अतः इसे विषयवती प्रवृत्ति कही जाती है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु जी ने वार्त्तिक में कहा है कि—''**विषयाः गन्धादयः पञ्च विषयत्वेनास्य सन्तीति।**''[16] यह विषयवती प्रवृत्ति अपने अविषयीभूत विवेकपर्यन्त पदार्थों में भी श्रद्धादि को उत्पन्न करने में बाधक न होने के कारण स्थिति सम्पादिका रसप्रवृत्ति, रूपप्रवृत्ति, स्पर्शप्रवृत्ति और शब्दप्रवृत्ति हैं। ये सब योगशास्त्रानुमोदित पारिभाषिक शब्दस्वरूप है। इनमें से नासिकाग्र में धारणा करने वाले योगी को स्वल्प काल में ही जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, उसे गन्धप्रवृत्ति कहते हैं। उसी प्रकार जिह्वाग्र में धारणा करने वाले योगी स्वल्प अवधि में ही जो दिव्य रस का साक्षात्कार होता है उसे रसप्रवृत्ति कहा जाता है। तालु में धारणा करने वाले योगी को जो स्वल्प काल में ही साक्षात्कार होता है उसे रूपप्रवृत्ति कहते हैं। जिह्वा के मध्य में धारणा करने से योगी को अत्यल्प काल में ही जो दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होता है उसे स्पर्शप्रवृत्ति कहते हैं और जिह्वामूल में धारणा करने से योगी को स्वल्प अभ्यास से ही जो शब्द का साक्षात्कार होता है उसे शब्दप्रवृत्ति कहते हैं।

वस्तुतः यहाँ पर धारणादि योगानुष्ठान के स्थान के विषय में शङ्का उत्पन्न होती है, क्योंकि दर्शनान्तरों में रूपादिविषयों के साक्षात्कार का स्थान उपर्युक्त निर्दिष्ट स्थानों से भिन्न रूप से प्रतिपादित है। पुनः चाहे व्यास हो अथवा वार्त्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षु हो, दोनों ही तत्तत्स्थानों का निर्देश करने के पश्चात् शास्त्रप्रमाण से निश्चय करने के लिए कहा है। यह शास्त्र कौन है? जिनसे हम इनके स्थान का निश्चय करें। यदि उनसे प्रतिपादित ताल्वादि स्थल उपर्युक्त है तो शास्त्रान्तर प्रमाण की आवश्यकता क्या है? क्योंकि वह स्वयं ही प्रामाणिक शास्त्र है। इस विषय पर हरिहरानन्द आरण्यक जी का कथन उचित प्रतीत होता है। भाष्य की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि—''तालु के ऊपर ही आक्षिक स्नायु है। जिह्वा में स्पर्शज्ञान का अधिक प्रस्फुट भाव है और जिह्वामूल वाक्योच्चारण के सम्बन्ध से कान के साथ सम्बन्ध है। अतः इन स्थानों पर धारणा करने से ज्ञानेन्द्रिय की सूक्ष्मशक्ति प्रकट होती है। चन्द्रादि को स्थिर नेत्र से निरीक्षण कर नेत्र मुदित करने पर भी यथावत् उनके रूपों का ज्ञान होता रहता है। उन्हीं का ध्यान करते-करते उन्हीं रूपों से सम्बन्धित प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ये भी विषयवती है, क्योंकि ये रूपादि के अन्तर्गत है।''[17] इन गन्धादि प्रवृत्तियों का विवेकज्ञान पर्यन्तयोग की भूमियों में अतिशय श्रद्धा द्वारा चित्तस्थैर्य में कारण के रूप से स्वीकृत है। इनमें से स्थैर्यसंस्कार के द्वारा किसी एक शास्त्रीय पदार्थ का भी साक्षात्कार हो जाने पर अन्य प्रवृत्तियों का भी सिद्धि स्वतः हो जाती है। इस प्रकार श्रद्धातिशय प्राप्त होने पर स्थैर्य संस्कार से चित्त का

स्थिर हो जाना युक्ति सङ्गत प्रतीत होता है।

3. विशोका वा ज्योतिष्मती :

यह अभ्यास के तृतीय परिकर्माङ्ग है। यह दुःखरहित प्रकाशरूपक ज्योतिष्मती नामक परिकर्म है। इसके कारण चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। यह विशोका है क्योंकि इसमें से शोक चला गया है।[18] यह हेतुगर्भविशेषणभूत पद है।[19] अतः शोकरहित होने के कारण यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति चित्तस्थैर्य में हेतु है। इस ज्योतिष्मती के विवरण में आरण्यक जी ने कहा है कि—'परम सुखमय सात्त्विकभाव अभ्यस्त होने पर उसके द्वारा चित्त अवसिक्त रहता है, अतः इसका नाम विशोका है और सात्त्विक प्रकाश या ज्ञानालोक के आधिक्य के कारण इसका नाम ज्योतिष्मती है, यहाँ ज्योतिः तेजस् नहीं है, अपितु सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट विषय का प्रकाशकारक ज्ञानालोक है। भाष्यकार ने भी इस प्रवृत्ति को प्रवृत्त्यालोक कहा है। श्रीविज्ञानभिक्षु ने वार्त्तिक में ज्योतिष्मती की व्याख्या करते हुए कहा है कि—

''बुद्धिरूपं सत्त्वं भास्वरं स्वपरप्रकाशकं तेजोवद् आकाशवद्विभु च भवति, तत्र बुद्धौ स्थितिवैशारद्याद् निर्मलैकाग्र्याद् बुद्धिप्रवृत्तिः सूर्यादिप्रभासदृशाकारेण विकल्पते विशेषेणोत्पद्यत इत्यर्थः। अतः विषयस्य ज्योतिष्मत्त्वे विषयिणी प्रवृत्तिरपि ज्योतिष्मतीति।''[20]

अर्थात् बुद्धिरूप तेजो गुण की भाँति स्वयं अपने तथा दूसरे को प्रकाशित करने वाला तथा आकाश की तरह व्यापक परिमाण वाला है, ऐसी बुद्धि में एकाग्रता स्थापित होने से बुद्धिविषयिणी प्रकृष्टा वृत्ति सूर्यादि की प्रभा के सदृश विशेष आकार के साथ विकल्पित होती है। इस प्रकार बुद्धिरूप विषय के ज्योतिर्मयत्व होने के कारण तद्विषयिणी प्रवृत्ति को भी ज्योतिष्मती कहा जाता है।[21]

विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की है। जैसे—बुद्धिसाक्षात्कार और विविक्तपुरुषसाक्षात्कार है। अब इस प्रसङ्ग में यह शङ्का उठाया जा सकता है कि जब आत्मसाक्षात्कार निष्पन्न हो गया तब उसके बाद चित्तस्थैर्य में क्या प्रयोजन रह जाता है? क्योंकि आत्मसाक्षात्कार अविद्या निवृत्ति के अनन्तर प्राप्त होता है तथा अविद्या के निवृत्ति होने पर चित्त कृतकृत्य हो जाता है। चित्त की कृतकृत्यता के बाद पुनः चित्तस्थैर्य की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि चित्त तो स्थितिपद को पहले ही प्राप्त कर लिया है।

इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त प्रश्न निराधार है; क्योंकि आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी अखिल संस्कारों का नाश करने वाली असम्प्रज्ञात योग की परम्परा अपेक्षित है और भी जीवात्म साक्षात्कार के अनन्तर भी परमात्म साक्षात्कार को चाहने वाले के निमित्त परमात्म योग की अपेक्षा रहती है। अतः वार्त्तिक में श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि— **''कृतात्मसाक्षात्काराणामपि ज्ञाननिष्ठया परवैराग्यार्थमभ्यासापेक्षणात्।''**[22]

4. विरक्तचित्तचिन्तनम् :

सांसारिक विषयों से विरक्त हुआ चित्त का चिन्तन करने से चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। अतः सूत्रकार ने कहा है कि—**''वीतरागविषयं वा चित्तम्।''**[23] अर्थात् रागशून्य कृष्णद्वैपायन, नारदादि योगियों के चित्त को आलम्बन करते हुए, जब तद्विषयक धारणा योगी करता है, तब उस तदाकारता को प्राप्त योगी का चित्त भी इस सांसारिक विषयों से विरक्त होता हुआ स्थिति पद को प्राप्त कर जाता है। जिस प्रकार का चित्त नारदादि का है, उनकी धारणा से योगी का चित्त भी उसी प्रकार का हो जाता है।[24] जैसे

लोक में भी देखा जाता है कि जब मनुष्य किसी विशेष का चिन्तन बारम्बार करता है तो वह उसी प्रकार का स्वाभाविक आचरण करने लगता है। जैस कामुक विषय के चिन्तन से चित्त कामुक हो जाता है।

5. स्वप्ननिद्राज्ञानान्यतरज्ञानचिन्तनम् :

स्वप्न की अवस्था में ज्ञान विषय अथवा निद्रा की अवस्था में ज्ञान विषय, इन दोनों में से किसी एक विषयक ज्ञान का चिन्तन करने से चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। इसी को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है कि— ''**स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।**''[25] अर्थात् जब जाग्रत् कालिक ज्ञान में ही पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित करना और भङ्गुरविषयकत्व होना इन दोनों में साम्य होने से जो स्वप्नकालिक ज्ञान का दर्शन किया जाता है, उसको आलम्बन के रूप से स्वीकार करने से, वहाँ पर चित्त विरक्त होकर स्थिर हो जाता है। अतः स्मृति और श्रुति दोनों में समस्त जगत् को स्वप्न के सदृश कहा गया है। इसी प्रकार जब जाग्रत, पुरुषों में सुषुप्ति के समान ज्ञान किया जाता है, तब उनके व्यवहारों से विरक्त हुआ चित्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि दोनों में पदार्थों की वास्तविक स्वरूप आच्छादित कर देता है तथा निद्रा दोष के कारण बीच-बीच में स्वप्नदर्शन की भाँति जगत् का भी दर्शन हो जाता है।

इस प्रसङ्ग पर आरण्यक जी कहते हैं कि - स्वप्न में बाह्यज्ञान रुद्ध होता है, किन्तु मानव भाव-समूह का ज्ञान होता रहता है। निद्रावस्था में बाह्य और मानस दोनों प्रकार के विषय तमस् से अभिभूत हो जाते हैं और केवल जड़ता का अस्फुट-अनुभव रह जाता है। बाह्य तथा मानस रुद्ध-भाव का आलम्बन करके उसका ध्यान करना निद्राज्ञानालम्बन है।

6. यथाभिमतध्यान :

योगी को जो अभीष्ट हो, उस विषय का ध्यान करने से चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। अतः सूत्रकार ने भी कहा है कि— ''**यथाभिमतध्यानाद्वा**''[26] अर्थात् योगी को जो भी अभिमत हो, उसके ध्यान से चित्तस्थैर्य होता है। अभिप्राय यह है कि चाहे कोई भी स्वरूप हो, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, गुरु, माता, पिता आदि इनमें से जो भी अभीष्ट हो उसका ध्यान करना चाहिए।[27] क्योंकि अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी ध्येयतत्त्व का ध्यान करने से एकाग्रता को प्राप्त हुआ चित्त विवेकज्ञानपर्यन्त अन्य सूक्ष्म पदार्थों में भी अन्य उपाय की अपेक्षा किये बिना ही स्थितिपद को प्राप्त कर जाता है। यहाँ पर उपर्युक्त पाँचों सूत्रों में प्रतिपादित ध्येय वस्तु से इतर जो भी अभिमत हो उसका ध्यान करने से भी चित्त स्थिति पद को प्राप्त कर सकता है। परन्तु यह अभिमत ध्येय वस्तु शास्त्रानुमोदित होना चाहिए। वस्तुतः सूत्रोक्त 'वा' पद का तात्पर्य यही होना चाहिए। राघवानन्द जी ने यहाँ पर इसी अभिमत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो शास्त्र से सम्मत हो उस अभिमत का आलम्बन करने से चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है। अभिमत से तात्पर्य यह कथमपि नहीं है कि यदि नग्न स्त्री का अभिमत किसी को हो तो उसके आलम्बन से चित्त स्थिति पद को प्राप्त कर जाएगा, यह कथमपि सङ्गत नहीं है। परन्तु भास्वतीकार के अनुसार जो कुछ भी अतात्त्विक अभिमत हो उस पर ध्यान करने से चित्त स्थिति पद को प्राप्त कर जाएगा। उसके पश्चात् तात्त्विक विषय पर स्थिति पद को प्राप्त कर सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी का सम्प्रज्ञातपुरस्सर असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि सम्भव है।[28] हमारे मत में यह अन्तिम परिकर्म ही अन्य परिकर्मों से श्रेयस्कर है, ऐसा प्रतीत हो रहा है, इनके अनुष्ठान में स्वकीय इच्छा ही निमित्त है। इस विषय पर भास्वतीकार का भी मत कुछ असमीचीन प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि शब्दरूपात्मक अभिव्यक्ति ही वस्तु के स्वरूप प्रतिपादन में

सहायक होता है। चाहे यह राम, कृष्ण आदि हो अथवा डित्थ, डवित्थ आदि। जैसे आधुनिक दार्शनिक आचार्य रजनीश (ओशो) ने स्वीकार किया है। प्रत्येक शब्द का निश्चित ही प्रभाव होता है। अतः वह शब्दस्वरूपात्मक हो अथवा शब्दस्वरूपात्मक किसी वस्तुरूप में उसकी अभिव्यक्ति हो, उसके द्वारा भी चित्त स्थिति पद को प्राप्त कर सकता है। जैसे कि भास्वतीकार ने कहा है कि अतात्त्विक वस्तु पर ध्यान करने पर स्थिति पद प्राप्त किया हुआ योगी सम्प्रज्ञातपुरस्सरः असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि हो सकती है।

अस्तु, हम इतना ही कह सकते हैं कि योगानुष्ठान में परिकर्मों का महत्त्व अधिक है। यद्यपि यह उत्तम अधिकारी के लिए यह उद्दिष्ट है, तथापि इतर अधिकारियों के प्रति इसकी प्रयोजनवत्ता स्वतः सिद्ध है। इन 6 प्रकार के परिकर्मों मे से अन्तिम परिकर्म श्रेष्ठ है। अतः योगियों के लिए यह सेव्य होना चाहिए। चाहे कोई भी सम्प्रदाय हो उसके लिए यह उपयोगी है। इसमें किसी प्रकार के ध्येयता में कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है।

हरिः ॐ

सन्दर्भ-सूचीः

1. ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानात्।'', यो.सू. 1/2, 3
2. ''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'' तत्रैवम्, 1/12
3. ''तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।'' तत्रैवम्, 2/1
4. ''यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गनि'', तत्रैवम्, 2/29
5. ''ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'' तत्रैवम्, 1/23
6. भा. 1/33
7. अमर. 2/6/121
8. सुधा. 2/6/121
9. अमर. 2/6/99
10. सुधा. 2/6/99
11. यो.सू. 1/33
12. ''स्थैर्यप्रसन्नं चित्तमेकाग्रं भूत्वा स्थिरपदमभ्रंशयोग्यतां लभत इत्यर्थः।' यो.वा. 1/33
13. यो.सू. 1/34
14. वाचस्पति के अनुसार—''रेचितस्य प्राणस्य कोष्ठ्यस्य वायोर्यदायामो = बहिरेव स्थापनं न तु सहसा प्रवेशनम्, तदेताभ्यां प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वायोर्लघुकृतशरीरस्य मनः स्थितिपदं लभते।'', तत्रैव. 1/34
15. याज्ञ., 6/2
16. यो.वा. 1/35
17. भाष्यटीका, 1/35
18. ''विशोका = ब्रह्मानन्दोद्रेकाच्छेकदुःखहीना, ज्योतिष्मती = ज्योतिर्मयबोधप्रचुरा, हृदयेति।'', भा. 1/36
19. क. ''विगतशोका = दुःखरहिताः, ज्योतिष्मती = ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती प्रकाशरूपा हृदयपुण्डरीक इति।' त.वै. 1/36
    ख. ''विगतः शोको यस्या इति विशोकेति हेतुगर्भविशेषणं।'' यो.वा. 1/36
20. यो.वा. 1/36

21. मणिप्रभा, 1/36
22. यो.वा. 1/36
23. यो.सू. 1/37
24. "वीतरागाः = कृष्णद्वैपायनप्रभृतयस्तेषां चित्तं तदेवालम्बनं तेनोपरक्तमिति।" त.वै. 1/37
25. यो.सू. 1/36
26. यो.सू. 1/39
27. "यदेवेष्टं शिवरामकृष्णादिरूपं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिं लभते।" मणिप्रभा, 1/39
28. "ईश्वरादीनि यान्यालम्बनान्युक्तानि ततोऽन्यद् यत् कस्यचिदभिमतं योगमुद्दिश्य तस्यापि ध्यानात् स्थितिः एवं स्थितिं लब्ध्वा पश्चादन्यत्र = तत्त्वविषय इत्यर्थः स्थितिं लभते; तत्त्वेषु स्थितिरेव सम्प्रज्ञातो योगो नान्यत्रेति विवेच्यम्, सम्प्रज्ञातसिद्धावेवासम्प्रज्ञातो नान्यथा।" भा. 1/39

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 61-66

आधुनिक युग में गीता की उपादेयता

डॉ. अनीता खुराना*

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।[1]

अर्थात् जहाँ योगश्वर श्रीकृष्ण हैं और अपने कर्त्तव्य में निष्णात् महान् धनुर्धर अर्जुन है वहाँ लक्ष्मी, विजय और ऐश्वर्य की उपलब्धि निश्चित है।

भारतीय तत्त्वज्ञान का सर्वस्व : श्रीमद्भगवद्गीता

कुरूक्षेत्र की यह ऐतिहासिक पुण्यभूमि भारतवर्ष के गौरव की आधार स्थली है। इस राष्ट्र को विश्व में जो आध्यात्मिक गुरु होने का स्थान मिला उसकी पृष्ठभूमि में कुरुक्षेत्र का सर्वोत्कृष्ट योगदान है। संसार का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि युद्धभूमि विजय या पराजय प्रदान करती है। लेकिन इस महान् युद्धभूमि ने संसार को एक ऐसा नवनीत प्रदान किया जो भारतीय तत्त्वज्ञान के सर्वस्व के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता नाम से समादृत है। वेदों के चरम निष्कर्ष और अन्तिम अनुभूत तत्त्व के रूप में गीता समस्त उपनिषदों का सार है इसलिए कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

अर्थात् सभी उपनिषद् गौवें हैं, श्रीकृष्ण दोग्धा हैं, अर्जुन वत्स हैं, सुधीजन भोक्ता हैं, गीता उन दिव्य गौवों से दुहा गया दुग्धामृत है।

कृष्ण के अवतार की आवश्यकता

आज इस देश का दुर्भाग्य है कि भारत में महाभारत की सी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। वर्तमान समय में भौतिकवाद का प्राबल्य है, धर्म की अवहेलना हो रही है, अर्थ तृष्णा ने मानव को सन्मार्ग से विमुख कर दिया है, प्रदूषित राजनीति अपराधीकरण की पर्याय बन चुकी है, कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता की स्थिति है, जीवन मूल्यों में गिरावट आ चुकी है, आतंकवाद, भ्रष्टाचार का ताण्डव, काम वासना दिन-प्रतिदिन मर्यादा की सीमा लाँघकर सभ्यता और संस्कृति का दहन कर रही है,....यह है आज का भारत। उस समय कृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से मानव मात्र को अपने कर्त्तव्य पालन का उपदेश दिया था, धर्म की स्थापना की थी। ऐसे समय में आवश्यक है कि एक पूर्ण महामानव कृष्ण पुनः अवतार रूप में जन्म ले जो मानव मात्र को कर्त्तव्य पालन का पाठ पढ़ाये, धर्म की स्थापना करें। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

---

* व्याख्याता-संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।[2]

आधुनिक युग में गीता की उपादेयता :

गीता के उपदेशों की व्यवहारिकता के कारण आधुनिक मानव के लिए गीता जीवन का संबल है। गीता मानव मात्र की सांस्कृतिक धरोहर है जिसे किसी काल विशेष, जाति, धर्म या राष्ट्र की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता है। गीता मनुष्य की अतृप्त पिपासा का सारस्वत अमृत कलश है जो अबाध गति से निरन्तर शताब्दियों से प्रवाहित होकर आज भी मनुष्य का पथ प्रदर्शन कर रही है—

(i) भारतीय संस्कृति एवं दर्शन का शिरोमणि

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृति एवं दर्शन का शिरोमणि है। समस्त उपनिषदों के मंथन से समुद्भूत इस नवनीत में धर्म, स्थितप्रज्ञ दर्शन, निष्काम कर्मयोग, भक्ति, ज्ञान, आत्मा की अमरता, सदाचार जैसे आदर्श तत्त्वों की उच्चकोटि उपस्थापना है, जो एक ओर मनीषियों के लिए चिन्तन-मनन तथा साधारण जन समुदाय के लिए भी आकर्षण और अभिरुचि का विषय है। श्री अरविन्द लिखते हैं- "गीता एक अनन्त रत्न राशि का अतल समुद्र है, जीवन भर उसमें गोते लगा-लगाकर वे रत्न निकालते रहें तो भी उनका अन्त नहीं होता, समुद्र का तल मिलता नहीं। उसके दो-एक रत्न प्राप्त कर लेने मात्र से ही दरिद्र धनी बन जाता है, गम्भीर चिन्तक ज्ञानी हो जाता है, भगवद् विरोधी प्रेमी बन जाता है।"

(ii) निष्कामकर्म का सुन्दर उद्घोष :

कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अर्जुन मोहग्रस्त होकर भययुक्त निवृत्ति मार्ग के लिए प्रस्तुत होता है। अर्जुन गहरे मानसिक धर्म से पीड़ित है, दोनों ओर सेनाएँ खड़ी हैं और युद्ध का रास्ता देख रही हैं। अर्जुन कहता है—मैं गुरुओं की हत्या कर राज्य सुख भोगने की अपेक्षा भिक्षा माँगना अधिक अच्छा समझता हूँ। इस प्रकार गुरुओं के रक्त से सने हुए भोगों को भोगने की मुझे अपेक्षा नहीं है।[3] अर्जुन के शोक एवं मोह का समूलोच्छेदन करने के लिए गीता अपने अद्भुत विलक्षण गूढ़ रहस्य को मानव जीवन की प्रगाढ़ समस्याओं के समाधान में प्रवृत्त करती है। अर्जुन की बुद्धि उसे कर्तव्य कर्म से विमुख कर रही है। परन्तु यह उसकी दुर्बलता नहीं है। वह पूर्ण युद्ध कर्म से सज्जित है, केवल मोह-शोक से ग्रस्त है। कृष्ण की गीता का यह प्रारम्भ स्थल है जहाँ वे मुस्कुराकर श्रेष्ठ पुरुषों के अनुकूल आचरण की शिक्षा देते हैं। यहीं से कर्मयोग की क्रियात्मक पद्धति का उपदेश प्रारम्भ होता है। गीता स्पष्ट कहती है कि एक क्षण भी मनुष्य कर्म किए बिना नहीं रह सकता— **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**[4] अतः तेरे लिए जो कर्म नियत है, तेरा जो स्वधर्म है, वह कर्म तू कर, कर्म करना न करने की अपेक्षा अच्छा है। बिना कर्म के शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती—

नियतं कुरु त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।[5]

गीता में निहित 'निष्काम' कर्म ही कर्मयोग है। श्रीकृष्ण अपने जिज्ञासु शिष्य को उपदेश देते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[6]

अर्थात् अर्जुन तेरा कर्म में अधिकार है फल प्राप्ति में नहीं। तू कर्मफल की वासना से वासित न हो और अकर्म में भी आसक्त न हो।

यही नहीं कर्म के प्रति रुचि जगाने के लिए कृष्ण का अर्जुन को उपदेश है—**योगः कर्मसु कौशलम्।**[7] अर्थात् कार्य को सर्वश्रेष्ठ ढंग से करने का नाम योग है। जीवन परमात्मा का वरदान है। इसको सजाने सँवारने का साधन है कर्म – श्रम। जीवन की जीवन्तता का लक्षण है–कर्म। जीवन का सौन्दर्य कर्म के माध्यम से प्रस्फुटित होता है और भी ''फलासंगशून्य'' यही कल्याण का मार्ग है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिनिरन्तरम्।[8]

अर्थात् अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान विशेष। ध्यान से कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है और कर्मफलत्याग ही शाश्वत शान्ति की प्राप्ति का परम साधन है।

इस प्रकार गीता में निहित निष्काम कर्म का सुन्दर उद्घोष आज प्रत्येक मानव को कर्तव्य पथ पर सतत् प्रगतिशील रहने की प्रेरणा देता है।

(iii) मानव धर्म की प्रतिष्ठापना

गीता में जिस मानव की प्रतिष्ठा है उसमें निम्नलिखित गुण होने चाहिए—अद्वेष्टा अर्थात् प्राणि मात्र के प्रति द्वेष भावना का न होना, सब प्राणियों में मित्रता करने वाला, करुणा, ममता, अहंकार से हीन, दुःख और सुख को समान मानने वाला, सदा सन्तुष्ट, योगी अपने ऊपर नियन्त्रण रखने वाला दृढ़ निश्चयी।[9] इन गुणों की मानव मात्र में स्थापना विश्व को अनेक समस्याओं–भ्रष्टाचार बलात्कार, आतंकवाद आदि से मुक्ति दिलाने में समर्थ है।

(iv) अवसाद से प्रसाद की ओर

आधुनिक युग में 'अवसाद' एक व्यापक रोग हो गया है। उदासी, मेंटल डिप्रेशन या स्ट्रेस 'अवसाद' के ही नाम हैं। आज के युग में शारीरिक अक्षमता ही नहीं कई सामाजिक कारण भी हैं जिनसे व्यक्ति अवसाद या उदासी का शिकार हो जाता है। मनुष्य की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ तथा अपेक्षाएँ बढ़ गई हैं। जीवन की रफ्तार बहुत तेज हो गई है। ऐसी दशा में जब व्यक्ति अपने आपको पीछे पाता है तो तनाव बढ़ जाता है। उस तनाव को झेलना जब कठिन हो जाता है तब तन–मन दोनों विद्रोह कर उठते हैं और परिणाम होता है 'अवसाद', उदासी या डिप्रेशन।

भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन सकारात्मक एवं आशावादी रहे हैं। इन सबमें मनुष्य की 'अवसाद से प्रसाद' की यात्रा का इतिहास दर्ज है। मन को प्रसन्न रखने का स्वभाव बना लिया जाए तो सब दुःख, विषाद क्षीण हो जाते हैं। गीता का प्रारम्भ विषाद से, दुःख से, उदासी से होता है। जब अर्जुन युद्ध में अपने सगे सम्बंधियों को देखता है तो उदासी के भँवर में पड़ जाता है—''मेरे सारे अंग शिथिल हो गए हैं, मुख सूख रहा है तथा शरीर में कम्पन एवं रोमांच हो रहा है। हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है तथा मेरा मन भी भ्रमित सा हो रहा है। मैं खड़े होने में असमर्थ हो गया हूँ।[10] आधुनिक मनोविज्ञानानुसार भी अवसाद की चरमावस्था में व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है। अर्जुन का क्षत्रिय होने के नाते

धर्म है युद्ध करना पर विषाद और अवसाद उससे विपरीत शब्द बुलवाते हैं—''**न योत्स्य**''[11] अर्थात् मैं युद्ध नहीं करूँगा।

गीता के अनुसार रागद्वेषरहित होकर आत्मसंयमित इन्द्रियों द्वारा किए गए आचरण से ही 'प्रसाद' मन की प्रसन्नता पाने की बात कही गई है।[12] आधुनिक मनोश्चिकित्सक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही अवसाद के रोगी को आत्मसंयम की ओर प्रेरित करते हैं—कभी औषधि आदि देकर तथा कभी बातचीत के द्वारा मानसिक स्थिरता प्राप्त करवाने की कोशिश करते हैं। अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है तथा प्रसन्नचित वाले व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो जाती है।[13]

पर प्रश्न है 'प्रसाद' को कैसे सिद्ध किया जाये? इसके लिए अन्तिम प्रयत्न अर्जुन को (मनुष्य को) स्वयं करना पड़ता है। गीता का निर्देश है—''अपने द्वारा अपना उद्धार करें और अपने को अधोगति में न डालें क्योंकि मनुष्य आप ही तो अपना मित्र हैं और आप ही अपना शत्रु हैं।''[14]

'अवसाद' का मूल है चिन्ता, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, मोहादि। इन मूल कारणों को नष्ट करना व्यक्ति के अपने हाथ में है। मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मों में जितना अधिक सुधार कर लेता है उतना ही उन्नत होता है। कृष्ण से अपने अवसाद के कारण को समझकर अर्जुन श्रद्धा और विश्वास से युक्त होकर अपने आपको ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित कर देता है।[15] इसके पश्चात् ही उसका मोह, अज्ञान नष्ट होता है, 'ईशप्रसाद' मिलता है, सन्देह दूर हो जाता है तथा जो पार्थ गीता के प्रारम्भ में कह रहा था '**न योत्स्य**' युद्ध नहीं करूँगा वही अठारहवें अध्याय में कहता है—'**करिष्ये**'[16] अर्थात् करुँगा।

इस प्रकार गीता के प्रथम अध्याय से अष्टादश अध्याय तक की रचनाप्रक्रिया 'अवसाद' से प्रसाद तक पहुँचने की यात्रा है। महात्मा गाँधी ने भगवद्गीता के उपदेश में सर्वोच्च देवी संगीत का अनुभव किया—''मैं भगवद्गीता में एक ऐसी शक्ति पाता हूँ जो मुझे 'पर्वत पर उपदेश' में नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सम्मुख उपस्थित होती है और नितान्त एकाकी प्रकाश की एक किरण भी नहीं देख पाता तब मैं भगवद्गीता की ओर लौटता हूँ। मुझे यहाँ अथवा वहाँ एक श्लोक मिल जाता है और मैं तत्काल ही अत्यधिक दुःखों के बीच मुस्कुराने लगता हूँ।''

(v) पर्यावरण संरक्षण का श्रेष्ठ उपाय : यज्ञ

आज सम्पूर्ण मानव सभ्यता के समक्ष पर्यावरण प्रदूषण की समस्या विकराल रूप से खड़ी है। शहरीकरण, औद्योगिक संस्थाओं के निर्माण से, आटोमोबाइल्स के बढ़ते प्रयोग, न्यूक्लियर पदार्थों से उत्पन्न अवशिष्ट पदार्थों की समस्या, जनसंख्या वृद्धि, वाहनों से निकलने वाला शोर, वनसम्पदा के विनाश से CO_2 की मात्रा में वृद्धि, खेतों में छिड़की जाने वाली कीटनाशक दवाईयों से, खाद के रूप में प्रयुक्त रासायनिक मिश्रणों से, अनियोजित व अवैज्ञानिक विकास से, ओजोन की परत में छिद्र से प्रदूषण में वृद्धि हो रही है।

प्रदूषण को प्रभावहीन करने के लिए भारतीय संस्कृति के प्रमुख आयाम यज्ञ का आश्रय लेना ही इसके निवारण का एकमात्र साधन है। वातावरण शोध व आरोग्य प्राप्ति में यज्ञ की सुरभिमय वायु वातावरण को प्रदूषित होने से बचाती है, वहीं उसे जल और अन्न की समृद्धि भी बिखेर देती है। गीता में भी यही अवधारणा है[17] जिसमें वातावरण की शुद्धि एवं शुचिता के साथ यह मान्यता है कि हवि अन्तरिक्ष में

व्याप्त होकर पृथ्वी पर वर्षा के रूप में जल तथा अन्न की समृद्धि बिखेर देती है। कल्याणकारी एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। वर्षा का जल पर आधारित भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए यह दृष्टिकोण आज भी प्रासंगिक है।

(vi) लोक कल्याण की भावना

गीता का विश्वबन्धुत्व का उपदेश सारे संसार का मार्गदर्शन कर सकता है। गीता का परम साधन लोक संग्रह है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।[18]

अर्थात् जनक तथा अन्य लोग कर्म द्वारा ही पूर्णता तक पहुँचे थे। तुझे संसार को बनाए रखने के लिए (लोकसंग्रह के लिए) भी कर्म करना चाहिए। मिथिला के राजा जनक कर्तृत्व की वैयक्तिक भावना त्यागकर शासन करते थे। लोकसंग्रह का अभिप्राय संसार की एकता या समाज की परस्पर सम्बद्धता से है। यदि संसार को भौतिक कष्ट और नैतिक अधःपतन की दशा में नहीं गिरना है, यदि सामान्य जीवन को सुचारु और सगौरव होना है, तो सामाजिक कर्म का नियन्त्रण धार्मिक नीति से होना चाहिए। धर्म का उद्देश्य समाज का आध्यात्मिकीकरण करना है, पृथ्वी पर भ्रातृभाव की स्थापना करना है। इस आदर्श को यदि आज का शासक वर्ग अपना ले तो देश को काले धन से, भ्रष्टाचार से सांप्रदायिकता से मुक्त किया जा सकता है।

इस प्रकार कुरुक्षेत्र का यह पावन तीर्थ संसार को गीता के रूप में दिव्य ज्योति प्रदान करने के उपलक्ष्य में प्राणिमात्र के लिए अभिनन्दनीय और वन्दनीय है—

गीता सुगीता कर्त्तव्याः किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

सन्दर्भ-सूची

1. गीता, 18.78
2. गीता, 4.7/8
3. गीता 2.5
4. वही, 3.5
5. वही, 3.8
6. वही, 2.47
7. वही, 2.50
8. वही, 12.12
9. वही 12.13/14
10. वही 1.29/30
11. वही, 2.9
12. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्
    आत्मवश्यैविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति। वही, 2.64

13. वही, 2.65
14. वही, 6.5
15. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। वही, 18.66
16. वही, 18.73
17. वही, 3.14
18. वही, 3.20

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 67-69

'शासन-व्यवस्था' गणपति संभवम् के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. संगीता कुमारी*

कवि प्रभुदत्त शास्त्री द्वारा रचित '**गणपति संभवम्**' महाकाव्य एक स्वातंत्र्योत्तर युगीन काव्य है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन गणतंत्र दिवस के दिन 26 जनवरी 1968 ई. में हुआ। यह ग्रन्थ गणपति देव के शासन तंत्र की शिक्षा देता है। इस ग्रन्थ में वर्णित विचारों के द्वारा कवि ने वर्तमान शासन व्यवस्था पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है और उसके लिए कुछ नियम प्रतिपादित किये हैं। 'गणपति संभवम्' पुराण आदि ग्रन्थों में आंशिक रूप से समुपलब्ध गणेश की कथा का कवि ने स्वकल्पना द्वारा परिवर्धन व परिवर्तन करके एक नवीन रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। महाकवि कालिदास रचित '**कुमारसम्भवम्**' महाकाव्य की परम्परा में लिखा गया यह महाकाव्य दस सर्गों में निबद्ध है। इसमें श्री गणेश की शैशवावस्था से गणपतित्व पद की प्राप्ति तक की कथा सन्निहित है। पद-पद में वर्तमान राष्ट्रिय चेतना समुद्भावित है। मातृभूमि रक्षण में शिरश्छेद होने पर भी प्रयोजन सिद्धि रूप में सफल प्रशासकादर्श यहाँ प्रतिबिम्बित है। यह महाकाव्य अभिधा से गणेश की दिव्य उत्पत्ति कथा का वर्णन करता है। लक्षणा से देश के वर्तमान स्वातन्त्र्य प्रशासन को लक्षित करना है और व्यंजना से सहृदयहृदयाह्लाद के साथ आदर्श राष्ट्र रक्षक की उसकी चारूता को प्रकट करता है। गणपति संभवम् के पात्रों के उद्घोष में भारत राष्ट्र का जयघोष सुनायी देता है, उनकी शक्ति में भारतीय योग का रूप दिखाई देता है, उनके गान में भारत का राष्ट्रगीत गाया जाता है, उनके स्वरूप में भारतीय जनता का आदर्श रूप दृष्टिगोचर होता है, उनके कार्यों में देवों की अलौकिकता विद्यमान है।

आज हमारे समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, राजनीतिक स्वार्थपरता, सत्ता-लोलुप, साम्प्रदायिकता, नारी-जाति का अपमान, निर्धनता और रिश्वतखोरी आदि विभिन्न विषयों पर प्रकाश डालते हुए गणशासन के रूप में शासन व्यवस्था को सुचारू सुव्यवस्थित रूप से किस प्रकार से चलाया जाये इसके विषय में कवि ने अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। कवि के अनुसार सौभाग्य की उन्नति करने वाला, जनता को प्रसन्न रखने वाला, सबके लिए स्थायी निवास देने वाला, दुर्भाग्य का नाश करने वाला, दरिद्रता को मिटाने वाला, अन्न की पैदावार बढ़ाने वाला, गरीबों को वस्त्र प्रदान करने वाला ही वास्तव में गणतन्त्र शासन है, उसने भिन्न शासन नाशकारी भ्रष्टाचार का आसन है। जहाँ मानव-मानव में परस्पर प्रेम का वातावरण हो। विद्वानों का सम्मान करने वाला, स्थानच्युत को शरण देने वाला, कल्याणकारी कार्य करने वाला बड़े-बड़े कार्यों और योजनाओं से देश की उन्नति करने वाले गणतन्त्र शासन है। जिसमें चूहे का बच्चा भी भूख से न मरें, हाथी जैसे आदमी और समाज के नेता का तो कहना ही क्या हाथ में लड्डू रखे, किन्तु उसके साथ अपनी निर्लिप्तता को भी कमल सा प्रकट करता रहे। दुष्टों के लिए पशु और सज्जनों के लिए अभय दिखाता रहे,

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दयाल बाग शिक्षण संस्थान, दयाल बाग, आगरा

यह गणपति शासन है—

सौभाग्योन्नयनं समस्तजवताऽऽनन्दारविन्दप्रदम्।
नानाऽऽवासनिवाससुप्तिसुखदं दुर्भीति विध्वंसनम्।।
दारिद्रय द्रवणं सदान्नजननं नग्नांगसंगोपनम्।
ख्यातं तद् गणशासनं तदपरं भ्रष्टासनं नाशनम्।
चेतस्तुष्टिकरं सुपुष्टिकरणं स्नेहस्य देहस्य च।
विद्यानामभिनन्द्यता प्रतरणं विस्थापिताशारण्यदम्।
नानास्वोन्नतिकाननं जनमतानां मूल्यसंवर्धनम्।।
विभ्रन् मंगलमोदकं गुरूतमैः कार्यैर्भवैस्तुन्दिलः।
सिध्यद्योजनया विशालतमया शुण्डश्रिया शोभितः।।
यस्मिन् दूशक मूशकोऽपि न भजेन्मृत्यु क्षुधा पीड़ितः।
किं यः स्यान्मनुजो गजेन सदृशो नेता समाजस्यवा।।
हस्ते मोदकवान् परं च कमलान्निर्लिप्ततां द्योतयेत्।
पशुं दुष्टं कृते सते त्वभयितां दध्यादिदं शासनम्।।

गणपति संभवम् 9/15-9

इसी प्रकार स्त्री–पुरुषों में समानाधिकार आज की कानून व्यवस्था का संवैधानिक नियम है, ताकि अबला समझने वाली नारी स्वयं को सर्वशक्तिसम्पन्न मानें और समाज में उनका भी आत्मसम्मान हो। श्री गणेश जी स्वयं गौरी (स्त्री) और पुरुष शिव दोनों के हाथों से जन्म लिये और स्त्री–पुरुष दोनों के हाथों से पूजा को प्राप्त हुए, अतएव उनके लिए समानता लाने वाले कानूनों के निर्माण में रस लेने वाला गणेश मानों अन्दर प्रविष्ट है—

पुस्त्रीणां समतां यदिच्छति च नः सद्यस्तनं शासनम्।
स्त्रीजातेरबलापदापहरणं ताभ्यो बलानां प्रदम्।।

गणपति संभवम् 9/21

इसी प्रकार से कवि ने न्याय–व्यवस्था के विषय में भी सभी को समान रूप से निष्पक्ष भाव से न्याय देने की बात कही है। न्याय चाहने वाले मनुष्य को जहाँ उससे बिना आमदनी के न्याय दिया जाये, उसके घर के धर्म कर्मों को न्यायपति जहाँ न देखे, यह धर्मनिरपेक्षता मानी गई है। न कि न्यायपति ही स्वयं धर्मरहित हो, अतः वह खुद ही त्याज्य है। मनुष्य हो या हाथी या चूहा अर्थात् बलवान् या कमजोर वर्ग का कोई भी प्राणी हो, कोई भी हो न्याय में सभी समान हैं, इस बात को चूहे के साथ रहने वाला हाथी के मुख और आदमी का यह रूप अपने शासन को बताता रहता है, अतः न्यायार्थी के धर्म पर दृष्टि करना न्यायपति को ठीक नहीं, इसी अर्थ में धर्मनिरपेक्ष राज्य बोला जाता है।

न्यायार्थागतमानवे समतमन्यायो निरायोऽर्प्यते।
तद्गेहस्थितधर्मकर्मविशयो न न्यायर्परीक्ष्यते।।

सा धर्मे निरपेक्षितेह विदिता, नान्यास्ति काचिन्मता।
नेह न्याय एव धर्मरहितस्त्याज्यो भवेद्यः स्वयम्।।
आखुर्वास्तु गजोऽस्तु मनुजो न्याये समानाः समे।
इत्युद्बोधयते गजाननरः साखुः स्वके शासने।।

गणपति संभवम् 9/32-33

मातृ आज्ञा का पालन करते हुए श्री गणेश के द्वारा शिरश्छेदन का वृतान्त एक सच्चे राष्ट्र सेवक, राष्ट्र भक्त की पहचान है। इसी प्रकार मातृभूमि के लिए सर्वस्व रूप से बलिदान देने वाला ही सच्चा राष्ट्र भक्त है, न कि केवल उत्सव में मिलकर राष्ट्रध्वज को स्पर्श करने वाला। जो राष्ट्र सम्बन्धी गीतों को बाहरी गले से ही गाता हो—

दत्वैवात्माशिरोबलि गणपतिः प्राप्तोऽभवत् पूज्यताम्।
एवं राष्ट्रसुशासनेच्छुरिते लोकेलिमः स्याद् बलिः।।
न स्याद् केवलमुत्सवेशु मिलितो राष्ट्रध्वजस्पर्शाकः।
बाह्येनैव गलेन गायति च याः स्वां राष्ट्रगीतावलीम्।। 9/49

समाज के लिए एक अच्छा, सुयोग्य शासक के विषय में कवि का मन्तव्य है कि जो अपनी विपत्ति से न भागे, वह छोटी सवारी रखे। वह इतना सहनशील हो कि सबके अप्रिय वचन धारण कर सके। बारीक आँखों से अपने इकट्ठे किये हुए मतों से जगत् की प्रीति को अपने में चुपचाप देखने की इच्छा करें, इस बात को बताने वाला ही शासक हो सकता है—

यो नो धावितु मोहते स्वविपदः स क्षुद्रपन्नो भवेद्।
सर्वस्यापि धरेत् प्रियाप्रियवचश्चेत् स्यान्महाकुक्षिभृत्।।
सूक्ष्माक्षैर्निभृतं दिदृक्षतु जगत्प्रीतिं मतैः स्वार्जितैः।
इत्युद्बोधिवस्तुतत्तवविबुधः स्यात् शास्तृपंक्तिस्थितः।।

गणपति संभवम् 9/48

इस प्रकार गणपति संभवम् महाकाव्य में एक कुशल प्रशासक के रूप में श्री गणेश जी के माध्यम से वर्तमान शासन व्यवस्था की परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है।

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 70–74

पाणिनीय व्याकरण का संस्कृत वाङ्मय में योगदान

डॉ० प्रदीप कुमार दीक्षित*

परमात्मा की सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सृष्टि में मानव ही अनुपम एवं विचारवान् कृति है। जिसमें वाणी एक अमूल्य निधि है। मानव अपने विचारों एवं चिन्तन को वाणी द्वारा प्रकट करता है जैसा कि अन्य जीवों में नहीं है। वाणी का प्रकटीकरण शब्द और शब्द का प्रकटीकरण अक्षर से होता है। भारत में एक-एक अक्षर की ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा हुई है—**'अक्षरं परमं ब्रह्म वेदे लोके च विश्रुतम्।'**[1] अक्षर ही परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करा देता है—**'अक्षराणां तु चिच्छक्तिः परब्रह्म प्रकाशिका'** अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि अक्षर से शब्द, शब्दों से वाक्य निर्मित होते हैं, जिनके माध्यम से मानव अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है। मानव से समाज का निर्माण होता है और समाज का कोई भी कार्य वाक् के अभाव में सम्भव नहीं है। वाणी ही शिक्षा का माध्यम है। यहाँ यह कहना समीचीन है कि वाणी को एक परिष्कृत रूप देना व्याकरण की ही देन है। व्याकरण में ही भाषा को शुद्ध एवं संयमित करने की अद्भुत क्षमता है और व्याकरण को शब्दानुशासन भी कहा जाता है। व्यक्ति चाहे जितना शिक्षित हो जाये और यदि उसने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन नहीं किया है तो उसका ज्ञान अधूरा ही रहेगा। व्याकरण के पढ़ने के लिए हमारा संस्कृत वाङ्मय स्पष्ट निर्देश करता है—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत्।।

महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि भी व्याकरण के पठन-पाठन पर बल देते हुए कहते हैं—**''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गेषु वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधानं च स्व षडङ्गेषु व्याकरणम्।।''**[2] अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के कारण व्याकरण की गणना वेदों में होती है और व्याकरण को वेद का मुख माना जाता है—**मुखं व्याकरणं स्मृतम्।**[3]

महर्षि पतंजलि ने व्याकरण के मुख्य रूप से पाँच उद्देश्य भी बताए हैं—**''रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्।''**[4] मनुष्य में भाषण शक्ति ईश्वरीय देन है। यदि विश्व में वाणी जैसी वस्तु न होती तो विश्व का काम चल पाना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव था। महाकवि दण्डी ने भी अपनी रचना काव्यादर्श में स्पष्ट किया है कि यदि शब्द नामक ज्योति संसार को प्रकाशित न करती तो सारा संसार अविद्या के अन्धकार से परिव्याप्त हो जाता—

इतमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[5]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वाणी को परिष्कृत रूप देना व्याकरण की देन है। समाज में पहले भाषा

* अध्यक्ष एवं एसो. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, अकबरपुर पी.जी. कालेज, अकबरपुर, कानपुर देहात।

अर्थात् वाणी का प्रयोग होता है तत्पश्चात् वाणी को परिमार्जित व्याकरण करता है। आज विश्व की सभी भाषाओं में संस्कृत भाषा ही पूर्ण वैज्ञानिक भाषा सिद्ध हुई है। संस्कृत को विज्ञान बनाने का महनीय कार्य व्याकरण ने किया है। नितान्त सच तो यह है कि वेदों के आविर्भाव के साथ ही हमें व्याकरण के मूल रूप का दर्शन प्राप्त हो जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद एवं सामवेद में अनेकानेक मन्त्र ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनमें शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। अमुक शब्द का प्रयोग उसकी धातु और उसके नामकरण के आधार पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। व्याकरण के सन्दर्भ में ऋग्वेद के दशवें मण्डल में स्पष्ट कथन है कि जो व्याकरण को नहीं जानता और अनभिज्ञ है, वह वाक्तत्त्व को देखते हुए भी नहीं देखता है और उसे सुनते हुए भी नहीं सुनता है। परन्तु जो वाक्तत्त्व को जानता है और शब्दचित् है, उसके लिए वाणी अपने स्वरूप को इसी प्रकार प्रकट करती है, जैसे पतिव्रता पत्नी अपने स्वरूप को अपने पति के लिए प्रकट करती है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे जायेव पत्य उषती सुवासाः।।[5]

संस्कृत वाङ्मय में प्रथम वैयाकरण प्रजापति ब्रह्मा को माना जाता है। उन्होंने सर्वप्रथम सत्य और अनृत का विवेचन एवं विश्लेषण किया है। तात्त्विक दृष्टि के द्वारा प्रजापति ने सत्य को ग्राह्य और अनृत को त्याज्य बताया है। यही ऋत् और अनृत का विश्लेषण कालान्तर में प्रकृति और प्रत्यय का विश्लेषण होकर व्याकरण रूप में प्रस्तुत हुआ। प्रकृति से तात्पर्य प्राकृतिक तत्त्व, धातु का अंश या स्थूल तत्त्व और प्रत्यय का तात्पर्य ज्ञान, सूक्ष्मतत्त्व। इन दोनों को दार्शनिक विश्लेषण ही व्याकरण दर्शन है। इसका स्पष्ट उल्लेख यजुर्वेद में उपलब्ध है—

''दृष्टवा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्राद्धां सत्ये प्रजापतिः।।''[6]

पाणिनीय शिक्षा मन्त्रों के स्वर और वर्णों के उचित उच्चारण पर अत्यधिक बल देती है, क्योंकि इनके अशुद्ध उच्चारण से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अल्प मात्र त्रुटि होने पर वह अपने वास्तविक अर्थ को तो प्रकट न करेगा अपितु इसके विपरीत अनर्थ का कारक हो जायेगा। ''**इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व**'' में स्वर मात्र की अशुद्धि के कारण ही वृत्र का वध हो गया था।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।[7]

व्याकरण की अतिसय महत्ता के कारण ही महर्षि पाणिनि कालजयी वैयाकरणों की सूची में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यद्यपि पाणिनि के पूर्ववर्ती पन्द्रह वैयाकरणों का नामोल्लेख प्राप्त होता है जिनमें ब्रह्मा का नाम सम्मिलित नहीं है जो कि सभी विषयों के आदि प्रवक्ता कहे जाते हैं— (1) शिव (2) बृहस्पति (3) इन्द्र (4) वायु (5) भारद्वाज (6) भागुरि (7) पौष्करसादि (8) काशकृत्स्न (9) रौढ़ि (10) चारायण (11) माध्यन्दिनि (12) वैयाघ्रपद्य (13) शौनकि (14) गौतम (15) व्याडि।''[8] संस्कृत व्याकरण के इतिहास में आचार्य पाणिनि की नाम अमर ज्योति के समान देदीप्यमान है। इनका व्याकरण इतना अधिक

पूर्ण एवं वैज्ञानिक है, जिसकी चमक से प्राचीन व्याकरण के ग्रन्थों की आभा लुप्तप्राय हो गई है। जिस प्रकार से सूर्य के प्रकाश के समक्ष समस्त तारामण्डल, चन्द्रादि की प्रभाव क्षीण हो जाती है। ठीक उसी प्रकार महर्षि पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों की प्रभाव क्षीण हो गई। यही कारण है कि वर्तमान में सर्वप्राचीन वैयाकरणों के केवल नाम मात्र अवशेष हैं। पाणिनि के परवर्ती टीकाकार, भाष्यकार एवं व्याख्याकार ही व्याकरण जगत् में टिक सके। महर्षि पाणिनि को अमर बनाने में वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार महर्षि पतंजलि का विशेष योगदान है। यद्यपि पाणिनि के जीवन चरित के सम्बन्ध में कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है फिर भी कुछ विद्वानों की कृतियों में उल्लेख प्राप्त होता है। जिसके आधार पर पाणिनि के जीवन चरित के सम्बन्ध में तत्सम्बन्धी कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। पुरुषोत्तम देव महर्षि पाणिनि को पाँच पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं—

पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालंकिपाणिनौ। शातातुलीयः।।[9] कैयट ने पाणिनि के विषय में कहा है—**पणिनोऽपत्यमित्यण् पाणिनः। पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः।''**[10] महर्षि पतंजलि ने पाणिनि को दाक्षी पुत्र कहा है—**सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।''**[11] इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था जो दक्ष कुल में जन्मी थी। अनेक विद्वानों के मतों के मंथनोपरान्त यह सिद्ध होता है कि दाक्षी और पणिन् के पाणिनि एवं पिंगल नाम के दो पुत्र हैं। सभी विद्वान् एक मत से पाणिनीय व्याकरण के वैशिष्टय को स्वीकार करते हैं। इनके व्याकरण के सन्दर्भ में महर्षि पतंजलि कहते हैं कि पाणिनीय व्याकरण का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं है—

प्रमाणभूत आचार्यो ..... महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म।
तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्।।''[12]

इसी प्रकार जयादित्य ने पाणिनि के व्याकरण की सूक्ष्म दृष्टि की प्रशंसा करते हुए कहा है—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।[13]

पाणिनीय व्याकरण की अनेकानेक विशेषतायें हैं, उन विशेषताओं के साथ-साथ संक्षिप्तता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। पाणिनि के व्याकरण के बड़े से बड़े नियमों को अति संक्षिप्त रूप में सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है। संस्कृत भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था अतः इनके लिये यह कार्य दुरूह नहीं था। भाषा की ऐसी समाहार शक्ति व्याकरण जगत् में अन्यत्र दुर्लभ है। पाणिनि ने सूत्रों की संक्षिप्तता में अनेक विधियों का आश्रय लिया है, जो पूर्णरूपेण समर्थ एवं वैज्ञानिक हैं। कतिपय विधियाँ निम्नवत् हैं—

1. प्रत्याहार विधि— प्रत्याहार का प्रथम अक्षर न तो हल् होता है और न ही इत्संज्ञक, किन्तु दूसरा अक्षर निश्चित रूपेण हल् होता है। प्रत्याहारों का निर्माण चौदह माहेश्वर सूत्रों (अइउण् ..... हल्) से होता है। यथा— अक्, अच्, झल्, हश् आदि।

2. गण पाठ— जिन शब्दों में एक ही नियम-प्रत्यय, विधान आदि का काम करता हो, वहाँ पर पाणिनि ने सभी शब्दों का उल्लेख न करके उन सबका एक 'गण' बनाकर 'गण' के आदि में आने वाले एक ही शब्द को लेकर सूत्र की रचना करके 'गणपाठ' को अन्त में दे दिया। उदाहरणार्थ— **'गर्गादिभ्यो यञ्' तथा 'सर्वादीनि सर्वनामानि'** आदि इन दोनों सूत्रों में गर्ग और सर्व शब्द पठित हैं, किन्तु वे अपने गण के क्रमशः 108 और 35 शब्दों का बोध कराते हैं।

3. इत्संज्ञक सूत्र—

(i) हलन्त्यम्— 1।3।3। (ii) उपदेशेऽजनुनासिक इत्— 1।3।2। (iii) आदिर्ञिटुडवः—v 1।3।5 (iv) चुटू— 1।3।7। प्रत्ययस्य— 1।3।6। (vi) लशक्वतद्धिते— 1।3।8।

4. अनुवृत्ति— पूर्व सूत्रों से उत्तरवर्ती सूत्रों में किसी पद के अनुवर्तन को अनुवृत्ति कहा गया है। इस प्रकार पूर्व सूत्र पठित शब्दों को उत्तरवर्ती सूत्रों में दुहराना नहीं पड़ा है। प्रायः यह अनुवृत्ति निकटवर्ती सूत्रों में भी की गई है, परन्तु यत्र—तत्र मण्डूकप्लुति न्याय से दूरवर्ती सूत्रों में भी की गई है।

5. संज्ञाएँ और परिभाषाएँ— यथा— गुण, वृद्धि, संयोग, सम्प्रसारण, लोप आदि।

6. पद— सुप्तिङन्तं पदम्— 1 - 4 - 14

7. प्रातिपदिक— अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्— 1-2-45। तथा कृत्तद्धितसमाथ्च— 1-2-46।

8. सर्वनाम स्थान—पुल्लिंग और स्त्रीलिंग प्रातिपदिक शब्दों के आगे आने वाले सु, औ, जस्, अम्, औट, ये (विभक्ति) प्रत्यय सर्वनाम स्थान कहे जाते हैं।

9. विभाषा—न वेति विभाषा— 1-1-44

10. संहिता— परः सन्निकर्षः संहिता— 1।4।109।

11. प्रगृह्य— ईदूदेदं द्विवचनं प्रगृह्यम्— 1।1।11।

12. सार्वधातुक— तिङ्शित्सार्वधातुकतम्— 3।4।113। तथा आर्धधातुकं शेषः— 3।4।114।

13. भ संज्ञा— यचिभम्— 1।4।18।

14. घु संज्ञा— दाधाध्वदाप्— 1।1।20।

15. घ संज्ञा— तरप्तमपौ घः— 1।1।23।

16. टि संज्ञा— अचोऽन्त्यादि टि— 1।1।64।

17. सवर्ण संज्ञा— तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्— 1।1।9।

18. सत् संज्ञा— तौ सत्— 3।2।127।

19. पारिभाषिक शब्द— अ. प्रकृति भाव, ब. एकादेश, स. पूर्वरूप, द. पररूप, व. आगम, च. आदेश।

इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण का सम्यक् अध्ययनोपरान्त यह सिद्ध होता है कि इनका व्याकरण पूर्णरूपेण वैज्ञानिक है और सम्पूर्ण विश्व की भाषाओं की आधारशिला है। शिक्षा या शिक्षा की किसी भी विधा को ग्रहण करने के लिये किसी न किसी भाषा का माध्यम आवश्यक है और भाषा को वैज्ञानिक बनाना शिक्षा जगत् में एक ऐसा कदम है, जिसकी उपयोगिता एवं प्रासंगिकता सर्वथा उपयोगी हो। अन्ततः एक शोधकर्ता के रूप में मैं कह सकता हूँ कि महर्षि पाणिनि ने भाषा के लिए जो माध्यम दिया उसके अभाव में शिक्षा का विकास संभव नहीं था। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण आचार्य पाणिनि एवं उनका व्याकरण (अष्टाध्यायी) कालजयी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तत्त्वपारिजात
2. महर्षि पतञ्जलि— महाभाष्य
3. महर्षि पतंजलि— महाभाष्य
4. तदेव
5. महाकवि दण्डी— काव्यादर्श — 1-4
6. यजुर्वेद— 19-77
7. पाणिनीय शिक्षा— 52
8. डॉ० कपिल देव द्विवेदी— संस्कृत व्याकरण एवं लघुसिद्धान्तकौमुदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण— 2000, पृष्ठ 18-20
9. पुरुषोत्तम देव— त्रिकाण्डशेष
10. कैयट— प्रदीप— 1-1-13
11. महर्षि पतंजलि— महाभाष्य— 1-1-20
12. महर्षि पतंजलि— महाभाष्य— 1-1-1
13. जयादित्य— काशिका— 4-2-74

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 75-78

योग से उत्तम स्वास्थ्य के वैश्विक आयाम

प्रमोद कुमार मिश्र*

समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ हो आज समाज की यही माँग है। समाज के विकास में नागरिकों का स्वास्थ्य एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है, क्योंकि व्यक्ति की कार्यक्षमता मूलतः उसके स्वास्थ्य पर ही निर्भर करती है। स्वास्थ्य से तात्पर्य केवल रोगों से मुक्ति नहीं है अपितु शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का विकास तथा व्यक्ति के सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण में उपयुक्त सामंजस्य को स्वास्थ्य कहते हैं। सुन्दर स्वास्थ्य ही उपयुक्त सुखों का आधार है। प्रसिद्ध विद्वान् अरस्तू ने उत्तम स्वस्थ्य हेतु कहा है **''स्वस्थ शरीर में स्वस्थ्य मस्तिष्क रहता है''**[1] सच ही कहा गया है— स्वास्थ्य है तो जहान है, नहीं तो श्मशान है। स्वस्थ्य व्यक्ति का लक्षण देते हैं आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत-संहिता में कहा गया है—

''समदोषा समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।''[2]

अर्थात् जिसके तीनों दोष वात, पित्त एवं कफ समान हों, जठराग्नि भी न अति मन्द और न अति तीव्र हो, शरीर को धारण करने वाली सात धातुएँ रस, रक्त, गैस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य उचित अनुपात में हो, मल, मूत्र विसर्जन की क्रिया सम्यक् रूप से होती हो और दस इन्द्रियाँ— (कान, नाक, आँख, त्वचा, रसना, गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर व जिह्वा) मन एवं इनका स्वामी आत्मा भी प्रसन्न हो तो ऐसे व्यक्ति को स्वस्थ कहा जाता है। ऋषियों ने स्वस्थ शब्द को बहुत ही व्यापक एवं वैज्ञानिक रूप से समझाया है। उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य ये तीन घटक अति महत्त्वपूर्ण हैं। जिनके ऊपर ही मानव शरीर टिका हुआ है। आहार का शरीर पर ही नहीं मन पर भी पूरा प्रभाव पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद् के वचन द्रष्टव्य है—**''आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ धुवा स्मृतिः स्मृतिलब्धे सर्व ग्रन्थीना विप्रमोक्षः''**[3]

उचित आहार के साथ-साथ उत्तम स्वास्थ्य का द्वितीय घटक निद्रा अपने आप में एक पूर्ण सुखद अनुभूति है। यदि व्यक्ति को नींद न आये तो वह विक्षिप्तावस्था में पहुँच जायेगा। एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए छः घण्टे की नींद पर्याप्त है तथा वृद्ध, बालकों हेतु आठ घण्टे की नींद पर्याप्त है। ब्रह्ममुहूर्त में जागरण और रात्रि के प्रथम प्रहर में शयन आवश्यक है। उत्तम स्वास्थ्य का तृतीय महत्त्वपूर्ण घटक ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल उपस्थ इन्द्रिय का संयम मात्र ही ब्रह्मचर्य नहीं है। प्रत्युत् अपनी इन्द्रियों एवं मन को विषयों से हटाकर ईश्वर एवं परोपकार में लगाने का नाम ब्रह्मचर्य है। इन तीनों घटकों के समुचित प्रयोग के द्वारा ही उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति संभव है।

भारतवर्ष में स्वास्थ्य रक्षा के प्रति जागरूकता का अभाव, गरीबी और अशिक्षा, मृत्युदर की

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कु. मायावती राजकीय महिला स्ना. महाविद्यालय बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर

अधिकता, मँहगी स्वास्थ्य सेवाएँ, अपौष्टिक और अपर्याप्त भोजन तथा अस्वस्थ्य वातावरण आदि वे कारण है जिनकी वजह से प्रतिवर्ष हजारों बच्चे, स्त्रियाँ, युवा और वृद्ध असमय ही काल के गाल में समा जाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने एक स्वस्थ एवं निरोगी व्यक्ति के लिए शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं सांवेगिक स्वस्थता को आवश्यक माना है। वही व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ होगा जो पर्याप्त और परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकेगा। उसी व्यक्ति का स्वास्थ्य सकारात्मक है जो शरीर और मस्तिष्क दोनों पर एक साथ सामंजस्य स्थापित कर सके। शरीर और मस्तिष्क एक साथ मिलकर कार्य करें ऐसे सकारात्मक स्वास्थ्य को हम योग के द्वारा सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

योग शब्द की चर्चा हमारे ऋषियों मुनियों द्वारा प्रणीत वेद, उपनिषद् गीता, पुराण आदि में पर्याप्त एवं विशद् रूप में प्राप्त होती है। भारतीय दर्शन में योग एक महत्त्वपूर्ण घटक है। आत्मदर्शन व समाधि से लेकर कर्मक्षेत्र तक योग का व्यापक व्यवहार हमारे शास्त्रों में हुआ है। योग दर्शन के महान् उपदेष्टा महर्षि पतंजलि अपने ग्रन्थ में योग को परिभाषित करते हुए कहते— **''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।''**[4]

आधुनिक आचार्य रामदेव का कथन है–**''प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति ये पंचविध वृत्तियाँ जब अभ्यास एवं वैराग्यादि साधनों से मन में लय को प्राप्त हो जाती हैं और मन दृष्टा (आत्मा) के स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, तब योग होता है।''**[5]

योग से हमारी सुप्त चेतना शक्ति का विकास होता है। शुप्त तन्तुओं का पुनर्जागरण होता है। योग की सूक्ष्म क्रियाओं द्वारा हमारे स्नायु तन्त्र को चुस्त किया जाता है जिससे रक्त संचार पूर्णरूपेण सम्यक् रीति से होने लगता है। शरीर के संकुचन एवं प्रसारण से जीवनी शक्ति का विकास होता है, रोगों की निवृत्ति होती है, पाचन तन्त्र पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाता है। शरीर स्वस्थ, हल्का और स्फूर्ति युक्त बन जाता है। योग से इन्द्रियों एवं मन का विग्रह होता है तथा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शान्ति होती है। महर्षि व्यास योग का अर्थ समाधि करते हैं—**''योगः समाधिः।''**[6] इस प्रकार हमारे मनीषियों ऋषियों की मान्यताओं के अनुसार योग का तात्पर्य स्वचेतना और चेतना के मुख्य केन्द्र परमचैतन्य प्रभु के साथ संयुक्त हो जाना है। सम्पर्क बोध से रागोपहति होने पर जब व्यक्ति वैराग्य के भाव से अभिभूत होता है तब वह समस्त क्षणिक भावों, वृत्तियों से ऊपर उठकर आत्मसत्ता से सम्पर्क में आता है।

भारतीय वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण योग को विभिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं। अनुकूलता–प्रतिकूलता, सिद्धि–असिद्ध, सफलता–विपलता, जय–पराजय इन समस्त भावों में आत्मस्थ रहते हुए सम रहने को योग कहा है—

''योगस्थः कुरू कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[7]

जैन आचार्यों ने भी योग को आत्मा की सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है— **''मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते।**[8] महर्षि पतञ्जलि ने योग के महत्त्वपूर्ण आठ अंग स्वीकार किए हैं—**''यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टा–वङ्गानि''**[9] अर्थात् यम, नियम, आसन प्रणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अतः सम्यक् विवेचनोपरान्त हम कह सकते हैं कि योग एक पूर्ण विज्ञान है, पूर्ण जीवन शैली है, एक पूर्ण चिकित्सा पद्धति है और पूर्ण

अध्यात्म विद्या है। योग की लोकप्रियता का स्पष्ट कारण यह है कि यह लिंग, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, क्षेत्र एवं भाषा भेद की संकीर्णताओं में नहीं जकड़ा है। इसका आश्रय केवल पर्वतों की गुफाओं में आवासित साधु, सन्तों के लिए ही नहीं है अपितु साधक, चिन्तक, गृहस्थ कोई भी योग का आश्रय ले सकता है। योग की मात्र व्यक्ति के निर्माण में ही नहीं बल्कि परिवार, समाज, देश एवं विश्व के निर्माण एवं कल्याण में योग की महती उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है।

आज मानव जिस तनाव, मानसिक अशान्ति एवं आतंकवाद की छाया तले अपना जीवनयापन करने के लिए मजबूर है। इन सबसे मुक्ति दिलाने में केवल योग ही सक्षम है, क्योंकि योग ही मनुष्य को सकारात्मक चिन्तन के प्रशस्त पथ पर लाने की एक अनुपम सीढ़ी है, जिसे हजारों वर्ष पूर्व हमारे मनीषी ऋषियों ने आविष्कृत किया था। स्वस्थ मानव और सुखी समाज का निर्माण योग की शरण में ही संभव दिखलाई पड़ रहा है। सृष्टि के आदिकाल में योग जीवन शैली का एक अंग था। मध्यकाल में यह कुछ शिथिल पड़ गया, जिसके परिणामस्वरूप तनाव, अशान्ति, आतंकवाद जैसी समस्याएँ मानव जीवन को ही समाप्त करने लगी, किन्तु वर्तमान में चल रही योग क्रान्ति से पुनः अतीत की पुनरावृत्ति हुई है। आज सम्पूर्ण विश्व बिना भेदभाव के योग की शरण में जाता दिखाई दे रहा है, जिससे लाखों करोड़ों लोग लाभान्वित हो रहे हैं। अधिकांशतः व्यक्ति अंग्रेजी की मँहगी दवाओं का प्रयोग नहीं कर सकते उनके लिए योग एक वरदान के रूप में है। विश्व बैंक रिपोर्ट के अनुसार भारत की स्वास्थ्य सेवाओं की रिपोर्ट एक कटु सत्य है—''**भारत में मात्र 35 प्रतिशत लोग ही बीमार होने के बाद उपचार ग्रहण कर पाते हैं।**''[10] इस परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण विश्व के आम आदमी के लिए योग एक शारीरिक व्यायाम मात्र नहीं प्रत्युत एक सम्पूर्ण चिकित्सा-विज्ञान है।

योग की सूक्ष्म क्रियाओं द्वारा सूक्ष्म स्नायुतन्त्र चुस्त होकर रक्त संचार को ठीक करता है। आसन एवं प्राणायाम के द्वारा शरीर की ग्रन्थियों व मांस पेशियों में कर्षण-विकर्षण संकुचन प्रसारण तथा शिथिलीकरण की क्रियाओं द्वारा शरीर आरोग्य होता है तथा रक्त धमनियाँ एवं शिराएँ स्वस्थ होती हैं। यौगिक क्रियाओं द्वारा पेन्क्रियाज एक्टिव होकर इन्सुलिन उचित मात्रा में बनने से डाइविटीज से मुक्ति मिलती है। योगाभ्यास के बाद हमारे अन्दर से हार्मोन्स उचित मात्रा में स्रावित होते हैं, जिससे आन्तरिक रासायनिक प्रक्रिया सक्रिय हो जाती है। अतः विभिन्न रोगों के कारक वात, पित्त, कफ सम अवस्था में आकर शरीर को स्वथ्य रखने में योग महती भूमिका निभाते हैं।

वर्तमान समय में योग की पुनर्स्थापना का सम्पूर्ण श्रेय स्वमी रामदेव को जाता है। स्वामी रामदेव के दिशा-निर्देशों पर आज भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व योग शिविर चला रहा है और कैन्सर, गठिया, मानसिक तनाव, अशान्ति, डायविटीज, उच्च रक्तचाप, माइग्रेन, टी०बी०, दमा, अस्थमा, सरवाइकल, अवसाद आदि अनेकानेक रोगों से लाभ एवं मुक्ति प्राप्त कर रहा है। योग वर्तमान के रोगों को ही दूर नहीं करता है बल्कि भविष्य में होने वाले ज्ञात-अज्ञात अनेक रोगों को पनपने से भी रोकता है। योग रोगों से मुक्ति दिलाकर उत्तम स्वास्थ्य को तो प्राप्त कराता ही है इसके साथ ही साथ आत्मशक्ति, राष्ट्रभक्ति, विश्वशान्ति में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है।

अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आज सम्पूर्ण विश्व मानव जनित अनेकानेक समस्याओं से जकड़ा हुआ जी रहा है कहीं भी शान्ति नहीं है। ऐसे भयावह समय में योग की परमावश्यकता है। योग

के द्वारा ही हमारा मन शान्त होगा और सकारात्मक सोच उत्पन्न होगी सकारात्मक स्वास्थ्य से न हम केवल अपना जीवन सुखी कर सकेंगे, अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व को उन्नत एवं समृद्ध बनाने में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान कर सकेंगे। तभी सभी सुखी हों, सभी निरोगी हों, सभी का कल्याण हो, किसी को कोई कष्ट न हो कि कल्पना साकार हो सकेगी। योग की इन सभी महत्ताओं को स्वीकार करते हुए विश्व समुदाय ने 21 जून 2015 से योग-दिवस मनाने का निर्णय लिया है। जिससे पतञ्जलि द्वारा प्रारम्भ किया गया यह योग जन-जन तक पहुँच सके और स्वस्थ मानव समाज का निर्माण हो सके।

सन्दर्भ सूची

1. The Politics–Aristotle
2. सुश्रुत-संहिता
3. छान्दोग्योपनिषद्
4. योगसूत्र, महर्षि पतञ्जलि – 12
5. योगसाधना व योग चिकित्सा रहस्य, स्वामी रामदेव, पृष्ठ संख्या – 1
6. व्यासभाष्यम् (योगदर्शन) 1.1
7. श्रीमद्भगवद्गीता, 2.48
8. यशोविजय - द्वात्रिंसिका, 10.1
9. योगसूत्र, महर्षि पतञ्जलि – 2.29
10. विश्व बैंक रिपोर्ट, पृष्ठ संख्या – 11

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 79-83

द्वैतवादी सांख्यदर्शन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ० (श्रीमती) मनोरमा गुप्ता*

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन की चरम सीमा '**दर्शन**' में विद्यमान है। मानव सभ्यता के प्रारम्भ में सर्वप्रथम भारतीय दर्शन ने संसार में सर्वव्यापक परमतत्त्व का 'ब्रह्म' के रूप में अनुभव और साक्षात्कार किया। मनीषियों के आत्ममंथन से उद्भूत रहस्य ग्रन्थि सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दार्शनिक ज्ञान ग्रन्थ हैं जिनमें कपिलमुनि प्रणीत सांख्यदर्शन शिरोमणि है। '**तस्मान्न बध्यते यद्वा न मुच्यते**'[1] उद्घोषणा के साथ सांख्य जीवन्मुक्ति के कपाट खोलता है। सांख्य दर्शन की प्रशंसा करते हुए डॉ० उमेश मिश्र का कथन है—''**सांख्यदर्शन वास्तव में मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्त्व स्थूल नहीं है। वे हमारे बौद्धिक जगत् के तत्त्व हैं। इस जगत् में केवल सूक्ष्म तत्त्व ही हैं। उनके सम्बन्ध में विचार भी सूक्ष्म हैं।**''[2] आइजेंक के अनुसार (1952) ''**व्यक्तित्व व्यक्ति के चरित्र, चित्तप्रकृति, ज्ञानशक्ति तथा शारीरिक गठन का करीब-करीब एक स्थायी एवं टिकाऊ संगठन है जो वातावरण में उसमें अपूर्व समायोजन का निर्धारण करता है।**''

सांख्यदर्शन के आलोक में व्यक्तित्व को परखना गहरे सागर में निमज्जन करना है। व्यक्तित्व क्या है? हमारे चेतन और अचेतन अंश दोनों मिलकर व्यक्तित्व का गठन करते हैं, जो बाह्य परिवेश में अभिव्यक्त होता है और उसके द्वारा प्रभावित भी होता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मानव का व्यक्तित्व उसकी क्षमताओं स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा मान्यताओं का समूह है, जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न जाना जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों के इस कथन पर यह प्रश्न स्वाभाविक है "कौन सोचता है, अनुभव करता है, इच्छा करता है और क्रिया करता है? शरीर, मन, अहंकार और वातावरण के परिवर्तनों के बीच कौन सा ऐसा तत्त्व है जो स्थायी बना रहता है।" सांख्यदर्शन के आलोक में इन प्रश्नों का समाधान सहजता से हो जाता है।

सांख्यदर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह दो प्रमुख तत्त्वों को मानता है–(1) प्रकृति (जड़) (2) पुरुष (चेतन)। इसके अनुसार 'मानव-व्यक्तित्व' 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों की अन्तःक्रिया का परिणाम है[3] जबकि जीव अर्थात् आनुभाविक आत्मन् इन दोनों के मिलने से बनता है। प्रकृति को जड़ कहा गया है क्योंकि वह मूलतः जड़ पदार्थ है। जड़ होने के कारण 'प्रकृति' में चेतना का अभाव पाया जाता है। चेतना का अभाव होने के बावजूद प्रकृति सक्रिय है। प्रकृति में क्रियाशीलता निरन्तर दिखाई पड़ती है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
साऽवयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।।

---

* एसो०प्रो० एवं अध्यक्षा–संस्कृत विभाग, कानपुर विद्या मंदिर महिला (पी०जी०), महाविद्यालय, स्वरूप नगर, कानपुर

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।[4]

पुरुष चेतन है। इसे वेदान्त में 'आत्मा' कहा गया है।[5] सांख्य सिद्धान्त में व्यक्तित्व के त्रयोदश अंग बताये गये हैं। इनमें दश बाह्य अंग है अर्थात्—पाँच प्रत्यक्षण के अंग हैं, पाँच कार्य करने के अंग है तथा महत्, अहंकार, मन तीन आन्तरिक अंग हैं। प्रत्यक्षण के पाँच अंगों को 'ज्ञानेन्द्रिय' तथा कार्य के पाँच अंगों को 'कर्मेन्द्रिय' कहा जाता है।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।।[6]

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से वाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है तथा पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा व्यक्ति को इन उद्दीपकों के प्रति अनुक्रिया करने तथा समझने में विशेष मदद प्राप्त होती है। व्यक्ति के तीन आन्तरिक अंगों का नाम है- बुद्धि, अहंकार और मन।[7] मन द्वारा चिन्तन का कार्य होता है[8] अहंकार से व्यक्ति में आत्मचेतना का नियन्त्रण होता है[9] तथा बुद्धि ज्ञानशक्ति का अंग होती है।[10] वाह्य अंग वस्तुओं के साथ सीधे सम्पर्क में आते हैं किन्तु आदेश आन्तरिक अंगों का होता है। वाह्य अंगों की प्रतिक्रिया के माध्यम से प्राप्त ज्ञान का 'मन' द्वारा जाँच की जाती है, 'अहंकार' द्वारा उसके महत्त्व का निर्धारण किया जाता है तथा 'बुद्धि' द्वारा उसकी उपयोगिता की जाँच की जाती है। इन मनोदैहिक अंगों के अतिरिक्त पाँच तन्मात्रायें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा पाँच महाभूत आकाश, तेज, वायु, जल, पृथ्वी मिलकर प्रकृति को पूर्णता प्रदान करते हैं।[11] बुद्धि 'पुरुष' एवं 'प्रकृति' के सूक्ष्म अन्तर का तो पता लगाती ही है साथ ही साथ इसमें सभी तरह की गत अनुभूतियों एवं स्मृति का संग्रह-गृह होता है।[12] इस तरह से यह कहा जा सकता है कि वाह्य ज्ञानेन्द्रिय व्यक्ति को अनिर्धाय आँकड़े प्रदान करती है। 'मन' उसे निर्धाय में बदल देता है[13] और 'बुद्धि' उसे निश्चित ज्ञान में बदल देती है।

सांख्यदर्शन ने पुरुष के स्वरूप वर्णन के लिए जिन शब्दों का आश्रय लिया है, उसमें त्रैगुण्य, अविवेकित्व, क्रियाशीलता अचेतनता आदि समस्त विशेषताओं का निराकरण करते हैं।[14] वह एक शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चेतन आत्मा है।[15] त्रिगुणभाव पुरुष में सुख-दुःख-आनन्द तथा मोह का भी निराकरण कर देता है। पुरुष न तो शरीर है और न नाशयुक्त बुद्धि, मन और इन्द्रिय है, वरन् वह नित्यता से परे सर्वदा एकरूपेण स्थित प्रकाशरूप है, उसके ज्ञान का प्रकाश प्रत्येक स्थिति में रहता है।[16] पुरुष में कर्तृत्व का अभाव है। वह मात्र साक्षी है। प्रकृति के कार्यों का दृष्टा है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह पुरुष (आत्मा) नष्ट नहीं होता।[17] जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को धारण कर लेता है।[18] पुरुष चेतन, साक्षी, विवेकी, विषयी तथा असामान्य है। इसे बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कोई नहीं देख सकता है।[19] इसका प्रमाण शब्द या आगम ही है।

'जीवात्मा' में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीर होते हैं। स्थूल शरीर को व्यक्ति अपने माता-पिता से प्राप्त करता है,[20] तथा मृत्यु के पश्चात् वह समाप्त हो जाता है। सूक्ष्मशरीर अपने चेतन अवस्था में दिन प्रतिदिन की क्रियाओं के रूप में कार्य करता है, परन्तु अपने गहरे अर्धचेतन रूप में, इसमें सिर्फ वर्तमान चेतन ही

नहीं होता है बल्कि अनगिनत गत अनुभूतियाँ भी संचित है। इसे 'संस्कार' कहा जाता है। संस्कार में संचित है तथा सूक्ष्म शरीर को एक जिन्दगी से दूसरी जिन्दगी में स्थानान्तरित करता रहता है। इस प्रकार सांख्य-योग के अनुसार व्यक्ति के प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्मों के अनुसार ही नवीन शरीर प्राप्त होता है। प्रारब्ध कर्मानुसार व्यक्ति जन्म लेता है तथा विशिष्ट भोगों को भोगने के उपयुक्त शरीर को भी वह ग्रहण करता है। इस प्रकार से उसके व्यक्तित्व में परिवर्तन पूर्व जन्मों से ही बहुत कुछ निर्धारित हो जाता है तथा कर्मों के अनुरूप ही माता-पिता, शरीर की बनावट, घर आदि प्राप्त होते हैं। क्रियमाण कर्म एवं कुछ प्रारब्ध कर्म से मिश्रित होकर इसी जन्म में फल प्रदान करते हैं तथा कुछ क्रियमाण कर्म अनेक पूर्व जन्मों के संचित कर्मों में मिल जाते हैं। इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का इच्छानुसार विकास कर सकता है। वह क्रियमाण कर्मों के द्वारा अपने व्यक्तित्व में परिवर्तन ला सकता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व व्यक्ति के द्वारा ही अनन्त जन्मों के कर्मों के द्वारा परिवर्तित होता आ रहा है तथा इस परिवर्तन में वर्तमान समय के कर्मों का भी हाथ है।

सांख्य सिद्धान्त में व्यक्तित्व को समझने के लिए 'गुण' के सम्प्रत्यय को भी महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। 'गुण' प्रकृति की सत्ता का निर्धारण करते हैं। गुणों के अभाव में प्रकृति की कल्पना असम्भव हैं सांख्यदर्शन में गुणों का वर्णन किया गया है जिनमें व्यक्ति की चित्त प्रकृति का निर्धारण होता है। ये तीन गुण निम्नांकित हैं—

(अ) सतोगुण— जिस व्यक्ति में सत्त्व गुण की प्रधानता होती है वह प्रखर बुद्धि का होता है तथा उसकी दृष्टि में स्पष्टता होती है। उसकी इच्छा तथा संवेग उसके नियन्त्रण में होता है। उसमें नैतिकता तथा अच्छाई का गुण होता है। उसका व्यवहार सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए होता है।[21]

(ब) रजोगुण— रजस् गुण से प्रभावित व्यक्तित्व अपनी इच्छाओं के प्रति लिप्तता अधिक दिखाता है। वह लालची एवं लोभी होता है। वह संवेग एवं आवेगों के प्रभाव में होता है। इन सब गुणों के कारण उसमें दुःख अधिक होता है उसमें उपलब्धि का स्तर प्रायः नीचा होता है।[22]

(स) तमोगुण— तमस् अज्ञान का प्रतीक है जो ज्ञान का अवरोधक होता है। इस गुण की प्रधानता वाले व्यक्ति में सम्भ्रान्ति तथा व्यामोह अधिक होता है। ऐसे व्यक्तियों के ध्यान में विचलन अधिक होता है। यह सत्त्वगुणों की क्रियाओं का विरोध करता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्तथा अधो गच्छन्ति तामसाः।।[23]

सत्त्व, तमस् और रजस् गुण न होकर निरन्तर आपस में अन्तःक्रिया करते हुए परिवर्तनशील दिखते हैं। इनमें से कोई एक व्यक्तित्व में प्रबल हो सकता है और इस प्रबलता का परिणाम यह होता है कि उस व्यक्ति में विशेष तरह का व्यवहार तथा चरित्र का निर्माण होता है। यद्यपि मौलिक रूप से ये तीनों गुण एक दूसरे से अलग एवं भिन्न होते हैं। वे साथ अन्तःक्रिया करते हैं तथा व्यक्तित्व पर उनका प्रभाव अचेतन रूप से पड़ता है।

श्रीमद्भगवद्गीता उसे श्रेष्ठ व्यक्तित्व वाला मानती है जो तीनों गुणों से परे है अर्थात् त्रिगुणातीत है। यह त्रिगुमातीत ही 'स्थितप्रज्ञ' व्यक्तित्व है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्चते।।[24]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी इन त्रिविध गुणों से भिन्न त्रिगुणातीत व्यक्तित्व की चर्चा भारतीय मनोविज्ञान के चिन्तन का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण पहलू है, जो परिपक्व व्यक्ति की संकल्पना को उद्घाटित करती है।

कठोपनिषद् एक रथ के दृष्टान्त के द्वारा मानव व्यक्तित्व का वर्णन करता है। 'आत्मा' रथ का स्वामी है। शरीर ही रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है[25], जिससे कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण रूपी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ आदि कर्मेन्द्रियाँ जुड़ी है। भोग्य विषय रूपी पथ पर यह रथ चलता है। जो व्यक्ति आत्मा इन्द्रिय मन के साथ तादात्म्य का बोध करता है, उसे विषयों या कर्मफलों का भोक्ता कहा जाता है।[26] यदि घोड़े प्रशिक्षित नहीं है, सारथी सोया हुआ है तो रथ अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार यदि इन्द्रियाँ नियन्त्रण में नहीं लायी गयी, विवेक की शक्ति सोयी रह गयी, तो व्यक्ति मानव जीवन के लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार यदि बुद्धि जाग्रत् है और मन तथा इन्द्रियाँ अनुशासित तथा संयमित है, तो व्यक्ति जीवन के लक्ष्य तक पहुँच सकता है और वही 'श्रेष्ठ व्यक्तित्व' कहलाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में 'सांख्ययोग' सुख-दुःख को समभाव से ग्रहण करने की शिक्षा देता है।[27] यह मनुष्य का मानसिक सन्तुलन बनाए रखता है। सोंच को सही मार्ग दिखाता है। इसमें मनुष्य को जीवन में तटस्थ भाव से निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त होती है। सांख्ययोग को 'संन्यास-योग' भी कहा गया है, पर यह संन्यास आश्रम वाला संन्यास नहीं है बल्कि संसार में रहकर निष्काम कर्म करने से ही संन्यास का पालन हो सकता है। मनुष्य को देहाभिमान नहीं होना चाहिए। यह अहंभाव उत्पन्न करता है। इससे रहित मनुष्य चिन्ता व तनावरहित हो कर्म के प्रति समर्पित होता है। यह मनुष्य व समाज दोनों के लिए कल्याणकारी है। यही है आदर्श व्यक्तित्व की संकल्पना, जो **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का मूलमन्त्र है।

दुर्लभ मानुष जनम है, देह न बारम्बार।
तरुवर ज्यों पत्ती झड़ै, बहुरि न लागै डार।।[28]

सन्दर्भ-सूची

1. सांख्यकारिका, डॉ० कृष्णकांत त्रिपाठी, रामबाग ग्रन्थम्, कानपुर, कारिका-62
2. भारतीय दर्शन— डॉ० उमेश मिश्र, पृ० 270
3. सांख्यकारिका— कारिका 60
4. वही, कारिका 10, 11
5. (अ) न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः'— सांख्यकारिका— 3
   (ब) वेदान्तसार— व्या० डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी, सुभाष भण्डार मेरठ, पृ० 119, कारिका-135
6. सांख्यकारिका—26

7. युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः।। सांख्यकारिका— 30
8. 'उभयात्मकं मनः— सांख्यकारिका 27
9. सांख्यकारिका— 24
10. 'अध्यवसायो बुद्धि धर्मः' सांख्यकारिका— 23
11. श्रीमद्भगवद्गीता 13/5
12. वेदान्तसार— व्या० डा० कृष्णकान्त त्रिपाठी
13. 'मनोनामसंकल्पविकल्पात्मिकान्तः करणवृत्तिः'— वेदान्तसार— कारिका 66
14. जयमंगला, पृ० 25
15. सांख्यसूत्र, 1/15, 1/19
16. वही 5/16
17. श्रीमद्भगवद्गीता 2/20
18. वही— 2/22
20. सांख्यकारिका—17
20. वही— 39
21. वही— 12
22. वही— 13
23. श्रीमद्भगवद्गीता— 14/18
24. वही— 2/56, 14/25
25. कठोपनिषद्— 1/3/3
26. वही— 1/3/4
27. श्रीमद्भगवद्गीता— 2/48
28. दोहावली— कबीरदास

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 84-89

प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति एवं संस्कृत वाङ्मय में प्रयोग

रोशन सिंह*, डॉ० पूजा सिंह**

संस्कृत साहित्य के प्रारम्भिक काल से ही कवियों और विद्वानों में निर्जीव वस्तुओं और मानवीय गुणों का मानवीकरण कर उन्हें मूर्त्त रूप देकर वर्णन करने की प्रवृत्ति रही है। मानव के हृदयगत भाव जो अमूर्त्त हैं, उनको जब तक मूर्त्त रूप में प्रकट नहीं किया जाता है, तब तक वे सूक्ष्म ही होते हैं और उनको स्थूल इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जा सकता है। परन्तु जब उन्हें प्रतीक शैली के माध्यम से मूर्त्त रूप में ला दिया जाता है तब वे ही अमूर्त्त भाव अद्‌भुत प्रभाव शक्ति से युक्त सजीव रूप में अनुभूत होने लगते हैं, क्योंकि सूक्ष्म, विचारों को नामरूपात्मक जगत् में लाकर उन्हें स्थूल रूप देना, मनुष्य का स्वभाव है। इस प्रतीक शब्द के लिए भारतीय दार्शनिकों का अपना एक सिद्धान्त है।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्।[1]

अर्थात् ब्रह्म और माया का स्वरूप अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम इन पाँच अंशों में विभक्त है। प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और शेष दो माया के रूप हैं। इसको लौकिक पद्धति से इस प्रकार से कहा जा सकता है कि कोई वस्तु है—**अस्ति**, उसका हमें बोध होता है—**भाति**, वह हमें अच्छी लगती है—**प्रिय**, उसके रूप की हम कल्पना करते हैं, और उसे **नाम** देते हैं। किन्तु यदि कोई वस्तु हो ही नहीं, होने पर भी समझ में न आये अथवा समझ में आने पर भी अच्छी न लगे, तो उससे हम दूर ही रहते हैं और रूप नाम का प्रसंग ही नहीं उठता। इस प्रकार ज्यों-ज्यों मनुष्य के विचार विकसित होते गये त्यों-त्यों उनके प्रतीकों के रूप भी विकसित होते गये।

प्रतीक शब्द को अंग्रेजी भाषा में (एलीगोरिकल) कहते हैं। एलिगिरी शब्द ग्रीक एलो (allo) तथा एगोरियन (agoreuein) दो शब्दों से मिलकर बनता है, जिसमें एलो का अर्थ कुछ अन्य तथा एगोरियन का अर्थ 'कहना' (to speak) होता है अर्थात् 'एलिगरी' (Allegory) का अर्थ हुआ किसी चीज के बारे में कहना। इस प्रकार 'एलिगरी' शब्द हिन्दी के 'अन्योक्ति' शब्द के अधिक समीप है। एनसाइक्लोपीडिया (Encyclopedia) से एलगिरी शब्द का अर्थ स्पष्ट है—

1. Allegory—"A figurative representation conveying a meaning other than and in addition to literal"[2]
2. "Allegory—(from Greek allo, Some thing else and agoreuein, to speak) a figurative representation in which the signs (words or form) signify some thing

* प्रवक्ता-संस्कृत, नूरजहाँ महाविद्यालय, गोपामऊ, हरदोई
* प्रवक्ता-संस्कृत, प्रबुद्ध महाविद्यालय, सण्डीला, हरदोई

besides their literal or disect meaning, each meaning being complete in itself."[3]

प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति

कोश ग्रन्थों और प्रत्ययों के माध्यम से प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है—

1. **प्रतीयते ज्ञायते वा इति प्रतीकम्। प्रति + इण् + कीकच्।**[4]
2. **प्रतीक विशेषण (प्रति कन्, निपात)**[5]
3. **प्रतीक विश्लेषण (प्रति + कन्, नि दीर्घ)**[6]
4. **प्रतीक - (प्रति + कन्, नि दीर्घ)**[7]

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो जाना जाए अथवा जो जनावे उस भाग या अवयव को प्रतीक कहते हैं। अमरकोश में प्रतीक शब्द को प्रतिकूलार्थक तथा पुल्लिंग में एकोदशार्थक भी माना गया है—**प्रतिकूले प्रतीकस्त्रिष्वेकदेशे तु पुंस्ययम्**[8] प्रतिकूलार्थक प्रतीक शब्द में पाणिनीय सूत्र **नघृतश्च** से कप् प्रत्यय मानकर उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—**प्रतिगता ई लक्ष्मीर्येन यं वा। नघृतश्च 5/4/153 इति कप्।**[9] अमर सिंह ने शब्द कोश में प्रतीक का प्रयोग 'अङ्ग' अर्थ में किया है।[10] कान्ता प्रसाद ने प्रतीक शब्द का प्रयोग 'अवयव', 'अङ्ग' 'चिन्ह' और निशान के अर्थ में किया है।[11] इस प्रकार प्रतीक शब्द अङ्ग, अवयव, शरीर, मूर्तिवाची सिद्ध होता है।

वैदिक वाङ्मय में प्रतीक शब्द का प्रयोग—

संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध भारतीय विद्याओं की प्रायः सभी शाखाओं की प्राचीनतम ज्ञानराशि वेद है, अतः हमें सर्वप्रथम वेदों में प्रयुक्त प्रतीक शब्द के अर्थ पर विचार करना होगा। वैदिक संहिताओं में प्रतीक शब्द का प्रयोग हमें कई स्थलों पर प्राप्त होता है। ऋग्वेद संहिता की देव - कल्पना में प्रकृति की अमूर्त्त शक्तियों को मूर्त्तरूप में वर्णित करने की चेष्टा की गयी है। उदाहरणस्वरूप—शक्ति अधिष्ठातृ देवता इन्द्र का वर्णन देखा जा सकता है।[12] इसी प्रकार वाक्सूक्त[13] में अमूर्त्त वाक् को मूर्त्तरूप में चित्रित किया गया है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के एक मन्त्र में 'मोह', 'अज्ञान', 'मात्सर्य', 'काम', 'अभिमान' को क्रमशः उलूक, भेड़िया, कुत्ता, चिड़ा (पक्षी विशेष), गरुड़ और गृध्र इन विभिन्न पशुओं की संज्ञा देकर एक अभिन्न रूप में चित्रित किया गया है।[14] ऋग्वेद संहिता के एक स्थल पर प्रतीक शब्द का प्रयोग मूर्ति रूप में किया गया है—''**यो दत्र वां उषसो न प्रतीकम्**''[15] अर्थात् जो उषा की मूर्ति के समान दानशील हो। दूसरे स्थल पर इसका प्रयोग 'प्रतिरूप' के अर्थ में हुआ है— **जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद् वर्मी यति समदामुपस्थे।**[16] अर्थात् बादल के प्रतिरूप में दिखायी देता हुआ कवचधारी युद्ध के बीच जाता है। तीसरे स्थल पर प्रतीक शब्द का प्रयोग चिन्ह के अर्थ में किया गया है—''**सुसंहक ते स्वनीकं प्रतीकम्**''[17] अर्थात् हे अग्नि तुम्हारी सुन्दर ध्वजा वाला प्रतीक (चिन्ह) देखने में सुन्दर है। चौथे स्थल पर प्रतीक शब्द का प्रयोग रूप के अर्थ मे किया गया है— **इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन।**[18] अर्थात् मैं नमस्कारों द्वारा राजा (वैश्वानर अग्नि) को उसके अनुगामियों सहित प्रज्ज्वालित करता हूँ जिस अग्नि का प्रतीक (रूप) घी से सना हुआ है।

इस प्रकार तद्भिन्न कई स्थलों पर क्रमशः मुख[19], शरीर[20], अङ्ग[21], रूप[22] आदि अर्थों में भी प्रतीक शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद में भी मन की अनेक शक्तियों का वर्णन मूर्त्त व्यक्ति के रूप में

किया गया है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[23]

सामवेद में श्रद्धा को माता से अभिन्न रूप में चित्रण किया गया है—

पितायत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः।[24]

संहिताओं में इस प्रकार के अनेक मन्त्र भरे पड़े हैं, किन्तु फिर भी इनमें सादृश्य अथवा अभेद के माध्यम से ही अमूर्त का मूर्त्त रूप में वर्णन हुआ है। अमूर्त्तों का मूर्त्त रूप में साक्षात् वर्णन इसके बाद ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और निरुक्त आदि में प्रारम्भ होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतीक शब्द का प्रयोग

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रतीक शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। शांखायन ब्राह्मण में एक स्थल पर प्रतीक शब्द का प्रयोग संकेत या द्योतन अर्थ में हुआ है—

विभक्तिभिः प्रयाजानुयाजान्यजत्यर्तवो वै प्रयाजानुयाजा ऋतुभ्य एनं तत्समाहरत्यग्र मायाहि वीतयेऽग्निं दृतं वृणीमहेऽग्निनाऽग्निः समिध्यतेऽग्निर्वृत्राणि जङ्घनदग्नेः स्तोमं मनोमहे ग्रायो मर्त्यो दुव इत्येतासामृचां प्रतीकानि.....।[25] तदनन्तर शतपथ ब्राह्मण में प्रतीक शब्द का प्रयोग 'मुख' अर्थ के रूप में किया गया है।[26] कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'प्रतिरूप' के अर्थ में[27] और अथर्ववेद के गोपथब्राह्मण में 'अङ्गो के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[28]

उपनिषदों में प्रतीक शब्द का प्रयोग

वैदिक साहित्य की अन्तिम उपज उपनिषद् हैं, जिन्हें वेदान्त भी कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति उपनिषदों में भी प्रतीक शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर मिलता है। शुक्लयजुर्वेद का वृहदारण्यक उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। इसके छठें अध्याय के प्रथम मण्डल में प्रतीकात्मक संवाद तथा अमूर्त्त इन्द्रियों और प्राण का प्रतीकात्मक रूप में वर्णन किया गया है।[29] इस उपनिषद् के पञ्चम ब्राह्मण में प्रतीक शब्द का प्रयोग 'मुख' रूप में प्रयुक्त हुआ है।[30] छान्दोग्योपनिषद् के एक स्थल पर प्रतीक शब्द का प्रयोग प्रतीकोपासना के रूप में[31] तथा दूसरे स्थल पर देवासुर संग्राम के रूप में ज्ञानेन्द्रियों का सत–असत् संग्राम के रूप में प्रतीकात्मकता को द्योतित कर रहा है।[32] पारस्कर गृह्यसूत्र में भी प्रतीक शब्द का प्रयोग अङ्ग अर्थ में किया गया है।[33]

काव्यों और पुराणों में प्रतीक शब्द का प्रयोग

महाभारत के आदिपर्व में अमूर्त्त भाव—तत्त्वों को मूर्त्त मानव के रूप में कल्पित किया गया है। जिसमें धर्म की दस पत्नियाँ साथ ही 'शम', 'काम', 'हर्ष', तीन पुत्र और 'रति', 'प्राप्ति' तथा 'निन्दा' को क्रमशः पत्नियों के रूप में चित्रित किया गया है।[34] शिशुपालवध काव्य के 18वें सर्ग के 79वें श्लोक में भी प्रतीक शब्द का प्रयोग अवयव के ही अर्थ में हुआ है।[35]

प्रतीक शब्द का प्रयोग आदिकवि वाल्मीकि ने भी किया है। वाल्मीकि जी की रचना शैली पर गम्भीरता से विचार करने पर यह तथ्य आभासित होता है कि इसमें प्रतीकात्मकता को संभाल कर रखा गया है। एक तरफ जहाँ राम विवेक के पात्र हैं तो रावण मोह का। सीता विवेक की पत्नी बुद्धि और मन्दोदरी मोह

की पत्नी मिथ्या दृष्टि की प्रतीक हैं। इस प्रकार विवेक के पात्र राम तथा मोह के पात्र रावण का युद्ध उस शाश्वत युद्ध को प्रतीक के रूप में हमारे सामने उपस्थापित करता है, जो प्रत्येक युग में होता आया है और आगामी युगों में भी होगा। अत्याचारियों का प्रादुर्भाव उनकी स्थिति और उनका विनाश यह हरेक युग में दृष्टिगोचर होता है।

संस्कृत के अन्य महाकाव्यों, खण्डकाव्यों एवं गीतिकाव्यों में भी प्रतीकात्मकता का प्राचुर्य है। कालिदास का कुमारसम्भव प्रतीक कथा के धारण करने में अग्रणी माना जा सकता है। इसमें पार्वती और शिव का जो संयोग दिखाया गया है वह वस्तुतः शिव और शक्ति का संयोग माना जाना चाहिए। जिस शिव और शक्ति के संयोग से सारा संसार चक्र चलता है वह चिरन्तन है। शिव शक्ति में बीजवपन करता है और शक्ति सृजन करती है, यही अनादि परम्परा है और उसी भाव को कालिदास ने अपने महाकाव्य में चित्रित किया है फिर कुमार कार्तिकेय का विचित्र रूप में जन्म लेकर ताड़कासुर का वध करना भी पाप पर पुण्य की विजय का ही प्रतीक है। श्रीमद्भागवद्पुराण में जीव को राजा तथा ईश्वर को मित्रवत् 'अविज्ञात्' के रूप में वर्णित किया गया है।[36] श्रीमद्भागवत् में ही पुरजन को पुरुष और पुरजनी को बुद्धि का प्रतीक माना गया है।[37]

जैनधर्म के काव्यों में भी प्रतीकात्मकता का दर्शन हमें होता है। जैनधर्म का काव्य ''**उपमित भव प्रपञ्च कथा**'' तो पूर्णतया प्रतीकात्मक कृति ही मानी जा सकती जिसमें सर्वत्र कथानक प्रतीकात्मकता को धारण करते हैं। इसके रचयिता सिद्धर्षि सूरि माने जाते हैं। जिनका समय दसवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। इस महाकाव्य में जीव का संसार में दुःख भोगना और जन्म-जन्मान्तर तक संसार के चक्र में फँसे रहने की कथा को प्रतीकात्मक रूप में रखा गया है। इस काव्य के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें संसार के प्रपञ्चों का उपमाओं के माध्यम से वर्णन हुआ है। कवि ने सर्वत्र प्रतीकों के माध्यम से अपनी बातों को रखा है। कवि ने महामोह का वर्णन करते हुए लिखा है कि राग केसरी का जनक महामोह बच्चों एवं स्त्रियों में भी प्रसिद्ध है और वह अनेक आश्चर्ययुक्त कार्यों को प्रसन्न करने वाला है और वह त्रिलोक प्रसिद्ध है। इन्द्र इत्यादि बड़े-बड़े देवता भी इसके किंकर है।[38]

प्रतीक शब्द का कोशों में प्रयोग

वैदिक काल से प्रयोग में आने वाले इस प्रतीक शब्द के अर्थ को भिन्न भिन्न अर्थों में बतलाया गया है। इन विभिन्न अर्थों का संग्रह अमर कोश[39] मेदिनी कोश[40] शब्दरत्नसमन्वय कोश[41] वाचस्पत्यम्[42] इत्यादि प्राचीन कोशों में किया गया है। उपर्युक्त विभिन्न कोशों के अर्थों का ही अनुकरण करते हुए अर्वाचीन कोशकारों में मौनियर विलियम्स[43], वामन शिवराम आप्टे[44] आदि कोशकारों ने भी अपनी स्वीकृति दी है। किसी भाव विशेष में या शास्त्रीय तत्त्व विशेष को गतिशील मनुष्य की तरह चित्रित करने के प्रयास में सफलता प्राप्त करना कठिन कार्य है। परिपक्व शास्त्रीय ज्ञान और प्रौढ़ कवित्व शक्ति वरदान रूप में प्राप्त हो तभी अमूर्त्त को मूर्त्त रूप में प्रदान करने में सफलता प्राप्त होती है उपर्युक्त आख्यानों से प्रतीत होता है कि संस्कृत वाङ्मय में ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण, काव्यशास्त्र और नाट्यादि साहित्य में कितनी सरसता से अमूर्त्त तत्त्वों को मूर्त्तत्त्व प्रदान कर प्रतीकात्मक ग्रन्थों को विद्वानों द्वारा प्रौढ़ बनाया गया, जो कि अत्यन्त सरस, स्पष्ट और ग्रहणीय विषय है।

सन्दर्भ-सूची

1. भारतीय प्रतीक विद्या, डॉ. जनार्दन मिश्र, पृ. 1
2. The Encyclopedia Britanica, Vol. I, Page 645
3. The Encyclopedia Americana, Vol. I, Page 411
4. उणादि प्रकरण—सिद्धान्त कौमुदी, 4/65
5. पारिजात शब्दकोश, पृ. 591
6. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा, पृ. 657
7. संस्कृत हिन्दी-कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 657
8. अमरकोश, पृ. 229
9. अमरकोश - 3/3/7 (पाणिनीय सूत्र), पृ. 543 (रामाश्रयी टीका)
10. अङ्क प्रतीकोऽव्यवोऽपघनो - तथैव - पृ. 118
11. हिन्दी विश्वकोश, कामता प्रसाद, पृ. 865
12. ऋग्वेद संहिता - 1/30/15, 1/62/12
13. तथैव - 1/10/125
14. तथैव - 7/104/22
15. ऋग्वेद संहिता - 6/50/8
16. ऋग्वेद संहिता - 6/75/1
17. तथैव - 7/3/3
18. तथैव 7/8/1
19. "यावन्मात्रं उषसो न प्रतीकं, सुपर्ण्यो वसते मातरिश्वः" तथैव - 10/88/19
20. स आहुतो विरोचते अग्निरीकेन्यो गिरा सुचा प्रतीकमज्यते। ऋग्वेद संहिता - 11/118/3
21. वि सानुना पृथ्वी सस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्निः। तथैव - 7/36/1
22. तथैव - 10/118/8
23. यजुर्वेद - 34 अध्याय, 6 मन्त्र
24. सामवेद पूर्वार्चिक, आग्नेयकाण्ड, प्रथम प्रपाठक, नवमखण्ड, दसवाँ मन्त्र।
25. शांखायन ब्राह्मण - 1/4
26. सोऽन्नमति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकम् - शतपथ ब्राह्मण - 14/4,3,7
27. जीमूतस्येव भवति प्रतीकमित्याह। तैत्तिरीयब्राह्मण - भाग 2-3/9,4,3
28. तानग्निना मुखेनान्ववग्यन्, यदाग्निमनष्टुपसदा प्रतीकानि भवन्ति। गोपथ ब्राह्मणोत्तर भाग - 2/2/8
29. वृहदारण्यक उपनिषद् - 6/1/7-14
30. सोऽन्नमति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्। वृहदारण्यक उपनिषद् - 5/1/2
31. छान्दोग्योपनिषद् - 1/1 भाष्य
32. तथैव - 1/2/12
33. पारस्करगृह्यसूत्र - 3/16/1

34. महाभारत, आदिपर्व 66/14, 15
35. कीर्णरिजै साजि भूमिः समन्तादप्राणद्भिः प्राणभाजां प्रतीकैः।
वह्वारम्भैरर्धसंयोजितैर्वा रूपैः स्रष्टुः सृष्टिकर्मान्तशाला।। शिशुपालवधम् माघ – 18/79
36. श्रीमद्भागवद्पुराण, स्कन्ध – 4, अध्याय – 29
37. इत्थं पुरञ्जनं सम्यग्वशमानीय विभ्रमैः।
पुरञ्जनी महाराजं रेमे रमयती पतिम्।। तथैव, स्कन्ध–4, अध्याय 25-28
38. उपमित भव प्रपच कथा – 229
39. अङ्क प्रतीकोऽवयवोऽपघनोऽथ कलेवरम्। गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः।। अमरकोश – पृ. 118
40. अङ्क गात्रे प्रतीकोपाययोः पुभूम्नि निवृति। मेदिनी कोश
41. (क) अङ्क क्ष्माभृत्पादयोरङ्ग चान्तिकगात्रयोः। प्रतीकोपाययोः पुंसि भूम्नि नीवृति गद्यते।।
शब्दरत्नसमन्वय कोश – पृ. 59, कारिका–2
(ख) प्रतीकूले प्रतीकः स्यात्तथावयवमात्रके। तथैव, पृ. 20, कारिका – 14
42. प्रति–कन् नि. दीर्घ अवयवे, प्रतिरूपे च। वाचस्पत्यम्, षष्ठो भाग : पृ. 4457
43. प्रतीक टर्नड् आर डायरेक्टेड टुवर्ड्स, कन्ट्रेरी, रिवर्स्ड शपे लुक अपीरेन्स, फेस लिम्ब, पोर्सन, मेम्बर। संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, मौनियर विलियम्स – पृ. 675
44. प्रतीक – डाइरेक्टेड आर ट्र्नड टुवर्ड्स, इनवर्टेड, अनफेवरेबुल, कन्ट्रेरी, एडवर्स, एलिम्ब, मेम्बर। संस्कृत इंगलिश वामन – शिवराम आप्टे, पृ. 360

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 90-94

अवसाद एवं उसके सन्दर्भ में वेद की उपादेयता

रमा राजपूत*

आधुनिक युग में मानसिक विकारों की वृद्धि दिन-प्रतिदिन हो रही है। मनोविकार को चित्त की अस्थिरता या मन, बुद्धि, व्यवहारादि की अस्थिर दशा माना गया है।[1] भारतीय आयुर्वेदाचार्यों ने चित्त की अस्थिरता को 'उन्माद' कहा है।[2] इसके दो भेद हैं- अन्तर्जात और बहिर्जात[3] या परतन्त्र और स्वतन्त्र[4] अथवा निज और आगन्तुक।[5] अन्तर्जात, परतन्त्र या निज से तात्पर्य अस्वास्थ्यकर वीर्य और प्रकृति विरुद्ध, दोषयुक्त तथा विषैले भोजन को ग्रहण करने से प्रकुपित हुए वात-पित्तादि देहद्रवों के कारण उत्पन्न होता है। बहिर्जात से तात्पर्य देवता गुरू द्विजादि पूज्यवर्ग का अपमान करने से अलौकिक-दिव्य शक्तियों का तिरस्कार करने से, दीर्घकाल तक भयग्रस्त रहने से, अत्यधिक उत्साह तथा मानसिक अभिघात के कारण मन तथा बुद्धि में रज और तम की वृद्धि होकर मनोविभ्रम से होने वाला उन्माद है[6] अर्थात् अल्पसत्त्व पुरुष, जिसका मनोबल क्षीण हो, ऐसे व्यक्ति में उपर्युक्त कारण बुद्धि के निवास स्थान हृदय को दूषित करके 'उन्माद' रोग उत्पन्न होता है।[7]

वर्तमान समय में 'वातोन्माद' को विखण्डित मानसिकता (Schizophrenia), पितोन्माद को 'उन्माद' (mania) तथा कफोन्माद को 'अवसाद' (Depression) कहा जाता है। पितृगृह व्याधि इसका बहिर्जात रूप है।[8] अत्यधिक सन्तर्पणजन्य कफज पदार्थों का अतिसेवन तथा व्यायाम और श्रम न करने से कफ कुपित होता है।[9] पहले से ही मानसिक कारणों से बुद्धि और मन में कुपित कफ अवसाद को उत्पन्न कर देता है।[10] अवसाद की उत्पत्ति के कुछ सर्वमान्य अन्वेषित कारक हैं—मृत्युरुग्णता, प्रियजन वियोग प्रेम में निराशा, आर्थिक असुरक्षा, आत्मविश्वास में कमी, एकाकीपन, मानसिक दुःख, भयादि। रोगोत्पत्ति आनुवांशिकता, प्रारम्भिक बाल्यावस्था के अनुभव, व्यक्तिगत व्यवहार पर भी निर्भर है।[11] किन्तु आनुवांशिक कारण होने पर भी यदि वातावरण बहुत स्वस्थ और सुखी हो तो अवसाद होना अनिवार्य नहीं है और यदि आनुवांशिकादि कारण नहीं है तो निरन्तर मानसिक आघात सहने वाला व्यक्ति बहुत दिनों तक अपना मानसिक संतुलन बनाये रखे यह भी असंभव है। इसमें रोगी बहुत कम और धीरे-धीरे बोलता है, शारीरिक श्रम में कमी भोजन में अरुचि एकान्तवास में रुचि होती है। नखादि श्वेत वर्ण के हो जाते हैं।[12] एकाग्रता, स्मरणशक्ति, बुद्धि एवं निद्रा में कमी रहती है, मृत्यु का भय रहता है साथ ही आत्महत्या की भावना बलवती होती है, दुश्चिन्ता, उदासी, शोक, निराशा, हतोत्साह से रोगी पूर्ण रहता है।[13] कायिक लक्षण जैसे-गर्दन, पेट, सीने, कमर और सारे शरीर में पीड़ा हो सकती है।[14] कब्ज, बार-बार लघुशंका जाना, नपुंसकता आदि लक्षण भी परिलक्षित होते हैं।[15]

''मानसिक स्वास्थ्य वह योग्यता है, जिससे जीवन की कठिन परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

करते हैं।"[16] मानसिक स्वास्थ्य या इच्छा शक्ति के लिए मानसिक रोगों से दूर रहना आवश्यक है। मानसिक रोग 'अवसाद' से बचने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में औषधीय चिकित्सा आवश्यक है, किन्तु साथ ही मानसिक स्वास्थ्य में वृद्धि अनिवार्य है। हमारे वेदादि अवसाद के कारण तथा प्रभावों को मानसिक बल की वृद्धि करके दूर करने के उत्तम साधन हैं।

अथर्ववेद में मानसिक रोगों को मन और चित्त द्वारा दूर करने का संकल्प किया गया है।[17] शुक्ल यजुर्वेद के शिवसंकल्पसूक्त में मन के साक्षात् शिवस्वरूप होने की प्रार्थना की गयी है।[18] मन का ऐसा स्वरूप जो सर्वविद्ध अनिष्टों, दुःखों, व्याधियों आदि से रहित हो तथा जिसमें किसी भी प्रकार के अमंगल की संभावना न हो। उदाहरण स्वरूप, "हे परमपिता परमेश्वर, मनुष्य को विविध पदार्थों को ग्रहण कराने वाला, शब्दादि विषयों का प्रकाशक, श्रोत्रादि इन्द्रियों का प्रवर्तक संकल्प-विकल्पात्मक मेरा मन मंगलकारी धर्म विषयक कार्यों वाला हुआ करे।[19]

पोषित अन्न—अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त में प्रार्थना की गयी है, कि जिस मातृभूमि की चार दिशाएँ हैं, जिसमें उद्यमशील तथा कृषक उत्पन्न हुए हैं, जो प्राणधारियों तथा गमनशील का पालनपोषण करती है, वह मातृभूमि हमें गौओं तथा सात्त्विक अन्नादि से पोषित करें।[20]

श्रम—श्रम के लिए प्रेरित करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप अथवा हरिश्चन्द्रोपाख्यान में कहा गया है, कि "श्रमशील मनुष्य के चरण पुष्पवत् हल्के हो जाते हैं, शरीर अथवा आत्मा में बुद्धि सम्भव होती है, फलतः मनुष्य आरोग्य हो जाता है। सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है क्योंकि श्रम पाप नाश में महत्त्वपूर्ण है।"[21] ऋग्वेद मे श्रम न करने वाले को डाकू कहा गया है—"**अकर्मा दस्युः**"। अथर्ववेद में कहा गया है कि वृद्धावस्था में शिथिलता आने पर भी वचनों द्वारा दूसरों के मार्गदर्शक के रूप में श्रमशील रहना चाहिए।"[22]

दिव्य शक्तियाँ—दिव्य महाशक्तियों के प्रतिकूल व्यवहार के प्रति कहा गया है, कि "दिव्यमहाशक्तियों के निर्धारित नियमों का अतिक्रमण करने वाला चाहे कितना ही पराक्रमी व महात्मा हो, उसका जीवन नष्ट हो जायेगा।"[23] दिव्यशक्तियों से प्रार्थना की गयी है, कि "पृथ्वी और अन्तरिक्ष की देव शक्तियाँ मेरा कल्याण करें।"[24]

दुःख—यजुर्वेद में प्रार्थना की गयी है कि "हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, शुद्धस्वरूप, सर्वसुखदाता परेश्वर! आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन दुःखों को दूर कीजिए जो कल्याणकारक गुण-कर्म स्वभाव और पदार्थ हैं, वह सब हमको दीजिए।[25]

भय—भयरहित कर आत्मबल की वृद्धि के लिए कहा गया है, कि हे प्रभु! आप जहाँ से इस समस्त संसार का संचालन कर रहे हैं, वहाँ से हमें अभय दान दो। हमारे साथियों, सभी प्राणियों तथा हमारी सन्तान के लिए अभयदान दो।[26]

सम्पत्ति हानि—सम्पत्ति हानि से बचने तथा आर्थिक पृष्ठभूमि को सुदृढ़ करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि हे सम्पूर्ण प्रजा के स्वामी, आप से भिन्न दूसरा कोई इन और उन सब उत्पन्न हुए जड़ चेतनादि के सर्वोपरि नहीं है। हम जिस-जिस पदार्थ की कामना कर आपका आश्रय लें उस-उस कामना की हमारी सिद्ध हो, जिससे हम धनैश्वर्यों के स्वामी हों।[27]

अवसाद के प्रभावों को दूर कर आत्मबल बढ़ाने के लिए वेदादि इस प्रकार उन्मुख है—

नकारात्मकता—रोगी में सकारात्मक भाव लाने के लिए कहा गया है कि ''उठो हमारे लिए नूतन प्राणशक्ति लेकर सूर्यदेव आ गये हैं। अन्धकार भाग गया है, उषा की आभा चारों ओर फैल रही है, जिसने सूर्य के निर्दिष्ट मार्ग को प्रशस्त किया है। हम उस स्थल पर आ गये हैं, जहाँ से जीवन पुनः विकास-पथ पर अग्रसर होता है।[28]

अनिद्रा—अनिद्रा नाश के लिए अथर्ववेद में रात्रि माँ से प्रार्थना की गयी है कि 'हे रात्रि माता' हे विभावरी दिन के परिश्रम से थके हारे हमें अपनी गोद में सुलाकर प्रभात बेला में माता उषा की गोद में दे देना। उषा माँ पुनः हमें सूर्य के वेगगामी रथ पर बैठा देगी और दिन की थकान के बाद सूर्य हमें पुनः तेरी गोद में विश्राम करने के लिए सुला देगा।[29]

बुद्धिह्रास—इसको दूर करने के लिए यजुर्वेद में प्रार्थना की गयी है कि ''जो मेधा देवगणों तथा हमारे पितरों द्वारा पूजित है, उसी मेधाग्नि से आज हमे मेधावान् बनायें।''[30] अथर्ववेद का सम्पूर्ण ''मेधा-जनन सूक्त'' मेधावृद्धि को समर्पित है।[31]

पापकर्म—इसको दूर करने के लिए ऋग्वेद में कहा गया है, कि ''हमने जो भी पापकर्म किये हैं, वे सब देवताओं को भक्तिपूर्वक नमस्कार करने से नष्ट हो जायें।''[32] आदित्य देव! आप हमें सभी पापों से मुक्त करें।[33]

हतोत्साह—हतोत्साह को दूर करने तथा उत्साह उत्पत्ति के लिए 'सोम' की स्तुति की गयी है कि ''तू मुझे अग्नि के समान उज्ज्वल कर मुझे उत्तम दृष्टि दे। मुझे सदा उत्साह से परिपूर्ण रख। हे सोम! तू हर्षित है तो मुझे लगता है कि मैं वैभवशाली हूँ। वैसी ही समृद्धि मुझे दे।''[34]

कायिक पीड़ा—ऋग्वेद में कायिक पीड़ाओं को दूर करने के लिए विनती की गयी है कि ''समस्त शरीर को व्याप्त किये हुए रोगों का उच्छेदन करो।''[35] अथर्ववेद में मन को दृढ़ तथा इच्छाशक्ति को प्रबल करने के लिए कहा गया है कि ''तुम डरो नहीं, तुम मरोगे नहीं, मैं तुम्हें कष्टरहित बनाता हूँ। मैं तुम्हारे अंगों से अंगज्वररूप रोग को बाहर कर रहा हूँ।''[36] सन्मार्गी बुद्धि ही आत्मबल में वृद्धि करती है। इसीलिए 'ऋग्वेद में प्रभु से अपनी बुद्धि को सन्मार्गी होने के लिए प्रार्थना की गयी है।[37] ईशावास्योपनिषद् में सन्मार्गी बुद्धि के आचरण को इस प्रकार बताया गया है कि ''यह समस्त संसार ईश्वर स्वरूप है, अतः किसी की सम्पत्ति का हरण न करते हुए त्याग के साथ इसका उपभोग करना चाहिए।''[38]

इस प्रकार वेदादि विभिन्न मन्त्रों के माध्यम से रोगी में आत्मबल की वृद्धि करते हैं तथा वर्तमान समय में मृत्यु स्वरूप अवसाद का समाधान प्रस्तुत करते हैं, जिनका आचरण स्वस्थ व्यक्ति को रोगी होने से बचाता है तथा रोगी व्यक्ति को रोगमुक्ति दिलाता है।

सन्दर्भ

1. मनोविज्ञान चिकित्सा की पाठ्य-पुस्तक, ए. बेकोबा राव, पृ. 27
2. चरकसंहिता, व्याख्याकार डॉ. ब्रह्मनन्द त्रिपाठी, पृ. 374
3. मनोविकार चिकित्सा की पाठ्य पुस्तक, ए. बेंकोबा।
4. रोग-विज्ञान, डॉ. विनय कुमार शर्मा, भाग-2, पृ. 241

5. समुद्भ्रमं बुद्धिमनःस्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहु। चरकसंहिता-9/8
6. (i) विरुद्ध दुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः।। चरक-संहिता 9/4
(ii) रोग-विज्ञान, डॉ. विनय कुमार शर्मा, भाग-2, पृ. 242
7. चरकसंहिता 9/5
8. मनोविकार चिकित्सा की पाठ्यपुस्तक, ए. बेंकोबा राव, पृ. 46
9. चरकसंहिता 9/13
10. रोग-विज्ञान, डॉ. विनय कुमार शर्मा, भाग-2, पृ. 244
11. मनोविज्ञान चिकित्सा की पाठ्य पुस्तक ए. बेंकोबा राव, पृ. 27
12. चरकसंहिता 9/14
13. (i) मनोविज्ञान चिकित्सा की पाठ्यपुस्तक, ए. बेंकोबा राव, पृ. 49, 168
(ii) Depression : Questions you have - answer you need, Sandra Salmans
14. (i) मनोविज्ञान चिकित्सा की पाठ्यपुस्तक, ए. बेकोवा राव, पृ. 81
(ii) Depression, National Institute of Mental Health.
15. मनोविज्ञान चिकित्सा की पाठ्यपुस्तक, ए. बेंकोबा राव, पृ. 168
16. Practical School Dicipline and mental hygiene, Cutts N.F., and Moselay N. p. 4
17. प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा। प्रैणान् वृक्षस्य शाखायास्वत्थस्य नुदामहे।। अथर्ववेद 3/6/8
18. शिवसंकल्प सूक्त, शुक्ल यजुर्वेद 34/1-6
19. यज्जाग्रतो दूरमुपैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। शुक्लयजुर्वेद 34/1
20. अथर्ववेद 12/1/3
21. पुष्पितौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।। ऐतरेय ब्रा./शुनः शेप आ./13
22. अथर्ववेद 8/1/6
23. न देवानामतिव्रतं, शतात्मा च न जीवति। तथा युजा विवावृते।। ऋग्वेद - 10/33/9
24. शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्। अथर्ववेद 19/41/1
25. ओउम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रन्तन्न आ सुव। यजुर्वेद - 30/3
26. यतोयतः समीहसे ततो नो अभयं कुरू। शं नः कुरू प्रजाभ्यः पशुभ्यः।। यजुर्वेद 36/22
27. ऋग्वेद 10/121/10
28. ऋग्वेद 1/13/16
29. रात्रिमातरुषसे नः परिदेहि, उषा नो अन्हे परिददातु, अहस्तुभ्यं विभावरि। अथर्ववेद 11/46/1
30. ओं यां मधा देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधाविन कुरु। यजुर्वेद 32/14
31. अथर्ववेद, मेधाजनन सूक्त - 1/1/1-4
32. कृतं चिदेनो नमसा विवासे। ऋग्वेद 6/51/18

33. आदित्यासो युयोतना नो अंहसः। ऋग्वेद 8/18/10
34. ऋग्वेद 8/48/61
35. व्यमीवा श्चातयस्वा विषूची। ऋग्वेद 2/32/2
36. अथर्ववेद 5/30/8
37. तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।। ऋग्वेद 3/62/10
38. ईशावास्योपनिषद्-1

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

प्राथमिक ग्रन्थ

- अथर्ववेद भाष्यम्, व्याख्याकार- प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार, प्रताप सिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल, 1977
- ईशावास्योपनिषद्, व्याख्याकार, हस्वरूप वशिष्ठ, हंसा प्रकाशन जयपुर, 2006
- सुश्रुत-संहिता, व्याख्याकार श्री डल्हणाचार्य एवं श्री गयादासाचार्य, चौखम्बा, ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित चतुर्थ संस्करण, 1980
- चरकसंहिता, व्याख्याकार डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1996
- ऋग्वेद-संहिता, व्याख्याकार, श्रीमत्सायणाचार्य, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, 1983
- ऋग्वेद-संहिता, अनुवादक, व्याख्याकार एवं संपादक, डॉ. जियालाल कम्बोज, विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004
- दयानन्द-यजुर्वेदभाष्यभास्कर, भाग 3, 4, व्याख्याकार श्री पण्डित सुदर्शन देव आचार्य, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1974

सहायक ग्रन्थ सूची

- हरदास, बालशास्त्री, वैदिक राष्ट्र-दर्शन, सुरुचि साहित्य, नई दिल्ली, 1982
- विद्यालंकार, सत्यकाम, वेद-पुष्पांजलि, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, 1977
- पाण्डेय, देवेन्द्रनाथ, वैदिक सूक्तसंग्रह, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2006
- डॉ. कृष्णलाल, 'सद्-विचार-बिन्दु, मोनिका बुक्स दिल्ली, 2010
- शर्मा, डॉ. विनय कुमार, रोग-विज्ञान, भाग-2, ऋषि पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1996
- राव ए. बेंकोबा, मनोविकार चिकित्सा की पाठ्यपुस्तक, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1983
- Cutts N.F. and Moselay No. Practical school Discipline and mental hygiene, Houghton Mifflin Co., Boston, 1941
- Depression : Questions you have-answers you need, Sandra Salmans, People's Medical Society, ISBN 978-1-882606-14-6, 1947
- Depression; National Institute of Mental Health, 2009-09-23, Retrieved 2010-05-22

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 95-98

भूमण्डलीकरण के परिप्रेक्ष्य में आयुर्वेद की प्रासंगिकता

डॉ. प्रतिभा त्रिपाठी*

प्राचीन काल से ही मानव समाज अपने शारीरिक मानसिक एवं आध्यात्मिक कष्टों से बचने एवं उन्हें दूर करने का प्रयास करता रहा है। जैसे-जैसे मानव-सभ्यता का विकास होता गया, वैसे ही मानव जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं में उपचार तथा चिकित्सा पद्धति का स्थान बढ़ता गया। किसी भी सामाजिक व्यवस्था या मानव व्यवस्था में लोक-रीतियाँ प्रमुख स्थान रखती हैं, जो प्रारम्भिक उपचार में भी परम्परागत रूप से सम्मिलित हुईं। स्वास्थ्य को सुचारु रूप से संचालित करने हेतु विभिन्न दशाओं एवं परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक कारक एवं दशायें प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित है।

मानव अस्तित्व जितना प्राचीन चिकित्साशास्त्र का इतिहास भी है। यह भारतीय चिकित्सा प्रणाली लम्बे काल खण्ड तक मानव जीवन को स्वस्थ रखने तथा रोगों के त्रास से मुक्ति प्रदान करने के अपने उद्देश्य को पूरा करती रही, किन्तु कालान्तर में विभिन्न राजनैतिक एवं आर्थिक कारणों से अपनी ही भूमि में इस प्रणाली की उपेक्षा होने लगी तथा आधुनिक एलोपैथिक पद्धति को अपना लिया गया। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का प्रयत्न निःसन्देह प्रशंसनीय है, परंतु जहाँ एक ओर चिकित्सा विज्ञान की अंग्रेजी पद्धति से शीघ्र व्याधि निवारण होता है वही दूसरी ओर उससे विपरीत व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन दुष्प्रभावों को देखते हुए आज पूरा विश्व फिर उसी भारतीय चिकित्सा पद्धति की तरफ उन्मुख हुआ है, जिसने हजारों-हजार साल मानव को स्वस्थ एवं रोगमुक्त रखा।

विश्व संस्कृति के इतिहास में भी प्राचीन एवं पारम्परिक चिकित्सा पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालान्तर में भारतीय पारम्परिक चिकित्सा पद्धति ही आयुर्वेद के रूप में प्रचलित हुई और लगभग 5000 वर्ष पहले इस प्राचीन ज्ञान का जन्म भारत में ही हुआ।

आयुर्वेद का भूमण्डलीकरण

आयुर्वेद का विकास भारत में ही नहीं अपितु विश्व पटल पर हो रहा है। आयुर्वेद का बढ़ता प्रभाव अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर भी इसे स्थापित करने में सफल हुआ है। इसका एक प्रमुख उदाहरण "अन्ताराष्ट्रिय योग दिवस" जो कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने 21 जून को मनाने की घोषणा की है जो कि आयुर्वेद के काफी करीब है और आयुर्वेद को समृद्धतम रूप देने में एक बेहतर प्रयास साबित होगा। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 177 देश इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र सभा (UNO) में आये प्रस्ताव के सह प्रायोजक बने। इस प्रस्ताव में रेखांकित किया गया कि योग स्वास्थ्य एवं खुशहाली का समग्र दृष्टिकोण उपलब्ध कराता है।

---

* शैक्षणिक गतिविधियों से जुड़ी हुई लेखिका ।

World Health Organization—WHO (2002)[1] भी इन प्राचीन चिकित्सा प्रणालियों के लिए दिशा-निर्देश तथा मानक निर्माण में प्रयासरत है। भारत में इन इस चिकित्सा पद्धति की अपार संभावनाओं के प्रयास के साथ-साथ इसके '**पेटेन्ट एवं ट्रेड मार्क**'[2] के लिए भी दिशा-निर्देश उल्लिखित है।

आयुर्वेद के भूमण्डलीकरण की चर्चा के क्रम में महत्त्वपूर्ण उल्लेख पारम्परिक चीनी चिकित्सा पद्धति का है जो कि विश्व स्तर पर सबसे प्राचीन चिकित्सा प्रणालियों में से एक है।[3] दक्षिण एशियाई देशों में जिन्हें हम सार्क नाम से जानते हैं—श्रीलंका, वर्मा, नेपाल आदि प्राचीन काल से ही इस पद्धति में समृद्ध हैं। श्रीलंका में बौद्ध विहारों के द्वारा आयुर्वेद का संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार होता रहा है। यहाँ के निवासी इस चिकित्सा को '**सिंघल वेदराल**' कहते हैं। इनके प्रमुख ग्रन्थ मुख्यतया चरक का अनुसरण करते हैं। आधुनिक काल में '**श्री के. बालसिंघन**' (पूर्व लंकादेशीय चिकित्सा पद्धति के अध्यक्ष) का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इनके प्रयास से 1929 में कोलम्बो में '**कॉलेज ऑफ इनडिजिनस मेडिसिन**' की स्थापना हुई।[4]

'**वर्मा**' में भी अशोक के काल से ही बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप आयुर्वेद का भी विकास हुआ। 'नेपाल'[5] भारतीय संस्कृति से प्राचीन काल से ही प्रभावित रहा है। काय-चिकित्सा, शल्यचिकित्सा और विषचिकित्सा आदि के विशेषज्ञ चिकित्सक यहाँ प्राचीन काल से ही थे। 'सिंह दरबार का दवाखाना' नेपाल का प्राचीनतम औषधि केन्द्र रहा है, यहाँ 1985 में '**आयुर्वेद विद्यालय**' की स्थापना हुई, जिसके राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा थे। इनकी शिक्षा भारत के काशी (वर्तमान वाराणसी) में हुई, इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न देशों की प्राचीन चिकित्सा पद्धति के मर्मज्ञों की आयुर्वेदिक शिक्षा की जन्मस्थली भारत ही रहा है।

'**बांग्लादेश**'[6] में आयुर्वेद की शिक्षा और इसका प्रयोग वृहद् स्तर पर प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर क्रियान्वित किया जा रहा है। '**सरकारी यूनानी एवं आयुर्वेदिक डिग्री कॉलेज**' ढाका में स्थापित किया गया है, जिसमें पाँच वर्षीय डिग्री कोर्स का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्रों द्वारा भी 7 आयुर्वेदिक विद्यालयों की स्थापना की गयी है।[7]

'**जापान**'[8] जैसे विकसित देश में आयुर्वेद की शिक्षा एवं शोध पिछले 30 वर्षों से अनवरत रूप से जारी है। 1969 में '**ओसाका मेडिकल स्कूल**' की स्थापना जापान के '**आयुर्वेद समाज**' द्वारा की गई। '**पंचकर्म चिकित्सा**' भी विशेषतः यहाँ की सरकार द्वारा जन-सामान्य के लिए उपलब्ध करायी गयी है।

'**संयुक्त राज्य**' में भी आयुर्वेद के विकास पर सरकार ध्यान दे रही है। यहाँ 3 प्रकार के प्रशिक्षण एवं आयुर्वेदिक शिक्षण कार्यक्रम होते हैं[9]—

1. न्यू मैक्सिको का आयुर्वेदिक संस्थान 'स्वचिकित्सा' के लिए जाना जाता है।
2. 'आयुर्वेद का अमेरिकी संस्थान' 'गृहशिक्षा' के द्वारा आयुर्वेद का विकास कर रहा है और 'फ्लोरिडा का वैदिक स्कूल' भी आयुर्वेद के विकास को आगे बढ़ाने में प्रयासरत है।
3. न्यूयार्क का 'सम्पूर्ण आयुर्वेदिक केन्द्र' आयुर्वेदिक शिक्षण एवं प्रशिक्षण प्रदान कर रहा है।

'कैलिफोर्निया कॉलेज ऑफ आयुर्वेद' भी आयुर्वेद के लिए विश्व स्तर पर जाना जाता है। जिसकी

स्थापना 1995 में की गयी। अमेरिका में आयुर्वेद से सम्बन्धित दो प्रमुख संगठन हैं[10]—

1. राष्ट्रीय आयुर्वेद चिकित्सा संगठन

2. कैलिफोर्निया संगठन।

वर्तमान में बढ़ती हुई आधुनिक प्रौद्योगिकी के दौर में आयुर्वेद के लिए भी **'पेटेन्ट नियमों'** की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। ऐसे में विश्व व्यापार संगठन (WTO) जैसी संस्थाओं का प्रभाव आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। WTO के द्वारा ही आयुर्वेदिक औषधियों का व्यापार एवं विपणन होता है।[11]

भारतीय चिकित्सा पद्धति (IMS) का स्वास्थ्य वैश्विक रिपोर्ट के अनुसार 'वैश्विक स्तर पर दवा बाजार का व्यवसाय 2014 में लगभग 1.1 खरब डॉलर पहुँचने की सम्भावना थी तथा अगले पाँच सालों में व्यवसाय के 300 अरब डॉलर से अधिक पहुँचने की अनुमान लगाया गया है। WHO (विश्व स्वास्थ्य संगठन) के अनुसार विश्व की लगभग तीन चौथाई आबादी पारम्परिक चिकित्सा पद्धति पर निर्भर करती है।[12]

WHO के एक अनुमान के अनुसार 'वर्तमान में अमेरिका जैसे देश में औषधीय जड़ी बूटियों के लिए लगभग 14 अरब डॉलर के व्यवसाय का अनुमान है और 2050 में यह व्यवसाय लगभग 5 खरब डॉलर तक पहुँच जायेगा।[13]

इस प्रकार स्पष्ट है कि यूरोप और एशिया में आयुर्वेद का प्रचार एवं प्रसार प्राचीनकाल में हुआ जबकि मध्यकाल में अरब के माध्यम से इसका पुनः प्रवेश हुआ। आयुर्वेद और यूनानी पद्धतियों को मिश्रित कर अरबी चिकित्सकों ने एक नया रूप दिया जो आगे चलकर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का जनक हुआ। इस प्रकार आधुनिक चिकित्सा विज्ञान आयुर्वेद का ऋणी है। आयुर्वेद का विस्तार उत्तर से लेकर दक्षिण और पूर्व से लेकर पश्चिमी सभी गोलार्द्धों में समय-समय पर हुआ। जिसका प्रमाण हमें तत्कालीन ग्रन्थों एवं चिकित्साशास्त्रों में भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपलब्ध होता है।

सन्दर्भ-सूची

1. World Health Organization, 2002
2. Aneesh T.P., M.H., Sonal Shekher M. Manjushree Madhu, Deepa T.V., 2009, International Medical Science of Traditional Indian Herbel Drugs. International Journal of Green Pharmacy, pg. 184 to 191.
3. Bhushan Patwardhan, D.W.P. Pushpandadan and Narendra Bhatt, 2005. Aayurveda and Traditional Chinese Medicine : A Comparative overview, 2 (4) Pg. : 65-473.
4. शर्मा, आचार्य प्रियव्रत, आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ. 699-700
5. वही
6. वही
7. पटेल प्रफुल्ल, ग्लोबल रिसर्चन्स एण्ड इण्टरनेशनल रिकाग्निजेशन ऑफ आयुर्वेद, पृ. 165
8. Herbalnet.health repository.org.in
9. वही

10. वही
11. World Trade Organization.
12. Anwarul Hassan Gilani, A.U.R. 2005. Trends in Ethnophormocology, Journal of Ethnophormocology, 100 : 43-49.
13. Aneesh T.P., M.H., Sonal Shekher M. Manjushree Madhu, Deepa. T.V., 2009, International Medical Science of Traditional Indian Herbel Drugs International Journal of Green Pharmacy, pg : 184 to 190.

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 99-102

कालिदास की पर्यावरण चेतना-सम्प्रति आवश्यकता

(अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के विशेष सन्दर्भ में)

राजीव मिश्र*

कविकुलगुरु कालिदास, महाकाव्यकार, नाटककार तथा मुक्तककार इन तीनों रूपों में संस्कृत साहित्य के इतिहास में अनन्य स्थान रखते हैं। परवर्ती कवियों ने उनका अनुकरण तो किया किन्तु वे उनके समकक्ष नहीं हो पाते हैं। उनकी शैली अपने आप में अद्वितीय है और यही कारण है कि अनेक परवर्ती कवियों ने उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है—किसी ने तो यहाँ तक भी कह दिया है कि कवियों की गणना के सन्दर्भ में कालिदास की एकमात्र कवि के रूप में सामने आते हैं—

पुरा कवीनां गणना प्रसङ्गे कनिष्ठकाधिष्ठित कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावाद् अनामिका सार्धवती बभूव।।

महाकवि कालिदास के समय के विषय में प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है। '**कीर्तियस्य स जीवति**' पर दृढ़ विश्वास रखने वाले हमारे प्राचीन मनीषियों ने अपने विषय पर कुछ नहीं लिखा। कालिदास इसके अपवाद नहीं है। जिसके कारण उनके काल निर्धारण के विषय में कठिनाई का सामना करना पड़ता है फिर भी पुष्ट प्रमाणों एवं तथ्यों के आधार पर कालिदास का स्थितिकाल ई.पू. प्रथम शताब्दी में मानना समीचीन एवं तर्कसङ्गत है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् न केवल महाकवि कालिदास की अपितु समग्र संस्कृत वाङ्मय की सर्वोत्कृष्ट रचना है। जहाँ एक ओर भारतीय परम्परा '**काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला**' कहकर इसकी महनीयता का गुणगान करती है, वहीं पाश्चात्य जर्मन विद्वान् महाकवि गेटे—'ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे शकुन्तलम् सेव्यताम्, उसके रसास्वादन हेतु सम्पूर्ण सहृदय जगत् का आह्वान करते हैं। शाकुन्तलम में कुल सात अङ्क हैं, जिनमें पुरूवंशीय नरेश दुष्यन्त एवं कण्व दुहिता शकुन्तला की प्रणयकथा का मनोरम वर्णन किया गया है।

'**तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः**' के अनुसार चतुर्थ अङ्क में कालिदास की प्रतिभा का वास्तविक एवं स्वाभाविक विलास दृष्टिगोचर होता है। इस अङ्क में उनकी काव्यप्रतिभा अनुपम नाट्य-कौशल, अप्रतिम-प्रकृति प्रेम आदि के साक्षात् दर्शन होते हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में कालिदास का पर्यावरण चिन्तन एवं पर्यावरण के प्रति उनकी सम्वेदना को उद्घाटित करते हुए मैंने उसे आधुनिक पर्यावरण चिन्तन का आधार सिद्ध करने का प्रयास किया है।

कालिदास के प्रकृति प्रेम के माध्यम से उनके पर्यावरण चिन्तन को समझने के पहले यह आवश्यक

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हो जाता है कि हम पहले पर्यावरण को समझ ले। पर्यावरण का शाब्दिक अर्थ है—परि + आवरण। अर्थात् ऐसी वस्तुएँ जिनसे हम चारों तरफ से घिरे हुए हों। इस प्रकार किसी भी जीवित प्राणी के चारों ओर पाए जाने वाले लोग स्थान, वस्तुएँ एवं प्रकृति को पर्यावरण कहते हैं। पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 की धारा 2(a) के अनुसार—'पर्यावरण में जल, वायु तथा भूमि और अन्तर्सम्बन्ध शामिल है, जो जल, वायु, भूमि और मानव जीवन, जीवित प्राणियों, पादपों, सूक्ष्म जीवों और सम्पत्ति के मध्य विद्यमान है। महाकवि कालिदास प्रकृति के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं और प्रकृति के साथ उनका यह तादात्म्य चतुर्थ अङ्क में अपनी परिपूर्णता के साथ व्यक्त होता है, वहाँ प्रकृति का प्रत्येक उपादान सजीव एवं सम्वेदनशील हो उठता है। चतुर्थ अङ्क का प्रारम्भ ही मानव एवं प्रकृति के अर्न्तसम्बन्ध से होता है, जहाँ दो नवयुवतियाँ परस्पर वार्तालाप करती हुई देवार्चन हेतु पुष्प वाटिका में पुष्पों का चयन करती हैं—**ततः प्रतिशतः कुसुमावचयं नाट्यन्तौ सख्यौ।**[1]

कालिदास प्रकृति को सजीव और मानवीय भावनाओं से ओतप्रोत मानते हैं, जो आज एक प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक तथ्य है। हमारे देश के महान् वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बसु ने भी **'कैस्कोग्राफ'** नामक यन्त्र बनाकर वर्षों पहले यह सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधे भी सम्वेदनशील होते हैं। यह वैज्ञानिक स्थापना कालिदास की प्रकृति सम्बन्धित मान्यताओं के लिए प्रमाण है। मनुष्य एवं प्रकृति एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का एक-दूसरे से आदान-प्रदान चलता रहता है। कालिदास की शकुन्तला वृक्षों को सहोदर भ्राता तथा लताओं को भगिनी समझती है। प्रकृति मानव की संरक्षिका एवं उपदेशिका है। उसके मनोरम आक्रोड़ में मनुष्य न केवल अपना भरण पोषण करता है, अपितु उससे जीवन-दर्शन भी प्राप्त करता है। चतुर्थ अङ्क में समय ज्ञानार्थ बाहर आया शिष्य सूर्य एवं चन्द्रमा रूपी दो तेजों में से एक के उदय एवं दूसरे के अस्त होने में प्रकृति के एक शाश्वत नियम का साक्षात्कार कराता है—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरूणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।।[2]

उसका यह साक्षात्कार वस्तुतः संसार का चिरन्तन सत्य है।

निसर्गकन्या शकुन्तला अत्यन्त सुन्दरी के साथ-साथ अनन्य प्रकृति प्रेमिका है। वस्तुतः प्रकृति ही उसकी सहचरी एवं संरक्षिका है। इसी कारण उसे प्रकृति से अनन्य प्रेम है। जहाँ कालिदास की शकुन्तला ससुराल गमनकाल में अपनी प्रिय भगिनी लता 'वनज्योत्स्ना' से विदाई लेना नहीं भूलती-'तात, **लता भगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये'**, वहीं आश्रम के पशु, पक्षी, वृक्ष, लताएँ अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसे सहायता करते हैं तथा उसके विछोह के दर्द से व्याकुल हो उठते हैं। आश्रम के वृक्ष उसके शृङ्गार के लिए वस्त्राभरण एवं लाक्षारस प्रदान करते हैं।[3] विदाई के समय कोकिलरव के व्याज से साथी वृक्ष जाने की अनुमति प्रदान करते हैं।[4] शकुन्तला के वियोग से सम्पूर्ण प्रकृति अपना सारा काम-धाम छोड़कर वियोग व्यथा से तड़प उठती है—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रुणीव लताः।।[5]

शकुन्तलम् के चतुर्थ अङ्क में प्रकृति और शकुन्तला का पारस्परिक सौहार्द अपनी पराकाष्ठा में पहुँच

जाता है। शकुन्तला जिन वृक्षों को बिना जल पिलाए जल नहीं पीती थी, अलङ्करण की शौकीन होने पर भी प्रेमाधिक्य के कारण जिनके पत्ते नहीं तोड़ती थी, पुष्पोद्गम के समय उत्सव, मनाती थी। महर्षि कण्व उन्हीं वृक्षों से शकुन्तला के प्रतिगृह गमन के लिए अनुमति की याचना करते हैं।[6] जहाँ विदा होते समय शकुन्तला उटजपर्यन्तचारिणी, गर्भमन्थरा, अनघप्रसवा मृगवधू के सुख पूर्वक सन्तानोत्पत्ति के लिए उत्कण्ठित है, वहीं विदा होती हुई शकुन्तला का रास्ता रोक कर पालित मृग अपने स्नेह का परिचय देता है। तथ्य यह है कि शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में पर्यावरण के प्रत्येक उपादान, चाहे वह वृक्ष हों, वनस्पतियाँ हों, नदियाँ हों, पक्षी हों या फिर पशु हों, सभी का मनुष्य के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है और मनुष्य एवं प्रकृति के साथ यही तादात्म्य महाकवि कालिदास की पर्यावरण चेतना का आधार है।

भूमण्डलीकरण के इस युग में सम्पूर्ण विश्व एक बाजार के रूप में परिवर्तित हो चुका है। प्रत्येक राष्ट्र अपने निहित व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण पर्यावरण की चिन्ता किए बिना प्रकृति से छेड़छाड़ कर रहा है। परिणामस्वरूप विश्व के समक्ष अनेक समस्याएँ उपस्थित हो गयी हैं। वृक्षों, अन्य जीवों, एवं नदियों के साथ मनुष्य के अत्याचार के व्यापक प्रभाव वर्तमान में भयावह समस्याओं के रूप में उपस्थित हो चुके हैं। ग्रीन हाउस गैसेज—CO_2, CO, CH_4, NO, O_3 एवं CCl_4 के कारण ग्लोबल वार्मिंग, ओजोन-क्षरण, अम्ल-वर्षा जैसी समस्या विश्व के के समक्ष चुनौती बनकर उभरी है इन समस्याओं का समाधान सदियों पहले प्रथम शताब्दी ई.पू. में महाकवि कालिदास ने अपने अद्वितीय नाटक शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में प्रकृति के चित्रण में व्यञ्जित कर दिया था। प्रकृति के साथ उनका तादात्म्य पर्यावरण जनित सम्पूर्ण महामारियों की एकमात्र अचूक औषधि है। जिस दिन मनुष्य प्रकृति के लिए संवेदनशील हो जायेगा, उसी दिन से समस्त पर्यावरण जनित समस्याओं का उन्मूलन भी प्रारम्भ हो जायेगा और यही तथ्य शाकुन्तल के सम्पूर्ण चतुर्थ अङ्क का उपदेश भी है। यह उपदेश विश्व अभ्युदय का मूल है। तात्पर्य यह है कि चाहे वह शकुन्तला का अपने सहवासी वन्य जीवों एवं समीपवर्ती वन वृक्षों, नदियों के प्रति कौटुम्बिक प्रेम हो या फिर वृक्षों एवं वन्य जीवों का उसके प्रति स्वजन सदृश प्रेम हो, दोनों उद्देश्य में मानव मात्र का कल्याण और मानव एवं प्रकृति की परस्पर अन्योन्याश्रिता सिद्ध करना है। कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदास अपने इस उद्देश्य में पूरी तरह सफल भी रहे हैं।

भारतवर्ष के परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने कालिदास के इस तथ्य को समझा और उस पर आचरण भी किया। भारतीय संविधान में हमारे संविधान निर्माताओं ने अनु. 48-A में नीति निदेशक तत्त्व के रूप में, अनु. 51-A(g) में मूल कर्तव्य के रूप में तथा अनु. 21 एवं 32 में मौलिक अधिकारों[7] के रूप में पर्यावरण चेतना के प्रति सजगता का परिचय दिया है। संविधान के अतिरिक्त भी विधि निर्माण के माध्यम से भारत ने पशु क्रूरता अधिनियम 1960, वन्य जीव संरक्षण अधिनियम 1972 तथा पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 जैसी विधियों[8] के निर्माण के द्वारा पर्यावरण संरक्षण के लिए ठोस कदमों की शुरुआत किया है। विश्व के सन्दर्भ में भी यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण विश्व आज पर्यावरण के प्रति सजग होने का प्रयास कर रहा है। स्टाकहोम घोषणा (Stockholm Declaration) 1972, रियो घोषणा 1992, कोपेन हेगेन क्लाइमेंट चेञ्ज, नगोया जैव विविधता सम्मेलन 2010 आदि कुछ ऐसे ही प्रयास हैं। इन समस्त पर्यावरण सम्बन्धी उपायों के पीछे कालिदास की पर्यावरण चेतना को कारण मानना उनके साथ एक आवश्यक न्याय होगा और यह न्याय करना हमारा महाकवि कालिदास के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि

होगी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महाकवि कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अङ्क का समस्त प्रकृति चित्रण कालिदास की पर्यावरण चेतना का उदाहरण है और यदि विश्व उनकी इस पर्यावरण चेतना पर गम्भीरता से अमल करे तो उसका बहुमुखी विकास सम्भव हो सकता है अर्थात् कालिदास की पर्यावरण चेतना विश्व अभ्युदय के लिए साक्षात् कारण हो सकती है।

सन्दर्भ-सूची

1. कपिलदेव द्विवेदी—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क का प्रारम्भ, पृ० १८०
2. कपिलदेव द्विवेदी—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2-4
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4-5
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4-10
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4-12
6. पातुं न प्रथमं.....सर्वैरनुज्ञायताम्।। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4-9
7. सुभाष कश्यप—भारत का संविधान
8. प्रो. एच.एन. तिवारी—पर्यावरण विधि।

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 103-107

काव्यशास्त्र में रीति सम्प्रदाय का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. धर्मपाल यादव*

काव्यशास्त्र में अलंकार सम्प्रदाय के पश्चात् रीति सम्प्रदाय का आगमन हुआ। रीति के प्रवर्तक भामह के उत्तरवर्ती आचार्य वामन हैं। वामन ने रीति को '**रीतिरात्मा काव्यस्य**'[1] कहकर सर्वप्रथम काव्य में रीति को प्रमुख स्थान दिया था और रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था। यद्यपि काव्यशास्त्रीय जगत् में रीति तत्त्व की खोज वामन से बहुत पहले हो चुकी थी, तथापि वामन पहले आचार्य हुए जिन्होंने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। रीति का स्वरूप उनके अनुसार विशिष्टपदरचनात्मक है—'**विशिष्टापदरचना रीतिः।**'[2] वामन ने रीति का गुणों के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित किया था। '**विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।**[3] यहाँ पदों की विशिष्ट संघटना ही रीति है और विशेष का अर्थ है-गुणों से युक्त होना। ये गुण काव्य की शोभा के सम्पादक नित्यधर्म हैं—'**काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः।**'[4] रीति का गुण के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसी कारण समुद्रबन्ध ने इनके सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय नाम दिया है। वामन ने अलंकारों की प्रधानता को न मानकर रीति और गुणों की प्रधानता को स्वीकार किया है। उन्होंने गुणों को शब्दगत एवं अर्थगत माना है, रीति के लिए गुण अत्यन्त आवश्यक है। वामन के कान्तिगुण में रसनिवेश तथा वक्रोक्ति में ध्वनिनिवेश की झलक दिखलाई पड़ती है। इस दृष्टि से रीति सम्प्रदाय एक व्यापक सम्प्रदाय प्रतीत होता है।

रीति का उद्भव और विकास—साहित्य में 'रीति' पद का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। 'रीति' पद की रचना 'रीङ् गतौ' धातु से होती है, जिसका अर्थ है—मार्ग। इस प्रकार रीति शब्द काव्यशास्त्र के विभिन्न मार्गों का संकेत करता है। ऋग्वेद में ''**महावरीतिः शवसा सरत् पृथक्**''[5] **वातेवाजुर्या नद्येव रीतिः**[6] आता है, उक्त स्थलों पर रीति पद का प्रयोग गति, धारा और मार्ग के अर्थ में हुआ है। वर्तमान के '**काव्यालंकारसूत्र**' ही प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें काव्यगत रीति की स्पष्ट व्याख्या की गई है। वामन से पहले भामह और दण्डी ने रीति का प्रयोग न करके 'मार्ग' पद का प्रयोग किया था। भरतमुनि ने प्रवृत्ति पद का प्रयोग किया था। काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय के शास्त्र-संग्रह में राजशेखर का कथन है कि सुवर्णनाभ नाम के प्रथम आचार्य हुए थे, जिन्होंने रीति विषयक ग्रन्थ की रचना की—**रीतिनिर्णयं सुवर्णनामः।**[7]

प्राचीन आचार्यों का कथन है कि विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले आचार्य अपने प्रदेश की शैली में काव्य की रचना करते थे, इस कारण ये शैलियाँ इन प्रदेशों के नाम से प्रसिद्ध हो गई। उत्तरवर्ती युग में ये मार्ग किसी विशेष प्रदेश से सम्बन्धित न रहकर कवि की निजी प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हो गई। आचार्य भामह प्रणीत 'काव्यालंकार' ग्रन्थ का अध्ययन करने से विदित होता है कि उस युग में काव्य रचना के दो मार्ग

* अध्यापक, संस्कृत, रा.उ.प्रा. विद्यालय, खरखड़ा (अलवर), राजस्थान

प्रतिष्ठित हो चुके थे—वैदर्भी और गौड़ीया। आचार्य दण्डी ने रीतियों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया, परन्तु दण्डी ने भी मार्ग पद का प्रयोग किया। दण्डी के अनुसार प्रत्येक कवि का अलग मार्ग होता है—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।।[8]
इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः।।[9]

आचार्य वामन से पूर्व काव्य की रचना के दो मार्ग कहे गये थे, इन्होंने तीसरे मार्ग पांचाल का भी प्रतिपादन किया। उक्त प्रकार रीतियों की संख्या तीन हो गई—वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली। इन रीतियों में परस्पर अन्तर गुणों के भेद तथा उनकी संख्या के अल्प या अधिक होने से होती है।

आचार्य रुद्रट ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने रीति को भौगोलिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त करके काव्य व्यवहार की परम्परा में संयोजित किया। रुद्रट ने पूर्व तीन रीतियों में एक अन्य रीति लाटी भी जोड़ी और रसों का रीतियों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। इन्होंने समास के आधार पर रीतियों का विभाजन किया—

वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।[10]
पाञ्चाली लाटीया गौड़ीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र।।
द्वित्रिपदा पाञ्चली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौड़ीया।।[11]

राजशेखर ने रीतियों का भौगोलिक विवेचन आलंकारिक रूप से किया तथा रीतियों के साथ प्रवृत्तियों और वृत्तियों का सम्बन्ध भी स्थापित किया। राजशेखर काव्य में रीतियों को रस का परिस्त्रावक अनिवार्य तत्त्व मानते थे—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तत्र विना येन परिस्त्रवति वाङ्मधु।।[12]

भोज ने 'शृंगारप्रकाश' में चार रीतियों की विवेचना की थी। आचार्य कुन्तक ने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया था। विद्यानाथ ने वामन का अनुकरण करके तीन मुख्य रीतियों को प्रतिपादित किया था।

एतासामेव साङ्कर्याद् भवन्त्यावन्तिकादयः।
पार्थक्येन ततोऽस्माभिर्नाभ्यधीयन्त ताः पुनः।।[13]

मम्मट के अनुसार वर्णों का विशिष्ट विन्यास क्रम ही रीति है। वे रीति का समावेश वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत ही कर लेते हैं। विश्वनाथ के अनुसार अंगों की रचना के समान पदों की संघटना रीति है तथा यह रीति रस का उपकार करती है, उन्होंने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी रीतियों का उल्लेख किया—

पदसंघटना रीतिरंगसंस्था विशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।।
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।।[14]

वामन के पश्चात् रीति तत्त्व पर विचार तो हुआ, परन्तु उसको काव्य की आत्मा कहने का साहस प्रायः अमृतानन्द योगी के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया। वामन ने रीति का आधार गुणों को बताया था, परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने वर्णों के विन्यास और समास को भी उसका आधार प्रतिपादित किया। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था और रस आदि का समावेश कान्ति नामक गुण में कर लिया था। वामन ने काव्य में जिन रीतियों को सबसे अधिक महत्त्व दिया था, ध्वनिवादी आचार्यों ने उसको गौण रूप में परिवर्तित कर दिया।

रीति का लक्षण—पदों की विशिष्ट संघटना रीति है, वामन ने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया तथा गुण को रीति की आत्मा बताया—**विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। विशेषोगुणात्मा।**[15] वामन ने गुणों का सम्बन्ध साक्षात् रूप से रीतियों में स्थापित किया था। वैदर्भी रीति में समस्त गुण समाविष्ट होते हैं, गौडी रीति में विशेषतः ओज और कान्ति गुण आते हैं तथा पाञ्चली में प्रमुखतः माधुर्य और सुकुमारता का समावेश होता है।[16]

रीति और शैली—प्राचीन भारतीय साहित्य में भी शैली शब्द का प्रयोग हुआ था, साहित्यिक अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में यह प्रयोग प्राचीन काल में नहीं किया गया। वर्तमान युग में समालोचना के लिए शैली को रीति का समानार्थक कह दिया जाता है। शैली शब्द अंग्रेजी भाषा के स्टाइल पद का हिन्दी अनुवाद है। अतः शैली को पूर्णतया रीति से अभिन्न नहीं माना जा सकता, अपितु रीति को शैली के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

रीतियों की परस्पर श्रेष्ठता—आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली इन तीन रीतियों को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया था। वैदर्भी रीति को अधिक सहृदयाह्लादक कहा था। वामन के अनुसार वैदर्भी रीति में एक ऐसा सहृदयाह्लादक अलौकिक पाक उदित होता है, जिसको प्राप्तकर शब्द सौन्दर्य चमकने लगता है। वामन से पश्चात् एवं पूर्व भी प्रायः सभी आलोचकों ने उक्त रीति की श्रेष्ठता सम्पादित की थी। आचार्य कुन्तक ने उत्तम, मध्यम या अधम भाव इनमें स्वीकार नहीं किया।

दण्डी ने वैदर्भी मार्ग को उत्तम तथा गौड़ मार्ग को निकृष्ट बताया था। उन्होंने कारण दिया कि वैदर्भी मार्ग में दसों गुण विद्यमान रहते हैं—**इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।।**[17] वामन के अनन्तर भी समालोचकों और कवियों ने वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। वैदर्भी को ही राजशेखर ने श्रेष्ठ बताया—**तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुलमं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयस्तामैमेयीं गन्धर्ववत् परिणिनाय।।**[18] बालरामायण में वर्णित है कि वैदर्भी वाणी श्रोतलेह्यमधुरिम मधु को प्रवाहित करती है— **वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम्।**[19] महाकवि कालिदास ने काव्य रचना वैदर्भी रीति में की थी। दण्डी ने कालिदास के वैदर्भी मार्ग की निम्न शब्दों में प्रशंसा की थी—

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विष्टया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भ कालिदासेन शोधितम्।।

नैषधीयचरित में उल्लिखित है—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरूदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।।[20]

नीलकण्ठ दीक्षित ने वैदर्भी की प्रशंसा करते हुए कहा है—

आदिः स्वादुषु या, परा कवयतां काष्ठा यदा रोहणे,
या ते निःश्वासितं, नवापि च रसा यत्र स्वदन्तेतराम्।
पाञ्चालीरीति परम्परापरिचितो, वादः कवीनां परं
वैदर्भी यदि सैव वाचि किमितः स्वर्गेऽपवर्गेऽपि वा।।[21]

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत के केवल समालोचकों ने ही नहीं अपितु कवियों ने भी वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी।

समीक्षा

अलंकारवादी आचार्यों की अपेक्षा रीतिवादी आचार्यों ने रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव से संयुक्त करके कहा था कि कवि अपने स्वभाव के अनुसार पदों की योजना जिस प्रकार से करता है, वही रीति है। अलंकारवादी आचार्यों की अपेक्षा ये काव्य के तत्त्व की समीक्षा को अधिक सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता से करने में अधिक सफल हुए।

दण्डी ने काव्य की शोभा के धायक सभी तत्त्वों को अलंकार कहा था, किन्तु वामन ने गुण और अलंकारों के भेद को प्रदर्शित करके अलंकारों की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्त्व दिया। ध्वनिवादी आचार्य भी गुणों को काव्य का नित्यधर्म मानते हैं। आचार्य वामन के अनन्तर अलंकारवादी और ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना। इन्होंने रीति को काव्य के बहिरंग साधन के रूप में सिद्ध किया। ध्वनि तत्त्व की स्थापना हो जाने पर रीति को काव्यशास्त्र में वह स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त नहीं रहा, जिसका प्रतिपादन वामन ने किया था। आनन्दवर्धन ने रस, वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य से नियमित करके रीति को परतन्त्र बना दिया। ध्वनिकार ने काव्य में रीति के महत्त्व को स्वीकार तो किया था, साध्य के रूप में नहीं, केवल साधन के रूप में। आनन्दवर्धन ने कहा भी है कि रीतिवादियों ने अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस काव्यतत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ होकर रीतियों का प्रवर्तन किया था—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।।[23]

आचार्य मम्मट ने काव्य में रीतियों को और भी कम महत्त्व प्रदान किया। मम्मट ने वामन के मत का अनेक स्थानों पर प्रबल खण्डन किया था।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में रीति का महत्त्व को निश्चित रूप से है, किन्तु यह साधन के रूप में है, साध्य के रूप में नहीं। रीति को काव्य का बहिरंग साधन मान कर भी काव्य की समालोचना में वामन के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। अलंकारवादियों की अपेक्षा वामन काव्य के आत्मत्त्व के अधिक निकट पहुँच गये थे। वामन ने रीतियों का भव्य प्रासाद गुणों के आधार पर किया था। इनके अनुसार बिना गुणों के काव्य में काव्यत्व नहीं रह सकता। वामन ने आलोचनाशास्त्र के प्रत्येक अङ्गों-उपाङ्गों का विवेचन करके संस्कृत आलोचनाशास्त्र में एक नवीन अध्याय जोड़ा और रीति सम्प्रदाय ने अलंकारशास्त्र को सौन्दर्य से चमत्कृत कर दिया।

।। इति शम् ।।

सन्दर्भ-सूची

1. काव्यालंकारसूत्र-1.2.6
2. काव्यालंकारसूत्र –1.2.7
3. काव्यालंकारसूत्र - 1.2.7-8
4. काव्यालंकारसूत्र - 3.1.1
5. ऋग्वेद – 2.27.14
6. ऋग्वेद – 2.39.5
7. काव्यमीमांसा – प्रथम अध्याय
8. काव्यादर्श – 1.40
9. काव्यदर्श - 1.101
10. काव्यालंकार, रुद्रट – 2.4-5
11. काव्यालंकार, रुद्रट – 1.6
12. काव्यमीमांसा, पंचम अध्याय
13. एकावली – 5.13
14. साहित्यदर्पण – 9.12
15. काव्यालंकारसूत्र - 1.2.7-8
16. काव्यालंकारसूत्र – 1.2.11-13
17. काव्यादर्श - 1.42
18. काव्यमीमांसा
19. बालरामायण – 3.14
20. नैषधीयचरितम् – 3.116
21. नलचरितनाटक – 3.18
22. ध्वन्यालोक – 3.47

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 108-111

वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रिय चेतना

अनिल कुमार*

वैदिक वाङ्मय विश्व का सबसे प्राचीनतम वाङ्मय है। वेद अखिल ज्ञान के श्रोत हैं। 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के लगने से बनता है, जिसका अभिप्राय है 'पवित्रज्ञान'। ऋषियों ने वैदिक वाङ्मय में मानव जीवन की विविध दशाओं की मीमांसा की है। उन्होंने केवल मानव के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्षों का ही मूल्यांकन नहीं किया वरन् स्वदेश भक्ति, स्वदेश प्रेम और स्वराष्ट्र प्रेम के भावों को भी अभिव्यक्त किया है। हमारे तत्त्व द्रष्टा ऋषियों को यह भली-भाँति ज्ञात था कि सम्मानपूर्वक सामूहिक सत्ता बनाये रखना कितना आवश्यक है, अपने राष्ट्र तथा मातृभूमि की रक्षा तन, मन, धन से की जाय और यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपनी जन्मभूमि, अपने राष्ट्र तथा अपनी राष्ट्रभूमि के प्रति निष्ठावान् रहें, उसकी उन्नति तथा सम्मानित अस्तित्व की रक्षा के लिए सदैव संगठित और जागरुक रहें। यह सब सोंचकर तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने जनमानस में देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम की अदम्य भावना को जाग्रत एवं भरने के लिए वेदों में अनेक स्थलों पर अपने देश व मातृभूमि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जिसे पढ़कर या सुनकर हमारे अन्तःकरण में राष्ट्र के प्रति गौरव भाव उत्पन्न होता है।

वेदों में निहित राष्ट्रिय भावना की चर्चा करने से पहले 'राष्ट्र शब्द' का अर्थ समझ लेना मैं उचित समझता हूँ। 'राष्ट्र' शब्द की निष्पत्ति दीप्त्यर्थक 'राज्' धातु से औणदिक 'ष्ट्रन्' प्रत्यय के लगने से बनता है।[1] वाचस्पत्यम् शब्दकोश में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ 'जनपद' माना गया है। इसके समर्थन के लिए 'प्रबोधचन्द्रोदय' के गौड़ राष्ट्रमनुत्तमम्' वाक्य को प्रस्तुत किया गया है। जिसका अर्थ है—गौड़ों का राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है।[2] कुछ इसी तरह से मिलता-जुलता अर्थ 'शब्दकल्पद्रुम' में 'राष्ट्र शब्द' का अर्थ 'विषय' किया गया है।[3] प्रोफेसर वामन शिवराम आप्टे द्वारा संकलित संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है— Kingdom, Realm, Empire, District, Territory, Country, Region, People, Nation Subjects.[4] बृहत्-हिन्दी-कोश में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ देश, राज्य और जाति माना गया है।[5] वही मानक हिन्दीकोश में राज्य, देश किसी निश्चित तथा क्षेत्र विशेष में निवास करने वाले लोग जिनकी एक भाषा, एक जैसे रीति-रिवाज तथा एक सी विचारधारा होती है तथा किसी एक शासन में रहने वाले सब लोगों का समूह का अर्थ माना है।[6] अनेक राजनीतिशास्त्री विद्वानों ने भी 'राष्ट्र' शब्द की परिभाषा अपने-अपने अनुसार की है। ''राष्ट्र जनसमूह में विद्यमान एकता की उस विशेष भावना का नाम है जो इस जनसमुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी नियन्त्रण का प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है।''[7]

इस प्रकार अपने राष्ट्र की भूमि, जन-समुदाय, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, धर्म, कला, साहित्य,

* प्रवक्ता (संस्कृत), बाबू रामपाल महाविद्यालय, मौरावाँ, उन्नाव

राजनीति, जीवन-दर्शन इत्यादि के प्रति लोगों के मन में गरिमा तथा महिमा का जो एक नैसर्गिक स्वाभिमान हुआ करता है। उसे ही हम राष्ट्रिय भावना कहते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर लोग अपने राष्ट्र के लिए सर्वस्व बलिदान कर देते हैं। इस समर्पण एवं बलिदान के पीछे जो एक प्रबल तथा अदम्य भावना काम करती है, वही 'राष्ट्रिय भावना' होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र के कल्याण तथा अभिवृद्धि को सुनने के लिए लालायित रहता है। वहीं कवियों के काव्यों, लेखकों के लेखों, उपदेशकों के उपदेशों और गीतकारों के गीतों में अपनी मातृभूमि, अपने देश और अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। वस्तुतः अपने राष्ट्र के लिए आत्मोत्सर्ग करने की प्रेरणा राष्ट्रिय भावना से ही प्राप्त होती है। इस भावना से प्रेरित होकर लोग अपने राष्ट्र को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ मानते हैं तथा इसे माता के समान पूजनीय मानते हैं। शुद्ध राष्ट्रिय भावना न तो किसी अन्य राष्ट्र का अपमान करती है और न ही अपमान सहती है। ऐसी शुद्ध राष्ट्रिय भावना 'अन्ताराष्ट्रिय भावना' की पृष्ठभूमि निर्मित करती है। हमारे भारतवर्ष में अभिव्याप्त 'राष्ट्रिय भावना' ऐसी ही शुद्ध और पवित्र है। अपने देश की धरती अर्थात् अपनी जन्मभूमि को माता मानने की भावना हमें सर्वप्रथम वेदों से ही प्राप्त होती है।[8] अपनी जन्मभूमि को मातृभूमि कहकर सम्बोधित करने की शिक्षा भी हमें अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त से मिलती है।[9]

वैदिक मनीषी अपनी मातृभूमि के प्रति बहुत ही भावुक रहे हैं। उनकी दृष्टि में उनके लिए उनकी मातृभूमि ही सर्वस्व हैं वे इसे ही स्वर्ग तथा अन्तरिक्ष मानते हैं, माता-पिता तथा देवता स्वीकार्य करते हैं और इसे ही अपना भूत और भविष्य मानते हैं। वे सदैव इसी का ही गुणगान् करते रहते हैं। यह उनकी कल्याणकारी माता है योगक्षेमकारिणी तथा अन्नदायिनी है। हमारे ऋषियों को पूर्ण विश्वास था कि उनकी यह पृथिवी माता उनका त्रिविध कल्याण करेगी।[10]

राष्ट्र की परिकल्पना वेदों से प्राप्त होती है। ऋषि तथा आचार्य यज्ञ सम्पादित करते समय राष्ट्र प्राप्ति की कामना से विभिन्न देवताओं को श्रद्धापूर्वक आहुतियाँ देते थे। उसे उनका 'राष्ट्रप्राप्तियज्ञ' कहा जाता था। वे अपने राजा के मस्तक पर राष्ट्रतिलक करते समय भी वे अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए हार्दिक कामनाएँ करते थे।[11] वे कहते थे कि राष्ट्र नायक को चाहिए कि प्रजा में प्रशंसा प्राप्त करे तथा प्रसन्नतापूर्वक जनहित में अपना जीवन लगाए— विक्षु प्रशस्तः.....प्रीतो वयो दधाति।[12] राष्ट्रनायक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी प्रजा की भूख-प्यास को मिटाए—**क्षितीनां व्यानुषक् दुदुरुधो जीवसे धाः**।[13] राष्ट्रनायक अपने स्वराज्य में निष्ठा रखता हुआ अपने राष्ट्र को शत्रुविहीन करे— **''ओजसा पृथिव्या निःशश अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्।''**[14]

वैदिक ऋषि अपने राष्ट्र के प्रति अत्यन्त अनुराग रखते थे, वे यज्ञों जैसे परम धार्मिक कृत्यों में अपने राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे कि उनके राष्ट्र के ब्राह्मण, ज्ञानवान्, क्षत्रिय शूरवीर, शत्रुनाशक तथा राष्ट्र रक्षक हों। गायें पयस्विनी हों, बैल बलशाली हों, अश्व द्रुतगामी हों, स्त्रियाँ सर्वगुण सम्पन्न हों, प्रजा निर्भीक तथा विनयी हो, मेघ आवश्यकतानुसार वृष्टि करें, औषधियाँ पल्लवित-पुष्पित हों, ईष्टवस्तु की प्राप्ति तथा सुरक्षित रहें।[15] वैदिक वाङ्मय में ऋषियों द्वारा नागरिकों से कहा गया है कि अपने मन, विचार और क्रिया-कलाप से परस्पर मतभेद नहीं रखें।[16]

आज राष्ट्रिय विकास के लिए सम्पर्क, दायित्व, शिक्षा, विचार-विमर्श, अधिकार, उद्देश्य इत्यादि को समान रूप से विकसित करने की जो बात कही जाती है यह बात हमारे वैदिक ऋषियों ने पहले ही कही

है, उन्होंने समस्त मानव जाति को उपदेश दिया है कि वे आपस में मिलकर चलें, मिलकर बात करें मिलकर ही ज्ञानार्जन करें तथा मिलकर साथ-साथ कार्य करें।[17] ऐसी उदात्त राष्ट्रिय भावना अन्यत्र मिलना कठिन है।

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय राष्ट्रिय भावना से ओतप्रोत है। हमारे वैदिक ऋषियों ने नगरों[18], नदियों,[19] पर्वतों[20] के प्रति भी उदार भावना अभिव्यक्त की है। वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र मङ्गल कामना की प्रचुरता भी देखने को मिलती है। वैदिक साहित्य का गहन मनन-चिन्तन करने पर हम देखते हैं कि इसमें आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान आदि के अतिरिक्त अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम एवं सौहार्द करने का ज्ञान भी प्राप्त होता है। वे तत्त्व द्रष्टा ऋषियों-महर्षियों ने अपनी ओजमयी वाणी से समस्त प्रजा को अपने देश व राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों का बोध कराते रहे हैं। आज के इस वर्तमान समय में ऐसी ही उदात्त राष्ट्रिय भावना की आवश्यकता है जब तक इस देश का प्रत्येक प्राणी अपने कर्त्तव्यों को नहीं जानेगा एवं राष्ट्र हित में कार्य नहीं करेगा तब तक देश का उत्थान संभव नहीं है। यदि आज के मानव में वैदिक कालीन उदात्त राष्ट्रिय भावना हृदय में हिलोरे मारने लगे तो देश से भ्रष्टाचार, पापाचार, अनाचार, आतंकवाद जड़ से समाप्त हो जाय, परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब हम मैं और मेरा की भावना से ऊपर उठकर देश और राष्ट्र के कल्याण के लिए सोचेंगे तथा यह मानें की यह सब उस परम, ऐश्वर्यमान्, परमपिता परमेश्वर का ही दिया हुआ है हम यह सब उसी का मानकर उपभोग करें तथा किसी के धन का लालच न करें—

ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।
तेन तक्तेन भुञ्जीथा मा गृधा कस्य स्विद्धनम्।।[21]

इस प्रकार वैदिक कालीन साहित्य, विश्वशान्ति, विश्वबन्धुत्व, विश्वकल्याण आदि भावनाओं से प्रेरित होकर परस्पर प्रेम सद्भाव और एकता के सूत्र में बँधने की प्रेरणा देता है। अतः यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय राष्ट्रिय भावना से ओतप्रोत है।

सन्दर्भ-सूची

1. सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्, सिद्धान्तकौमुदी, उणादि प्रकरण, 4/158
2. राष्ट्र न. राज्-ष्ट्रन्। जनपदे 'गौडं राष्ट्रमनुत्तमम्' गति प्रबोधचन्द्रोदयः।....वाचस्पत्यम्, भाग षष्ठ, पृ. 4807
3. शब्दकल्पद्रुम्, चतुर्थ खण्ड, पृ. 158
4. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 469
5. बृहत् हिन्दीकोश, पृ. 1152
6. मानक हिन्दीकोश, पृ. 505
7. पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, द्वितीय खण्ड, पृ. 21
8. (i) ऋग्वेद 1/89/4
   (ii) द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्वे माता पृथिवी महीयम्। वही, 1/164/33
   (iii) उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयताम्। यजुर्वेद 2/10
   (iv) तासु नो धेह्यभि न पवस्व माता भूमिः पृत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्त्तु।। अथर्ववेद 12/1/12
   (v) भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्। वही, 12/1/63

9. अथर्ववेद, 12/1/10
10. अथर्ववेद, 7/6/1-4
11. (i) इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्जैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्माणनां राजा।। यजुर्वेद, 9/40
(ii) अपो देवा.....महिक्षत्र क्षत्रियाय दधतीः। यजुर्वेद 10/1-4
(iii) अथर्ववेद, 6/54
12. ऋग्वेद 1/66/2
13. तदेव, 1/72/7
14. तदेव, 1/80/1
15. यजुर्वेद 22/22
16. सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये निव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि।। अथर्ववेद, 3/8/5
17. (क) संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वा हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।
(ख) सं जानीध्वं सं वा मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपसते।।1।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्।।2।।
समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनी यथा वः सुसहासति।।3।। (अथर्ववेद, 6/64/1-3)
18. 'यस्याः पुरो देवकृतः। अथर्ववेद 12/1/44
19. ऋग्वेद 1/46/2, 2/4/16, 7/36/6
20. ऋग्वेद 3/54/20, 8/23/10 यजुर्वेद, 26/15 अथर्ववेद, 12/1/11
21. ईशावस्योपनिषद् 1/1

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 112-115

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

डॉ. निशा खन्ना*

भारतीय दर्शन में 'प्रामाण्यवाद' एक बहुत महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। सभी सम्प्रदायों ने इसके ऊपर यथा-स्थल विचार किया है। 'प्र' उपसर्ग 'मा' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'प्रमाण' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है—यथार्थ ज्ञान का कारण या साधन। 'प्रमाण' शब्द में लगने वाले ल्युट्-प्रत्यय को जब करण अर्थ में स्वीकार किया जायेगा तब प्रमाण का अर्थ साधनपरक होगा तथा जब भाव में ल्युट् प्रत्यय किया जायेगा, तब प्रमाण का अर्थ होगा—यथार्थ ज्ञान। इसी 'प्रमाण' शब्द में प्र उपसर्गपूर्वक 'ष्यञ्' प्रत्यय लगाकर 'प्रामाण्य' शब्द की निष्पत्ति होती है। यह ष्यञ् प्रत्यय भी भाव और कर्म दोनों अर्थों में होता है, अतः प्रमाण शब्द में भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगकर बनने वाले 'प्रामाण्य' शब्द का अर्थ होगा—प्रमाण होना, यथा—शब्द का प्रामाण्य, इसका अर्थ हुआ—शब्द का प्रमाण होना। जब यही ष्यञ् प्रत्यय प्रमाण से कर्म अर्थ में लगता है, तब इस 'प्रामाण्य' का अर्थ होता है 'यथार्थता अथवा प्रामाणिकता।'

प्रामाण्य का अर्थ समझने के पश्चात् यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि इस 'प्रामाण्य' का स्वरूप क्या है? तो 'प्रामाण्य' का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—जब घट देखते हैं और ज्ञान होता है कि 'यह घट है' घट विषयक यह ज्ञान प्रमा भी हो सकता है और अप्रमा भी। ज्ञाता को यह प्रबल इच्छा होती है कि अपने ज्ञान के विषय में जाने कि वह प्रमा है अथवा नहीं, कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञाता को प्रमा के यथार्थ और प्रमाण के सत्यत्व निर्धारण की इच्छा होती है। ज्ञान का यही यथार्थ और उसके द्वारा प्रमाण का सत्यत्व निश्चय ही 'प्रामाण्य' है और इसका विरोधी 'अप्रामाण्य' होता है। प्रामाण्य के विषय में एक जिज्ञासा यह भी होती है कि 'प्रामाण्य' का सम्बन्ध 'प्रमा' से है अथवा 'प्रमाण' से। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के जिन ग्रन्थों में 'प्रामाण्यवाद पर विचार किया गया है यहाँ स्पष्टतः 'प्रामाण्य' शब्द का उपयोग 'प्रमा' और 'प्रमाण' दोनों के लिए ही किया गया है। न्यायमंजरीकार[1] ने 'प्रामाण्य' का विवेचन करते हुए इसे 'ज्ञान' से सम्बद्ध स्वीकार किया है। जबकि 'शास्त्रदीपिका'[2] में 'प्रामाण्य' को स्पष्टतः प्रमा से सम्बद्ध स्वीकार किया गया है। अतः मतभेदों को देखते हुए यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से है या प्रमाण से तो इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि प्रामाण्य-प्रमा और प्रमाण दोनों से ही सम्बद्ध होता है। जहाँ प्रमा की यथार्थता जाननी अभीष्ट होती है वहाँ 'प्रामाण्य' का विषय प्रमा होती है और जब प्रामाण्य द्वारा प्रमाण की यथार्थता का ज्ञान किया जाता है, तब प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमाण से होता है।

प्रामाण्य की आवश्यकता

* जे.आर.एफ., डी.फिल्., इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

किसी भी विषय की सत्यता और निश्चेयता के लिए प्रामाण्य ज्ञान आवश्यक है। प्रमा और प्रमाण के सत्यत्व का मूल्यांकन प्रामाण्य द्वारा ही होता है। किसी ज्ञान के विषय में संशय, विपर्यय जैसी शंकाओं का निरास भी प्रामाण्य द्वारा ही होता है। यदि ज्ञान के प्रामाण्य का निर्धारण नहीं होगा तो अनिश्चित ज्ञान सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार को असम्भव बना देगा। अतः विशेषतः प्रमाणों का अध्ययन करने वाले न्याय शास्त्र में प्रामाण्यवाद की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। वैसे तो प्रामाण्यवाद की अवधारणा का विकास, वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए हुआ है— *"तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते।'*[8] जहाँ तक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रामाण्य का प्रश्न है तो प्रामाण्य के अभाव में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व्यवहार की सिद्ध होती है, किन्तु वेद अदृष्टार्थक हैं, अतः वेदविहित विधानों में प्रवृत्ति के लिये वेद प्रमाण अर्थात् शब्द प्रमाण का प्रामाण्य निर्धारण आवश्यक है।[4] वेदार्थ संरक्षण के लिए प्रवृत्त न्यायशास्त्र में इसलिए भी प्रामाण्य पर चिन्तन आवश्यक है।

प्रामाण्य विषयक विभिन्न मत

प्रामाण्यवाद भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। सभी दर्शनों में इसके ऊपर विचार किया गया है, किन्तु मीमांसा दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक में इस पर विशेषरूप से विचार किया गया है। अब सभी दर्शनों के प्रामाण्य विषयक विचारों का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

न्यायमत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः ग्राह्य हैं। तात्पर्य यह है कि जिन कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, केवल उन्हीं कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता, बल्कि उनके लिए अन्य कारणों की अपेक्षा होती है।

मीमांसा दर्शन की यह मान्यता है कि प्रामाण्य तो स्वतोग्राह्य है, किन्तु अप्रामाण्य परतोग्राह्य है। स्वतोग्राह्य का तात्पर्य यह है कि जिस कारण सामग्री से प्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, उसी कारण सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है, उसके लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती। प्रामाणिकता के ग्रहण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में मीमांसकों में भी तीन सम्प्रदाय हैं—प्रभाकर, कुमारिलभट्ट और मुरारिमिश्र।

प्राभाकर के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के तीन अंश होते हैं—मिति, मातृ और मेय अर्थात् ज्ञान, ज्ञान का आश्रय और ज्ञान का विषय। इनके अनुसार घट विषयक ज्ञान "यह घट है" एवं 'मैं घट विषयक ज्ञानवान् हूँ।" इस प्रकार का व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, यह व्यवसाय को स्वतः प्रकाशरूप मानते हैं, अतः उसका प्रामाण्य भी प्रकाश के समान ही स्वतः गृहीत होता है। इसके अतिरिक्त मीमांसक वेद को ईश्वरकृत मानते हैं, अतः ईश्वर कृत रचना की प्रामाणिकता के लिए वे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते।[5]

कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञान स्वयं अतीन्द्रिय होता है और उसका ग्रहण ज्ञातता से होता है। 'ज्ञातता' का अर्थ है—'स्व' अर्थात् 'स्वकीय ज्ञातता लिङ्ग युक्त अनुमिति' से ग्राह्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस मत में ज्ञातता लिङ्ग अनुमान ज्ञान का ग्राहक होता है और उसी से ज्ञान से प्रामाण्य का ज्ञान होता है, उसके लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार इस मत में भी प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व ही माना जाता है।

मुरारिमिश्र का मत न्याय मत के अनुसार ही है। इनके मत में भी ज्ञान अनुव्यवसाय से गृहीत होता है। इनका न्यायमत से अन्तर मात्र इतना ही है कि न्यायमत में अनुव्यवाय में केवल ज्ञान का ही ग्रहण होता है, जबकि मुरारिमिश्र के मत में अनुव्यवसाय ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है, क्योंकि अन्य दोनों मीमांसकों के समान ही यह भी प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य ही मानते हैं।

इस प्रकार प्राभाकर, कुमारिल और मुरारिमिश्र इन तीनों प्रसिद्ध मीमांसाचार्यों के मत में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है और स्वतोग्राह्य का अर्थ है अन्य कारण की अपेक्षा न कर केवल ज्ञान सामग्री से ही गृहीत होना।

सांख्यमत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतोग्राह्य माना गया है। इनके मतानुसार यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य को परतोग्राह्य माना जायेगा तो उनके ग्रहण के लिए अतिरिक्त कारण की कल्पना करने से गौरव होगा और यदि स्वतोग्राह्य माना जायेगा तो ज्ञान के ग्राहकों से ही उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान हो जाने से, उसके निमित्त अन्य कारण की कल्पना की आवश्यकता न होने से लाघव होगा, अतः उन दोनों को स्वतोग्राह्य मानना उचित ही है।

माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह'[6] में भी सांख्य को न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा इन दोनों से भिन्न प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानने वाला बताया गया है—

''प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।

बौद्धदर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतोग्राह्य और परतोग्राह्य के विषय में दो प्रकार की मान्यतायें हैं। कुछ बौद्ध विद्वान् अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में **'सौगताश्चरमं स्वतः'** लिखकर इस बौद्ध मत का संकेत दिया गया है। किन्तु 'शान्तिरक्षित' आदि बौद्ध विद्वानों की मान्यता इससे विपरीत है, वे अभ्यास दशापन्न ज्ञान में दोनों को परतः मानते हैं।

इस प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व के विषय में वैदिक और अवैदिक दोनों दर्शनों में विभिन्न प्रकार की मान्यतायें दृष्टिगत होती हैं।

सन्दर्भ सूची

1. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी
2. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ-32
3. शास्त्रदीपिका - पृष्ठ 20
4. न्यायमंजरी - भाग 1, पृष्ठ 155
5. श्लोकवार्त्तिक 2/68
6. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 279

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. न्यायमञ्जरी

2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण—प्रो. संगमलाल पाण्डेय
3. भारतीय दर्शन—दत्ता एवं चटर्जी
4. भारतीय दर्शन—नन्द किशोर देवराज
5. भारतीय दर्शन—आचार्य बलदेव उपाध्याय
6. वैशेषिक दर्शन-एक अध्ययन—श्री नारायण मिश्र
7. भारतीय दर्शन का परिचय—प्रो. हरिमोहन झा
8. भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र
9. सर्वदर्शनसंग्रह–माधवाचार्य

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 116-119

उपनिषदों में निहित शिक्षा दर्शन की उपादेयता

शैलेन्द्र कुमार साहू*

संस्कृत वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त उत्कृष्ट है। उपनिषदों का मूल सम्बन्ध ब्रह्मविद्या से है जो सभी अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का विनाश करती है, संसार के हेतु स्वरूप अविद्या को शिथिल करती है और ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग के रूप में सङ्कलित तथा उनके सारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करने के कारण इन्हें 'वेदान्त' भी कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में उपनिषद् विशिष्ट शिक्षानिधि के रूप में मान्य है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता ये प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपनिषद् प्रस्थानत्रयी के प्राणस्वरूप हैं। जो इसकी महत्ता का सूचक हैं।

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति 'उप' तथा 'नि' उपसर्गों से युक्त सद् धातु से निष्पन्न होता है। 'इसका अर्थ गुरू के निकट विनम्रतापूर्वक बैठकर प्राप्त किया गया ज्ञान है।' प्राचीनता तथा विषय संयोजन आदि की दृष्टि से उपनिषदों की संख्या (10)— ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक दस माने गये हैं। इनमें शैक्षकीय विषय व्यक्त हुए हैं। ये विषय बलप्रद एवं शिक्षा के उच्च आदर्श के परिचायक हैं। इनकी शिक्षा सिद्धान्त की सीमा सांसारिक जीवन की आवश्यकताओं की तुष्टि तक ही नहीं है। इनमें प्राप्त संकेतों के आधार पर शिक्षा सिद्धान्तों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में शिक्षा का विशद् विवेचन मिलता है। शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति 'शिक्ष्' धातु में टाप् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। 'शिक्षा' का अर्थ जिसके द्वारा वर्णादि का उच्चारण सीखा जाता है उसे 'शिक्षा' कहते हैं।

''शिक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णाद् उच्चारणलक्षणम्।
शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः।।''[1]

उपनिषदों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्म साक्षात्कार करना था। छान्दोग्योपनिषद् में जब नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहासपुराणरूप पञ्चमवेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, शिक्षाकल्प, गणित, ज्योतिषशास्त्र आदि सब पढ़ लिए हैं, वे 'मन्त्रवित् बन चुके हैं परन्तु 'आत्मवित्' नहीं हैं। **''सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्''**।[2]

इस प्रकार उनका यही तात्पर्य है कि उनके पास पुस्तकीय ज्ञान तो बहुत है किन्तु आत्मज्ञान अर्थात् वैयक्तिक शक्तियों के विकास की विद्या नहीं है। वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य के सम्बन्ध में कहा है— **''अयमात्मा ब्रह्म''**।[3] अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। इस प्रकार सत्य का ज्ञान होने पर भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है।

---

* वरिष्ठ अनुसन्धान अध्येता, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

ब्रह्म को जानने वाले मनुष्य की स्थिति के विषय में मुण्डकोपनिषद् में कहा है—''**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**''[4] अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म के समान हो जाता है। ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार 'ज्ञान' ब्रह्मस्वरूप है, जो ब्रह्म की नित्य सत्ता है और वह 'ज्ञान' या 'चित्' के रूप में हैं- ''**प्रज्ञानं ब्रह्म**''।[5] ब्रह्म की सर्वरूपता के निरूपण के प्रसङ्ग में वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि ''उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म स्वरूप ही था। उसने अपने को ही जाना अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। ''**अहं ब्रह्मस्मि**''[6] इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया। उसे देवताओं में से जिस-जिस ने जाना वही तद्रूप हो गया। ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से भी ऋषि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना। यह उपनिषद् आत्मा में सर्वाधिक प्रेम व्यक्त करते हुए आत्मतत्त्व को देखने के लिए प्रेरित करता है कि आत्मा ही दर्शनीय, श्रवण, मनन और ध्यान के योग्य है। वृहदारण्यकोपनिषद् में यह स्पष्ट किया है—

''**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्यः**[7]।

उपनिषद् काल में उपदेशविधि, संवादविधि और प्रश्नोत्तरविधि के माध्यम से शिक्षणकार्य प्रचलित था। सर्वप्रथम उपदेशविधि के सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि आचार्य वेदाध्ययन कराने के पश्चात् अपने शिष्यों को शिक्षा देने में प्रवृत्त होते थे—

''**वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।**

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।''[8]

इस प्रकार यह विधि अधीत, स्वयं आचरित एवं अनुभूत विषयों की अभिव्यक्ति में उपयुक्त है।

शिक्षण की संवादविधि का प्रयोग अधिकांश कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् तथा वृहदारण्यकोपनिषद् आदि उपनिषदों में प्रयुक्त है। इनमें ''**गुरू-शिष्य संवाद**'' (छान्दोग्य० 4/14) ''**पिता-पुत्र संवाद**'' (कठ० 1/3), ''**याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद**'' (वृहदा० 2) ''**राजा और उषस्ति संवाद**'' (छान्दोग्य० 1.11) आदि संवाद व्यक्त है। इस विधि के अनेक पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं और भाग लेने वाले व्यक्तियों को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिल जाता था। इस विधि के द्वारा विश्वासों का निर्धारण हो जाता है।

शिक्षण की अन्तिम विधि प्रश्नोत्तरविधि से सम्बन्धित उपनिषदों में— प्रश्नोपनिषद्, वृहदारण्यकोपनिषद्, केनोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद् आदि में प्रयुक्त हैं। इनमें ''**जनक के मनचाहे प्रश्नों का उत्तर**'' (वृहदा० 4.4), ''श्वेतकेतु के प्रति प्रवाहण के प्रश्न'' (छान्दोग्य० 5.3), ''आत्मा के विषय में प्रश्नोत्तर'' (ऐतरेय 3.1-4) आदि प्रश्नोत्तर व्यक्त हैं। इस विधि में प्रश्न पूछे जाते हैं और उनका उत्तर तत्काल अथवा अपेक्षित समय प्रदान कर कालान्तर में देना पड़ता है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—

''**तान्ह स ऋषिरूवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत् यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।**''[9] अर्थात् महर्षि पिप्लाद ने ब्रह्मविद्या के लिए आए हुए शिक्षार्थियों से कहा कि तुम लोग तपस्या, इन्द्रिय संयम रूप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त हो, शुश्रुषापूर्वक एक वर्ष ठहरो फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि मैं उसे जानता होऊँगा तो अवश्य ही बतला दूँगा। एक वर्ष गुरुकुल वास करने के बाद कात्यायन, कबन्धी आदि ने पिप्पलाद महर्षि के पास

जाकर पूछा हे भगवन्। ये सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती हैं? तब पिप्पलाद महर्षि ने उत्तर दिया।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार उस युग में शिष्य— उस नित्य तत्त्व अर्थात् (अथर्वा शिक्षा नीति) को जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर वेदाध्ययन प्रारम्भ करता था।

''तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् सामित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।''[10]

उपनिषद् काल में गुरू-शिष्य परम्परा उच्चकोटि की थी कतिपय उपनिषदों के प्रारम्भ में दिये गये शान्ति पाठ से ही गुरू-शिष्य के पारस्परिक संबन्धों का बोध होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के शान्तिपाठ में एक स्थल पर गुरू परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि 'हम दोनों गुरु और शिष्य को साथ-साथ ही यश की प्राप्ति हो। हमें साथ-साथ-ब्रह्मतेज की प्राप्ति हो। **''सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।''**[11] वहीं दूसरी ओर शान्तिपाठ में ही शिष्य भी प्रार्थना करता है कि **'ब्रह्म'** मुझ विद्यार्थी को विद्या से युक्त करे। वही ब्रह्म वक्ता-आचार्य को वक्तृसामर्थ से युक्त करके उसकी रक्षा भी करें। मेरी रक्षा करें और वक्ता की रक्षा करें। विद्यार्थी की यह द्विरक्ति सम्मानार्थ ही है।

''तन्मामवतुतद्वक्तामवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।''[12]

उपनिषद् युग में गुरू-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत आचार्य विधि-विधान के अनुसार कर्त्तव्य कर्मों को समाप्त करके वेदाध्ययन कर आचार्य कुल से समावर्तन हो जाने पर स्त्री परिग्रह पूर्वक कुटुम्ब में स्थित हो, पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ, पुत्र एवं शिष्यों को धर्मात्मा बनाता हुआ, सम्पूर्ण इन्द्रियों का अपने अन्तःकरण में उपसंहार कर, शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध प्राणियों की हिंसा न करता हुआ, जीवनयापन करें, वह अधिकारी पुरुष निश्चय ही यावज्जीवन इस प्रकार बर्ताव करने वाला अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है और फिर लौटता नहीं। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार शिष्यों के कर्त्तव्यों के विषय में कहा गया है कि शिष्य ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने आचार्य की सेवा करके, शिक्षा के द्वारा जीवन-यापन करके, समिधाएँ लाकर तथा 'गोसेवा' करते हुए अपने गुरू को अपने आचार के द्वारा प्रभावित करते थे।

''ब्रह्मचारी बिभिक्षे''।
''समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये''।
''द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार''।[13]

इस प्रकार, उस युग में आचार्य सदा शिष्य के व्यक्तित्व का विकास करने में सहायक होते थे। इन सब क्रियाओं से शिक्षार्थी को विनय, शारीरिक श्रम एवं कष्ट, सहिष्णुता आदि मानवीय गुणों की महिमा सिखाई जाती थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल पुस्तकों में पढ़ाकर इन गुणों की शिक्षा देना सम्भव नहीं होता है। निरूक्तकार के अनुसार आचार्य शब्द का निर्वचन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है— **आचार्यः** कस्मात्? **''आचार्यः आचारं ग्राह्यति''**[14]

अर्थात् जो आचार्य आचार को ग्रहण करता है और विद्यार्थियों को आचार सिखाता है वही 'आचार्य' कहलाता है।

उपनिषदों में अनुशासित जीवन को महत्त्वपूर्ण माना गया है। बालक की प्रकृति में संस्कार लाकर उसे अनुशासित बनाते थे। छन्दोग्योपनिषद् में 'धर्म स्कन्ध निरूपण' में कहा गया है कि आचार्य कुल में रहने वाला ब्रह्मचारी वही है, जो कि आचार्य कुल में ही अपने शरीर को नियम, व्रतादि से अत्यन्त क्षीण कर देता है, वह तीसरा 'धर्म स्कन्ध' हैं। **''तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलदेवसादन्यन्''।**[15]

इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार आज्ञा, नियम, व्रत आदि का पालन उच्चतम ज्ञान प्राप्ति के लिए अनिवार्य थे। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उपनिषद् युग में व्यक्ति के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा व्यावहारिक जीवन में विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार करना था। उस युग में शिक्षण की तीन विधियाँ उपदेशविधि, संवादविधि, प्रश्नोत्तरविधि प्रचलित थी। गुरू-शिष्य परम्परा सर्वोपरि थी शिष्य समित्पाणि होकर गुरू के समीप शिष्यत्व ग्रहण करता था। उस काल में आचार्य अपने शिष्यों के व्यक्तित्वों का विकास आचारों द्वारा विकसित करते थे क्योंकि पुस्तकों के माध्यम से शिष्यों में विनय, शारीरिक श्रम, कष्ट एवं सहिष्णुता आदि मानवीय गुणों का प्रवेश सम्भव नहीं था। इस प्रकार ज्ञात होता है कि उपनिषद् युगीन शिक्षा पद्धतियों को अपनाकर हम अपने राष्ट्र को शैक्षणिक दृष्टि से विकसित एवं सुदृढ़ कर सकते हैं। अतः आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ये पद्धतियाँ नितान्त आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

संदर्भ

1. तैत्तिरीयोपनिषद्, शां० भाष्य— 1/2/1
2. छान्दोग्योपनिषद्— 7/1/3
3. वृहदारण्योपनिषद्— 2/5/19
4. मुण्डकोपनिषद्— 3/2/9
5. ऐतरेयोपनिषद्— 3/4
6. वृहदारण्यकोपनिषद्— 1/5/10
7. वृहदारण्यकोपनिषद्— 4/5/6
8. तैत्तिरीयोपनिषद्— 1/11/1
9. प्रश्नोपनिषद्— 1/2
10. मुण्डकोपनिषद्— 1/2/12
11. तैत्तिरीयोपनिषद्— 1/3/1
12. तैत्तिरीयोपनिषद्— 1/1/1
13. छान्दोग्योपनिषद्— 4/3/5, 4/4/5, 4/10/1
14. निरुक्त— 1/2
15. छान्दोग्योपनिषद्

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1. ईशादि नौ उपनिषद्— सम्पादक— हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण— तेरहवाँ
2. एकादशोपनिषद्— सम्पादक— डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, प्रकाशन—विजयकृष्ण लखनपाल, दिल्ली, तृतीय संस्करण—1979

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 120-124

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः-एक अनुशीलन

डॉ. बीना चौधरी*

''भूमि मेरी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ'' ऐसा उद्घोष करने वाले उन ऋषियों के विषय में यह सोचना भी कि वे प्रकृति से जुड़े हुए थे या नहीं अथवा वैदिक ऋषि पर्यावरण से परिचित थे या नहीं, अत्यन्त ही हास्यास्पद होगा। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इसी विश्वास पर टिका हुआ है कि प्रकृति की सभी वस्तुएँ तथा घटनाएँ जिनसे मनुष्य घिरा हुआ है, चेतन और दिव्य हैं। अतः वेद में आकाश, पृथ्वी, पर्वतों, नदियों, पेड़-पौधों आदि की दिव्य शक्तियों के रूप में अभ्यर्थना की गई है। इन सभी को देव मानकर पूजा करना कोई मूर्खता नहीं थी, अपितु ऋषियों और मुनियों के चिन्तन की उस पराकाष्ठा को द्योतित करती हैं जिसके कारण उन्होंने प्रकृति की इस महनीयता को समझा और जिसकी उपेक्षा के कारण आज विश्व में पर्यावरण की समस्या महाविकराल रूप लिए सबके समक्ष खड़ी है। भले ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को मात्र गड़रिए के गीत कह दिए हों परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार वेद अपौरूषेय हैं। वे सदियों पूर्व से मानव जीवन के कल्याण के साधन बनाकर उन्हें अनुप्राणित करते आए हैं।

वेद के एक-एक मंत्र में प्रकृति की उपासना है। मनुष्य का पृथ्वी, जल, तेज, वायु, पशु-पक्षी, वन, उपवन सभी के साथ घनिष्ठ तादात्म्य है। इसी तादात्म्य के कारण भारतीय संस्कृति में मनुष्य अपनी औसत आयु 100 वर्ष में से लगभग 75 वर्ष प्रकृति की रमणीय स्थलियों वनों तथा पर्वतों में बिताता था। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करते समय वनाचलों में स्थित गुरुओं के आश्रमों में निवास वानप्रस्थ काल में गृह-त्याग करके वनों की ओर प्रयाण तथा अंत में संन्यासाश्रम में वनों, पर्वतों, आदि के अंचलों में निवास प्रकृति के साथ मानव के सामंजस्य के साक्षात् उदाहरण हैं। भारतीय वैदिक संस्कृति को आरण्यक संस्कृति भी कहा गया है। हमारी संस्कृति प्रकृति की उपासना कर उससे वरदान के रूप में भोग्य सामग्री उपलब्ध कराती है। इसी कारण भारतीय ऋषियों ने प्रकृति को देव मानकर उसकी उपासना की है। जो दाता है वह देव है, जहाँ प्रकृति देव बनकर इस भूमण्डल के प्राणियों का भरण-पोषण करती है, वहाँ इन सबका संरक्षण करना भी मानव का परम धर्म है।

इस भूमण्डल पर जीवन को चाहे वह मनुष्य का हो, पशुओं का हो या वनस्पतियों का हो, उन्हें इन्हीं पंचभूतों से बल मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में ही ऋषि अग्नि की उपासना करता है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधाततममम्।[1]

---

* विभागाध्यक्ष - संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

यह अग्नि यज्ञ का देवता है, ऋत्विज् है, होता है और सर्वाधिक रत्नों को धारण करने वाला है। यह अग्नि ही ऋषि को समस्त धन एवं ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाला है—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेऽदिवे।
यशसं वीरवत्तमम्।[2]

ऋषि प्रार्थना करता है कि यह अग्नि मुझे उसी प्रकार से सुलभ रहे जैसे एक पुत्र के लिए पिता सुलभ रहता है—**सः नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।**[3] अर्थात् अग्नि और ऋषि का वही सम्बन्ध है जो एक पिता और पुत्र का होता है। हर क्षण ऋषि अग्नि के सानिध्य में रहना चाहता है, अग्नि के बिना उसका जीवन सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अथर्ववेद के द्वादश काण्ड के प्रथम सूक्त में ऋषि भूमि को "मातः" कहकर सम्बोधित करता है और समस्त भद्र से सुप्रतिष्ठित होना चाहता है—**भूमे मातर्नि धेहि भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।**[4] अथर्वा ऋषि ने इस सूक्त में भूमि के मातृत्व को विस्तार से स्पष्ट किया है। यह भूमि माता है क्योंकि सम्पूर्ण प्राणि वर्ग इसी भूमि पर श्वास लेते हैं।[5] इस पर वनस्पति पेड़ और लता आदि सदा स्थिर रहते हैं। ऐसी सभी जड़ और चेतन पदार्थों को बसाने वाली, भाँति-भाँति के मनुष्यों से भरे हुए राष्ट्र या देश को धारण करती हुई यह सभी के लिए धन धारण करती है।[6] यह विश्वम्भरा है, पयस्वती है, सबका पोषण करती है। जिस प्रकार से माता अपने पुत्र को दूध देती है उसी प्रकार से यह भूमि सभी प्राणि रूप पुत्रों को वस्तुएँ प्रदान करती है।[7] इस भूमि पर सभी प्राणी रात-दिन परिभ्रमण करते हैं। जिनका यह पोषण करती है, ऐसी मातृभूमि से ऋषि तेज, प्रताप, बल, वीर्य आदि को बढ़ाने की कामना करता है।[8] यह हिरण्यवक्षा है। सोना, चाँदी, हीरा पन्नादि अनेक रत्नों की खानें इसके वक्षस्थल में है।[9] चट्टानों, पत्थरों तथा धूल-मिट्टी से भरी हुई यह भूमि नमन योग्य है।[10] यह मातृभूमि न केवल खाद्य पदार्थ ही प्रदान करती है अपितु समस्त प्राणिवर्ग के स्वास्थ्य की भी रक्षा करती है। यह औषधियों की माता है— **मातरम् औषधीनाम्।**[11] यह कल्याणमयी है, सबको सुख देने वाली है, शिवा है, स्योना है। यह सबको मधुर वाणी प्रदान करती है— **ता नः प्रजाः सं दुहंता समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्।**[12] यह सभी को प्राण, आयु, ऊर्जा और बल को प्रदान करती है— **सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवीं कृणोतु।**[13]

इस प्रकार मातृस्वरूपा यह पृथिवी सम्पूर्ण प्राणिवर्ग का अपनी अपार समृद्धियों द्वारा भरण-पोषण एवं पालन करती है। अपनी समस्त समृद्धियों का भण्डार प्राणिवर्ग के सामने रख देती है। ऐसी मातृभूमि का संरक्षण करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। अतः ऋषि अपने आपको इस पृथिवी माता का पुत्र उद्घोषित करके मानो कि इसके संरक्षण की प्रतिज्ञा करता है। पुत्र शब्द का अर्थ ही है जो 'पुं' नामक नरक से बचाए। इस भूमि को समस्त दुःखों, समस्त पापों से बचाना प्राणि रूप पुत्र का कर्तव्य है और इस संरक्षण हेतु निम्न गुणों को धारण करना होगा। इस सूक्त के प्रथम मंत्र से ही कहा गया है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।

अर्थात् सत्य ऋत, संकल्प, तप, ज्ञान और त्याग जैसे गुण ही पृथिवी को धारण कर सकते हैं डॉ. फतह सिंह के शब्दों में यह षड्विध मानव धर्म है इसे हर मानव को धारण करना आवश्यक है। ऋत अखण्ड काल का शाश्वत् सत्य है। सूर्य प्रातः उगता है, सायं सदा छिप जाता है, इसकी यह गति ऋत है

अर्थात् प्रकृति के जो नैसर्गिक शास्वत नियम हैं वे ऋत हैं। अतः प्रकृति के नैसर्गिक नियमों के साथ छेड़छाड़ करना हमारे लिए कभी हितकर नहीं है। पर्यावरण भी प्रकृति के इसी संतुलन का पक्षधर है, इसके सन्तुलन पर ही हमारे जीवन का अस्तित्व निर्भर है। सत्य पर स्थिर होकर इस भूमि पर यज्ञ करना होगा। **यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म** के अनुसार मानव को वे सभी उत्तम कोटि के कर्म करने होंगे, जिनसे नवनिर्माण एवं, समृद्धि हो। इसके लिए आलस्य और प्रमाद को त्यागना होगा। अतः कहा गया कि निद्रा, तन्द्रा, आलस्य से रहित विद्वान् वीर और कुशल जन ही प्रमाद रहित होकर इस भूमि की रक्षा करते हैं—**सां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवाः भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।**[14]

इस भूमि पर खेती करने से उसको हम कमजोर करते हैं और उसके अन्दर के तत्त्वों का उपयोग करते हैं। उसकी पूर्ति हेतु ऋषि प्रार्थना करता है कि—हे मातृभूमि। तुझसे हल जोतकर हम जो बोवें वह जल्द उगे और बढ़े। हे मातृभूमि! तुम्हारे पर किसी तरह की क्षति या चोट न पहुँचे, तुम्हारा चित्त दुःखी न होवे—

यते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरी मा ते हृदयमर्पितम्।[15]

इसी प्रकार तैत्तरियीय संहिता में वृक्ष को काटते हुए यजमान यह प्रार्थना करता है कि—हे औषधि! तू इस वृक्ष की रक्षा कर। **औषधे त्रायस्व एनम्**[16] इसी प्रकार—**स्वधिते मैनं हिंसीः अर्थात् हे कुल्हाड़ी!** तू इस वृक्ष की हिंसा मत कर। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ऋषि बताना चाहता है कि जब भी इन वृक्षों को काटा जाए तो इस प्रकार से काटा जाए कि इनकी हिंसा न हो ये पूर्ण रूप से नष्ट न हो जाए। इनका संरक्षण आवश्यक है वन तथा वृक्ष पृथिवी पर वर्षा लाते हैं, मिट्टी को बहने से बचाते हैं, बाढ़ तथा सूखे को रोकते हैं तथा दूषित गैस को खींचतें हैं। यही कारण रहा है कि पुरातनकाल में वृक्षों को देव मानकर उनकी पूजा की जाती रही है जो पर्यावरण को प्रदूषण से बचाए रखने की ओर एक संकेत है।

प्रकृति का नियम है जो व्यक्ति जिससे जितना ग्रहण करता है प्रतिफल में उतना उसे वापस करना चाहिए। तभी व्यवस्था संतुलित रहती है। स्वार्थी मनोवृत्ति, भ्रष्ट आचरण, अवसरवादिता के रूप में अनार्जित आय को प्राप्त करने की भावना, पद लिप्सा, असीमित इन्द्रिय भोग एवं वासना के मनोविकारों से जब व्यक्ति एवं समाज पीड़ित होता है तब पर्यावरण एवं प्राकृतिक संतुलन भंग होता है। भूमि सूक्त का ऋषि इसी दोष से बचने के लिए प्रार्थना करता है कि जो हिंसक आततायी हैं, कर्मपराङ्मुख आलसी हैं, जो निर्धन हैं, धन के हरने वाले हैं, मांस खाने वाले हैं, राक्षसी स्वभाव वाले हैं, उन सबको हमसे दूर रखें—

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वान् रक्षांसि तान् स्मद्भूमे यावय।।[17]

केवल दुष्ट पुरुष ही नहीं अपितु उपवन में रहने वाले सिंह, बाघ और दूसरे प्राणियों की हिंसा करने वाले मांसाहारी जीव, वन के रहने वाले चतुष्पाद तृणभोजी मृगादि चरते फिरते हैं तथा वन्य पशु, पागल कुत्ते, भालू, भेड़िये आदि हिंसक पशु हैं वे हमसे दूर रहें।[18]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है समाज के वातावरण को दूषित न होने देना उसका कर्त्तव्य है। लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, छल-कपट जैसे दुर्भाव समाज को प्रदूषित करते हैं। इन दुष्ट भावों का परित्याग समाज की

सर्वोपरि सेवा है अतः ऋषि प्रार्थना करता है कि—हे मातृभूमि जो हमसे द्वेष करे, झगड़ा करें, हमें दास बनाए, जो हत्या करके हमें कष्ट पहुँचाना चाहता है उसे तुम नष्ट कर दो''[19] सामाजिक वातावरण प्रदूषित न हो अतः ऋषि प्रार्थना करता है कि हम सब तेरी प्रजाएँ मधुर प्रेमपूर्ण वाणियाँ बोलें, हमकों भी मधुर बोलने की शक्ति दो—**ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्।।**[20]

हम सबसे मधुमत् व्यवहार करें, मधुर यह भूमि माता अपनी गन्ध से समस्त प्राणियों को सुवासित करती है। इसकी गन्ध को औषधियाँ धारण करती हैं। जल धारण करती है सूर्य और किरणें धारण करती हैं। अतः ऋषि प्रार्थना करता है कि माँ तेरी इस गन्ध से हम सब सुवासित होते हुए परस्पर किसी से द्वेष न करें—

यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः
यं गन्धर्वाः अप्सरश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन।।[21]

स्पष्ट है कि इस पृथ्वी की गन्ध इस भूमण्डल के कण-कण में व्याप्त है। जिस प्रकार एक माँ का रक्त उसकी सभी संतानों में व्याप्त रहता है और उस खून की लाज रखते हुए कोई भाई-बहन परस्पर ईर्ष्या, द्वेष नहीं रखते हैं, यही कल्पना ऋषि ने की है कि इस भूमि पर निवास करने वाले सब जड़ एवं चेतन इस भूमि की गन्ध से सुवासित हैं। अतः हमें परस्पर किसी से ईर्ष्या द्वेष नहीं करना है। हम एक ही मिट्टी में पले बढ़े, भला कैसे किसी से ईर्ष्या द्वेष कर सकते हैं इसीलिए भारतीय संस्कृति में वसुधैव कुटुम्बकम् की कल्पना सार्थक हुई परन्तु जो कोई शत्रु हमारी भूमि का दोहन करें, उनका ऋषि नाश करने के लिए तत्पर है।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः।।[22]

सारांशतः वैदिक ऋषि के अनुसार यह भूमि माँ बनकर इस पर निवास करने वाले समस्त प्राणियों का सर्वाधिक पोषण एवं रक्षण करती है तथा समस्त प्राणि वर्ग पुत्र बनकर इसका सम्मान रक्षण एवं इसके मर्म को क्षति न पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। प्रकृति के साथ प्राणि वर्ग का माता और पुत्र से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध अन्य कोई नहीं हो सकता तथा ऋषि के इसी पवित्र सम्बंध में समस्त पर्यावरणों को सुरक्षित कर दिया है। अतः यजुर्वेद का ऋषि भी इसे प्रणाम करता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयन्ते राऽयन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरूणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रऽयै त्वा पोषाय त्वा।।[23]

सन्दर्भ-सूची

1. ऋग्वेद 1/1/1
2. ऋग्वेद 1/1/3
3. ऋग्वेद 1/1/9
4. अथर्ववेद 12/1/63
5. अथर्ववेद 12/1/27
6. विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी। वैश्वनरं विभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो

दयातु।। अथर्ववेद 12/1/06

7. यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे। इन्द्रो मां चक्र आत्मनेऽनभित्रां शचीपतिः। सा ना भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः।। अथर्ववेद 12/1/10
8. अथर्ववेद 12/1/09
9. अथर्ववेद 12/1/06
10. शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता। तस्यै हिरण्यनक्षरो पृथिव्या अकरं नमः।। अथर्ववेद 12/1/26
11. अथर्ववेद 12/1/17
12. अथर्ववेद 12/1/16
13. अथर्ववेद 12/1/22
14. अथर्ववेद 12/1/07
15. अथर्ववेद 12/1/35
16. तैत्तरीय संहिता 01/02/01/01
17. अथर्ववेद 12/1/50
18. अथर्ववेद 12/1/49
19. अथर्ववेद 12/1/14
20. अथर्ववेद 12/1/16
21. अथर्ववेद 12/1/23
22. अथर्ववेद 12/1/58
23. यजुर्वेद 1/22

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 125-127

वेदों में जल संरक्षण

रोशनी*

परिदृश्यमान् इस जगत् के कण-कण में ब्रह्मात्मक सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराने वाली ब्रह्मवाण 'वेद' में पर्यावरण संरक्षण के वे सभी जीवन-सूत्र निहित हैं, जो सदा से मानव जीवन को संरक्षण प्रदान करते आये हैं। अपनी ऋतम्भरा प्रजा से ब्रह्मवाणी का साक्षात्कार करने वाले वैदिक ऋषिगण सुखद एवं शांतिपूर्ण जीवन के लिए पर्यावरण के प्रति सदैव सतर्क एवं संवेदनशील रहे हैं। पर्यावरण में जल, वायु, वृक्ष, भूमि, पशु-पक्षी आदि सभी सम्मिलित हैं। प्रकृति का मानव के साथ गहरा रिश्ता है। ब्रह्माण्ड एक सक्रिय इकाई है, जहाँ प्रत्येक वस्तु निरंतर परिवर्तनशील है। हाल ही के कुछ वर्षों में हमारे भूमण्डल से जुड़ी कुछ विध्वंसक घटनाओं ने हमें आधुनिक विज्ञान के खंडित या अपूर्ण दृष्टिकोण पर ध्यान देने को विवश कर दिया है। ओजोन की परत में छिद्र, चेरनोबिल की आण्विक दुर्घटना और खाड़ी युद्ध ने हमें महसूस करा दिया है कि इन भूमण्डलीय घटनाओं का मनुष्य से सीधा सम्बन्ध है और इनका दुष्प्रभाव आने वाली पीढ़ियों पर होगा।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में मानव रक्षक पदार्थों में जल, औषधि, वन, वृक्ष, पर्वत, द्युलोक आदि का उल्लेख प्राप्त होता है तथा कहा गया है कि इन पदार्थों के प्रति हानि पहुँचाने से अपना जीवन संकटग्रस्त होता है—**आप ओषधीरूत नोऽवन्तु द्यौर्वना गिरयो वृक्षकेशाः।** इन पर्यावरणीय घटकों के शांति की प्रार्थना भी वेदों में की गई है, जिससे शांति होने पर पर्यावरणीय स्थिति में संतुलन बना रहे।

''द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति वनस्पतयः। शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि।।''[1]

ब्रह्माण्ड में इनका साम्य लय व संतुलन तो दिखता है, जबकि इनमें आया विकार विपत्ति का कारण बनता है। उदाहरण स्वरूप जीवनदायिनी वायु आँधी के रूप में अनर्थकारी होती है। कुछ ही क्षणों में भूकम्प भयंकर विनाश कर सकता है। जीवनप्रदायक शान्त और सुन्दर नदी भी विनाश का कारण बन सकती है। वेदों में पर्यावरण के इन घटक तत्त्वों को संतुलित व संरक्षित करने के लिए अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं।

वेदों में सभी समस्याओं का समाधान होने के साथ-साथ तत्संबंधी अनेकानेक पहलुओं पर सकारात्मक चिन्तन भी मिलता है। जलीय पर्यावरण के संबंध में चिंतन की अपेक्षा के साथ यह आवश्यक है कि जल संरक्षण एवं तद्गत विशुद्ध संतुलित पर्यावरण विद्यमान रहे। इसकी संभवतः पहले इतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी आज है। पृथ्वी पर तीन चौथाई भाग जल है, यह जल मानव के लिए ही नहीं अपितु संपूर्ण जीव एवं वानस्पतिक जगत् की अहर्निश मूल आवश्यकता और प्राणाधार है। इस प्राणदायक जल को प्रदूषण रहित रखना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

---

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

समस्त प्रकृति एवं जैविक जगत् में शान्तिकर एवं जीवन निर्वाहक तत्त्व यदि किसी को माना गया है, तो वह प्रतिष्ठा जल को ही प्राप्त है।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमुसन्त्वापः।।[2]

वेदों में जल का भैषज्यरूप में भी माहात्म्य वर्णित है। जल समस्त रोगों व्याधियों को समूल नष्ट करने वाला अमीवचातनी और **आपः सर्वस्य भेषजी** अर्थात् प्रायः सभी रोगों की परमौषधी बताया गया है।

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।।[3]

इस जल की वारि संज्ञा भी इसी कारण से है कि यह समस्त शरीरगत व भौतिक दोषों का निवारण करने वाला है। इस जल चिकित्सा का स्पष्ट उल्लेख वेदों में वर्णित है; जहाँ सोम ने कहा है कि (अप्सु अन्तः) उदकों में (विश्वानि भेषजानि) समस्त रोगों की औषधियाँ हैं (आपः विश्वभेषजीः) जल सब औषधियों से सुसम्पन्न है।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः।।[4]

परन्तु आज स्वार्थवश जल को दूषित किया जा रहा है। कूड़ा-करकट व मल युक्त प्रदूषित जल नदी-नालों में प्रवाहित कर जल प्रदूषण बढ़ाया जाता है। रसायनिक पदार्थों से युक्त कारखानों का दूषित जल जल प्रदूषण को बढ़ावा दे रहा है, परंतु हमारे प्राचीन ग्रंथ वेद नदियों के जल का दुरुपयोग करना हिंसा मानते हैं, क्योंकि भैषज्यमयी शक्तियों और जड़ी बूटियों से नदियों का जल पवित्र होता है, ऐसी नदियों की हिंसा नहीं की जानी चाहिए - **अपो मा हिंसीः**।[5] जलों को प्रदूषण रहित रखने के लिए वेदों में उपाय बताये गए हैं। कृष्ण यजुर्वेद के आरण्यक ग्रंथ में जल को शुद्ध रखने के लिए कहा गया है कि जल में मलमूत्र का त्याग न करें— **नाप्सु मूत्रपुरीषं केर्यात्।**[6] ऋग्वेद में नदियों की नियमितता के लिए प्रार्थना की गई है कि हे नदियों! तुम्हारे जल इतने सीमित नियमित, व्यवस्थित होकर प्रवाहित हो कि इनका जल न बहुत अल्प हो न बहुत अधिक हो—

उद्व उर्मिः शम्या हन्त्वापो योकत्राणि मुञ्चत।
मादुष्कृतौ व्येनसाऽध्न्यौ शूनमारताम्।।[7]

तैत्तिरीयारण्यक में जल को अमृत कहा गया है—'अमृतं वै आपः।' ऋग्वेद में अन्यत्र भी जल को अमृतमय और सर्व भैषज्यमय बताया गया है— **अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्।**[8] जल में सभी रोगों को दूर करने की क्षमता है, अतः जल एक औषधि है। जल में संजीवनीय तथा आरोग्यत्व तत्त्वों का अक्षय भण्डार है, जिसमें हमें अहर्निश प्राण, जीवन, बल, ऊर्जस्वत, रोगनिवारक तथा रोगनिरोधक शक्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है।[9]

वेदों में जल संरक्षण पर विशेष बल दिया गया है। वर्षा से प्राप्त जल के द्वारा ही लता गुल्म वृक्ष व पेड़ पौधे उत्पन्न होते हैं। समस्त कृषि कार्य जल पर ही निर्भर है। सबको सुख देने वाली अग्नि भी जल में है। वैदिक ऋषियों को उस समय भी यह ज्ञान था कि जल विद्युत उत्पन्न करने का उत्तम साधन है—

अप्सु मे सोमोऽब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः।[10]

वेदों व पुराणों में जल को दूषित होने से रोकने के लिए कहा गया है कि जल में मल मूत्र का त्याग न करें। जल के निष्कासन की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। जल में कीटनाशकों का प्रयोग कम से कम हो। मृत जीव-जन्तु व कूड़ा-करकट जल में न फेंक कर जमीन में गड्ढा खोदकर गाड़ना या जलाकर नष्ट करना चाहिए।

ऋग्वेद में हिमालय से निकलने वाली नदियों का जल हृदय रोगियों के लिए श्रेयष्कर तथा जल व सोमादि रसों को सेवन दीर्घायु प्रदान करने वाला कहा गया है। द्युलोकादि में विद्यमान रहने वाला, उत्तम गति वाला, औषधियों को पुष्ट बनाने वाला जल वृष्टि द्वारा चारों ओर प्रवाहित होकर भूमि को तृप्त करता है व हमें आरोग्य प्रदान करता है।[11]

जल संरक्षण के लिए प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त जल के संचयन हेतु उपाय करने चाहिए तथा जल रहित प्रदेशों में ऐसे वृक्षों का रोपण करना चाहिए जो जल की मात्रा बढ़ाते हों व भूमिगत जल स्रोतों का उचित ज्ञान कराते हों। वेदों में ऐसे अनेक वृक्षों का उल्लेख मिलता है जो जल संचयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं जैसे वेतस् वृक्ष व जामुन के वृक्ष के 10 फुट नीचे मधुर जल होता है। गूलर वृक्ष के 13 फुट नीचे जल स्रोत होता है व बहेड़ा वृक्ष के समीप दक्षिण दिशा में यदि वाल्मीक दिखाई दे तो उस स्थान से 2 हाथ दूर 8 फुट नीचे जल स्रोत होता है।[12]

इस प्रकार जल रहित प्रदेशों में ऐसे वृक्षों को लगाकर प्राकृतिक स्रोतों की रक्षा करनी चाहिए जिससे सभी प्राणिमात्र के लिए जल की उचित मात्रा प्राप्त होकर कृषि तथा वनस्पति हरी-भरी होकर वृक्षों का संरक्षण व संवर्द्धन हो सके।

सन्दर्भ-सूची

1. यजुर्वेद 36/18
2. ऋग्वेद 7/35/8
3. अथर्ववेद 3/7/5, 6/91/3
4. ऋग्वेद 1/23/20
5. यजुर्वेद 6/22
6. तैत्तरीय आरण्यक 1/26/7
7. ऋग्वेद 3/33/13
8. बृहदारण्यकोपनिषद् 1/23/10
9. यजुर्वेद 9/6
10. ऋग्वेद 1/23/20
11. ऋग्वेद 1/164/52
12. बृहत्संहिता (दकार्गलाध्याय)

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 128-131

भर्तृहरि द्वारा रचित नीतिशतकम् में नैतिक मूल्य

डॉ. प्रीति श्रीवास्तव*

संस्कृत भाषा का एक प्राणदायिनी भाषा है। संस्कृत को देववाणी, देवभाषा, गीर्वाण वाणी आदि नामों से संबोधित किया जाता है। पहले संस्कृत भाषा विद्वानों एवं तत्त्वज्ञानियों की भाषा थी, किन्तु बाद में संस्कृत का प्रयोग राजभाषा के रूप में होने लगा। हमारा समस्त ज्ञान-भंडार धर्मग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत, दर्शन, नाटक, गद्यकाव्य, महाकाव्य इत्यादि सभी संस्कृत भाषा में है। ज्ञान का ऐसा कोई भी अंग नहीं है जो संस्कृत भाषा से अछूता हो।

विश्व की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की जानकारी हमें संस्कृत साहित्य के द्वारा ही प्राप्त होती है। विश्व साहित्य की आधारशिला संस्कृत साहित्य में ही उपलब्ध होती है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भाँति साहित्य में प्रतिबिंबित होगा। संस्कृति की आत्मा साहित्य में ही निवास करती है। संस्कृति के प्रचार-प्रसार का सर्वश्रेष्ठ साधन साहित्य ही होता है। संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का आधार रहा है। भारतीय संस्कृति का निखरा रूप हमें संस्कृत साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। हमारा भारत देश अपने नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के लिए जगत् में प्रसिद्ध है। मूल्यपरक शिक्षा अपने घर से ही प्रारम्भ होती है। बच्चा घर से सीखी हुई शिक्षा को समाज एवं राष्ट्रिय स्तर पर विकसित करता है एवं अपनों में उन मूल्यपरक शिक्षाओं का पालन करता है। कोई भी व्यक्ति बिना मूल्यों का पालन किये जीवन निर्वाह नहीं कर सकता है। वर्तमान समय में मूल्य परक शिक्षा का ज्ञान हमें संस्कृत भाषा के द्वारा प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य के महाकाव्य, नाटक एवं साहित्य की विविध शैलियों के द्वारा किसी न किसी प्रकार की मूल्यपरक शिक्षा अवश्य प्राप्त होती है।

वर्तमान युग में समाज के अंदर अनेक प्रकार की विसंगतियाँ और समस्यायें फैली हुई हैं। जैसे— संयुक्त परिवार का विघटन, आतंकवाद, अनुशासनहीनता इत्यादि। इनको दूर करने के लिए मूल्यपरक शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना भारतीय संस्कृति का मूलाधार रही है। अतः **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** को सहिष्णुता, अहिंसा, सत्य सौहार्द इत्यादि के द्वारा समाज में पुनः प्रतिष्ठापित करना हम सभी का कर्त्तव्य है। इस प्रकार साहित्य के द्वारा समाज में मूल्यों का ज्ञान और उसकी सुरक्षा का बोध होता है।

मूल्यपरक शिक्षा के संदर्भ में भर्तृहरि द्वारा रचित नीतिशतकम् संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है। नीतिशतक में अनेक नैतिक सिद्धांतों को निरूपित किया गया है। नीतिशतकम् महाभारत और मनुस्मृति की गंभीर नैतिकता प्रस्फुटित हुई है। समाज के लिए महान् चरित्र के आदर्श नीतिशतक में स्थान-स्थान पर

* प्रवक्ता-संस्कृत, पत्राचार विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (सांध्यकालीन कक्षाएँ), सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

प्रस्तुत किये गये हैं। अनेक तत्कालीन चित्रण बाण की तरह पाठक के हृदय को विदीर्ण कर देते हैं। जैसा कि प्रस्तुत अंश के द्वारा अवगत हो जायेगा—लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता.....किं मृत्युन् (नीतिशतक 45वाँ श्लोक) अर्थात् इस छंद में कवि ने गुण, तपस्या, तीर्थ, बल, धन और अपयश के अभाव का सूत्ररूप में मूल्यांकन किया है। इस कथन का समर्थन करते हुए प्रोफेसर लैसेन ने भर्तृहरि के सम्बन्ध में कहा है—"कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों तथा विचारों को कलात्मक ढंग से सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता भर्त्तृहरि की विशेषता है। जो उनको संस्कृत साहित्य में मूर्धन्य कवियों में प्रतिष्ठित करती है।" उदाहरणार्थ—

मौनान्मूकः प्रवचनपदुर्वाचकः जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे भवति च वसनदूरतोऽप्यप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरूर्यदि न सहते प्रायशो नामिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।।

भर्तृहरि कहते हैं कि सेवाधर्म अत्यधिक कठिन है योगियों के द्वारा भी दुर्बोध है। सेवक यदि चुप रहता है तो उसे गूँगा कहा जाता है। यदि अत्यधिक बोलता है तो उसे वाचाल कहा जाता है समीप खड़ा रहे तो उसे ढ़ीठ कहा जाता है। दूर रहे तो उसे लचीला कहा जाता है। यदि सहनशीलता हो तो उसे कायर कहा जाता है। यदि बात न करे तो उसे अधम कहा जाता है। ऐसी स्थिति में सेवाधर्म की विकटता स्वयं सिद्ध हो जाती है। नीतिशतक में सन्मित्र सद्‌पुरुष के लक्षण भी बताए गये है। विपत्ति में धैर्य रखना क्षमा दिखाना, सभा में चतुराई से बोलना, युद्ध में पराक्रम दिखाना, यश में रूचि रखना, यश पाने की चाह रखना वेदशास्त्र के अध्ययन में लीन रहना ये सब गुण महापुरुषों के स्वभाव से ही सिद्ध होते हैं। सन्मित्र का लक्षण बताते हुए भर्त्तृहरि कहते हैं—

पापन्निवारयति योजयते हिताय गुप्तं निगूहति गुणान्प्रकटी करोति।
आपादगतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः।।

अर्थात् सन्मित्र पापकर्म से अलग रखता है अच्छे कर्म में लगाता है मित्र से छिपाने योग्य बातों को छिपाता है। अच्छे गुणों को फैलाता है। विपत्ति में उस का साथ नहीं छोड़ता यही सन्मित्र का लक्षण है। इसके अतिरिक्त सद्‌पुरुष का लक्षण बताते हुए भर्त्तृहरि कहते हैं, लोभ को नष्ट करो, क्षमा करों, अभिमान मत करो, सत्य बोलो सज्जनों के कार्यो का अनुसरण करो, विद्वानों की सेवा करो, माननीय लोगों का आदर करो, शत्रुओं से भी अनुकूल व्यवहार करो, व्यक्तियों पर दया करो, अपने गुणों को दिखाओं यही सब सत्पुरुष के लक्षण हैं।

नीतिशतक में विद्या की महत्ता का भी अत्यंत मार्मिक चित्रण प्राप्त होता है। विद्या को सर्वश्रेष्ठ धन माना गया है। विद्या धन का कोई चुरा नहीं सकता, विद्यार्थी को नित्य देने से यह वृद्धि करता है। प्रलयकाल में भी इसका नाश नहीं होता इस प्रकार विद्यारूपी गुप्त धन जिसके पास है उसका कोई नाश नहीं कर सकता, विद्या ही मनुष्य की सबसे बड़ी सुन्दरता है। विद्या की भोग विलास देने वाली यश और सुख देने वाली गुरूओं की भी गुरू है। विदेश जाने पर विद्या बंधु के समान सहायता करती है राजाओं के बीच विद्या की ही पूजा होती है धन की नहीं। अतः विद्या से हीन व्यक्ति पशु के समान होता है।

इस प्रकार विद्या की प्रशंसा करते हुए भर्तृहरि ने नीतिशतक में धन में अंधे लोगों को चेतावनी दी है कि विद्वानों का अनादर मत करो लक्ष्मी विद्वानों को बाँध नहीं सकती। भर्तृहरि ने नीतिशतकम् में चरित्र की रक्षा पर भी प्रकाश डाला है उनका कथन है कि ऊँचे पहाड़ ने शिखर पर से अपने को नीचे किसी कठिन पथरीली जमीन पर गिराकर प्राण देना कहीं अच्छा है।

नीतिशतक का अध्ययन करने पर उसकी उस मुख्य विशेषतायें ज्ञात होनी है—इसकी पहली विशेषता अनेक धार्मिक अनुभवों का निरूपण। ऐसा प्रतीक होता है कि भर्तृहरि ने जीवन को अत्यधिक गहराई से देखा है और उसके प्रत्येक क्षेत्र के अनुभवों को पूरी तरह से अनुभव करके अपने जीवन में उतार कर उन्हें नीतिशतक में अमर कर दिया है।

नीतिशतक की दूसरी विशेषता अनेक प्रकार की शिक्षाओं का निरूपण है। संसार में मनुष्य किन विशेष गुणों से सुखी रह सकता है इसका भर्तृहरि ने विशद् विवेचन किया है। भर्तृहरि ने नीतिशतक में कई महत्त्वपूर्ण जीवन संबंधी उपदेश दिये हैं। जैसे—मनुष्य को आत्मसम्मान की रक्षा करनी चाहिए, संसार में उपकार करना ही सबसे बड़ा धर्म है। सदाचार से सद्कर्म होते हैं। जिसके पास सुंदर स्वभाव है, बड़ा सद्कर्म करता है। शीलज्ञान से भयंकर से भयंकर विपत्तियाँ भी सरल हो जाती है। इसी प्रकार भर्तृहरि ने संतोष, धैर्य, क्षमा, सत्संग आदि की महिमा बताकर जीवन को उन्नत करने का मार्ग प्रशस्त किया है। नीतिशतक में मनुष्य के कुछ दिव्य गुणों का निरूपण किया गया है, जिससे मनुष्य देवता बन जाता है।

इस प्रकार नीतिशतक गागर में सागर भरने वाला एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। अल्प में बहुत कहना नीतिशतक की एक अपनी विशेषता है। नीतिशतक की भाषा सरल और सुगम्य है। इसमें जीवन की सत्य और धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण किया गया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भर्तृहरि द्वारा रचित नीतिशतक में अनेक मूल्यपरक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। जो मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संजीवनी का कार्य करते हैं। वे शाश्वत् तथा सर्वजनीन हैं। धर्म-जाति एवं संप्रदाय के भेद-भाव से रहित हैं वे मानव-मात्र के लिए नीति-निपुणता का उपदेश देते हैं तथा यह शिक्षा देते हैं कि व्यवहारिक कुशलता प्राप्त करके ही मनुष्य अपने जीवन में सफल हो सकता है नीतिशतक में मूर्ख से लेकर पंडित, दरिद्र से लेकर धनी तथा अधम कोटि से लेकर उत्तमकोटि के सभी मनुष्यों के लिए व्यवहार उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है। एक ओर यह ग्रंथ जहाँ विद्वान्, सद्कर्म, मान, शौर्य, पराक्रम, धैर्यादि की प्रशंसा करके उनके प्रति पाठकों को आकर्षित करता है। वहीं दूसरी ओर मूर्ख, दुर्जनादि की जिंदा करके उनसे दूर रहने का भी उपदेश देता है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से यह कहा जा सकता है, कि नीतिशतक श्लोकरूपी नीतिमणि मोतियों का ऐसा घर है जो सदियों से कण्ठ में स्थित होकर विद्वानों के कण्ठ की शोभा बढ़ा रहा है। जीवन के प्रत्येक पक्ष को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ में व्यवहारिक जीवन के अनेकानेक शिक्षायें मिलती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. भर्तृहरि का नीतिशतक—तरणीश झा।
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास—डॉ. कपिल देव द्विवेदी।
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय।
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास—व्यास और पाण्डेय।
5. भारतीय संस्कृति—वी.एन. लूनिया।
6. भारतीय संस्कृति—के.सी. श्रीवास्तव।

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 132-134

वेदों में शिक्षा की अवधारणा एवं अन्तर्निहित शिक्षा के मनोवैज्ञानिक प्रतिमान

कन्हैया लाल यादव*

शिक्षा शब्द शिक्ष् धातु में 'अण्' प्रत्यय से निष्पन्न होता है। शिक्षा मानवीय जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है तथा उसी के द्वारा जीवन के विविध आयामों में परिवर्तन जीवनोत्कर्ष, व्यक्तिभेद आदि सम्भव हैं। अतः जीवन के प्रत्येक पहलू में शिक्षा का महत्त्व सन्दर्भित होता है और इसका लक्ष्य तो व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास ही प्रतीत होता है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने तो शिक्षा को मुक्ति का साधन ही मान लिया है।[1] अन्य भारतीय विद्वानों में स्वामी विवेकानन्द ने भी मनुष्य में अन्तर्निहित गुणों के प्रकाशन का मूल शिक्षा को ही माना है।[2] पाश्चात्य विद्वानों में 'प्लेटो'[3], अरस्तू[4] आदि ने भी शिक्षा के मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को स्वीकार किया है। यहाँ तक कि हमारे वेद, उपनिषद् नीतिग्रन्थ भी शिक्षा के महत्त्व एवं उद्देश्य को सम्यक् रूप में उल्लेख किये हैं। सर्वप्रथम शिक्षा शब्द ऋग्वेद में ही आया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ऋचा में शक्ति देने के लिए इन्द्र की प्रार्थना की गई है। इसमें शिक्षा का अर्थ 'देने' रूप में प्रयुक्त हुआ है।[5] उपनिषदों में शिक्षा के अर्थ को व्यक्त करने वाला 'अध्ययन' शब्द का प्रयोग हुआ है।[6] जिसका अर्थ है-विद्या प्राप्ति के लिए गुरू के निकट जाना।[7] शिक्षा एक उपादान है जिसके द्वारा समाज व्यक्ति को अपनी संचित परम्परा और संस्कृत को देता है।[8] शिक्षा के द्वारा ही विकसित बुद्धि ही पशु और मनुष्य में अन्तर लाती है। विद्या लौकिक और पारलौकिक समस्त सुखों को देने वाली है, गुरुओं की भी गुरू हैं, ऐसा माना गया है।[9] हितोपदेश के अनुसार शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान में शंकाओं का समाधान होता है, कठिनाईयाँ दूर होती हैं और जीवन का वास्तविक मूल्य जानने में मानव समर्थ होता है। 'वेदों में शिक्षा तो कल्याणकारी, ऐश्वर्य प्रदायिनी एवं मनोवैज्ञानिक प्रेरणा, चिन्तन, ध्यान, संवेदना, शिक्षण, दर्शन आदि को बढ़ाने वाली है तथा वेदों में शिक्षा को अक्षय और वैभव प्रदान करने वाली माना गया है।[10] वैदिक शिक्षा तो समयाधारित है। जिसमें संयम के द्वारा ही मनुष्य कष्टों एवं दुःखों पर विजय प्राप्त करता है और सदा पुष्ट रहता है।[11] वेदों में बुद्धि, ज्ञान, मति, सुमति, प्रमति, अनुमति और ब्रह्मन् आदि शब्द पर्याय ही माने गये हैं। ज्ञान से जीवन में पवित्रता, शुचिता और सद्भावना आती है।[12] ज्ञान अघर्षणीय है। इससे सदा प्रगति और वृद्धि होती है।[13] ज्ञान कवच के तुल्य है तथा यह मनुष्य को सभी विपत्तियों से बचाता है।[14] संज्ञान को परिवार की सुख-समृद्धि का साधन बताते हुए कहा गया है कि इससे पारिवारिक शान्ति, अद्वैष और घर में देवों का निवास रहता है।[15] अनुमति को सद्बुद्धि, शौर्य, पराक्रम प्रदाता एवं दिव्य गुणों का रक्षक बताया गया है।[16] सुमति तो जीवन रक्षक ही है। यह बड़ी से बड़ी विपत्तियों में संकट के अवसरों पर मनुष्य को सूझ-बूझ प्रदान करके उसके जीवन की रक्षा करती है।[17] वेदों में बुद्धि 'धी' को जानने समझने वाली शक्ति बताया गया है, किन्तु मेधा को तदाभिन्न उसे स्मरण रखने की शक्ति कहा गया है। अतः बुद्धि

* (जे.आर.एफ.), शोध-छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

'धी' और 'मेधा' परस्पर भिन्न हैं। इसी 'मेधा' को प्राप्त हुए विद्वान् को 'मेधावी' भी कहा जाता है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी इसी 'मेधा' का महत्त्व बताया गया है।[18] इसमें 'मेधा' को सदस्पति तथा उसके अनेक गुणों–वक्तृत्व कला, वाग्मिता, शास्त्रार्थ कला आदि को बताया गया है। इसे अद्‌भुत की भी संज्ञा दी गई है और विद्वानों, ऋषियों, देवताओं के द्वारा उपासेय बताया गया है। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों की कृपा से ही 'मेधा' की प्राप्ति होती है। सूर्य के किरणों में 'मेधा' शक्ति में ही प्रबुद्ध करने की शक्ति है।[19] इसी कारण प्रातः और सायं सूर्याभिमुख होकर संध्योपासना का विधान है। ब्राह्मण, ऋषि, ब्रह्मचारी, देव और असुर मेधा का महत्त्व जानने के कारण ही वे प्रातः एवं सायं सूर्य की उपासना करते हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' को 'मेधा' का उत्कृष्ट रूप और साथ ही इसके साधक को सूर्य के समान तेज वाला बताया गया है। उस साधक की सारे विषयों में अप्रतिहत गति हो जाती है।[20] गायत्री मन्त्र में भी सविता (सूर्य) की उपासना का विधान बुद्धि की वृद्धि के लिये ही किया गया है। केवल वेद ही नहीं मनोवैज्ञानिक भी शिक्षा को मन एवं बुद्धि का संरक्षक ही मानते हैं। अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में मन और बुद्धि के समस्त क्रियाकलापों का संकलन किया गया है। यह मन्त्र सूत्र रूप में मनोवैज्ञानिक शिक्षा के सभी विषयों का समन्वय प्रस्तुत करता है। जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक मन्त्रों में किस प्रकार से मनोवैज्ञानिक तथ्य समाहित है—

मनसे चेतसे धिये आकूतये उत चिन्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेय हविषा वयम्।।

(अथर्ववेद 6/41/1)

मनोवैज्ञानिक तथ्यों संवेदना (Sensation) और प्रेरणा (Mativation) का अन्तर्भाव **'मनसे'** (मनः शक्ति, मन के गुण) चेतना (cansaiousness) चिन्तन का अन्तर्भाव **'चेतसे'** (चित्त के गुण–धर्म), ध्यान या अवधान (Attention) का अन्तर्भाव, **'धिये'** (धी बुद्धि के गुण–धर्म), अनुभूति (Feeling) और संवेग का अन्तर्भाव **'आकूतये'** (मनः संवेग और आन्तरिक क्रियाकलाप), स्मरण (Remembring) और **'विस्मरण'** (Porgetting) का अन्तर्भाव **'चिन्तये'** (संज्ञान और चेतना से सम्बद्ध गुण–धर्म), बुद्धि (Intelligence) का अन्तर्भाव 'मत्ये' (मति का क्रियाकलाप), पठन एवं शिक्षण का अन्तर्भाव **'श्रुताय'** (श्रवण और ज्ञानवर्द्धन से सम्बन्धित क्रियाकलाप) दर्शन एवं प्रत्यक्षीकरण (Perception) का अन्तर्भाव **'चक्षसे'** (चक्षु से सम्बद्ध क्रियाकलाप) में परिलक्षित होता है। इस प्रकार से प्रस्तुत मन्त्र में मनोवैज्ञानिक–शिक्षा के प्रायः सभी प्रतिमानों का सम्बन्ध है, जो कि मनोवैज्ञानिक–शिक्षा एवं वैदिक–शिक्षा के सामंजस्य को प्रदर्शित करता है। यदि हम वेदों में शिक्षा के उद्‌देश्य पर विचार करें तो वेदों में पूर्वातिरिक्त शिक्षा का उद्‌देश्य बुद्धि का विकास और बौद्धिक परिष्कार[21] जीवन को तपस्वी बनाना[22], आचार शिक्षा और चरित्र–निर्माण[23], व्रत और श्रद्धा[24], विद्या और बुद्धि का समन्वय[25], ज्ञान और कर्म का समन्वय[26], अध्यात्म और भौतिकवाद का समन्वय[27], तप और दीक्षा (अनुशासन और समर्पण)[28] ज्ञान–ज्योति प्रज्ज्वलित करना[29], लोकहितकारी सद्‌बुद्धि देना[30], चिन्तन शक्ति को बढ़ाना[31], अज्ञान और अशिक्षा का उन्मूलन[32] बताया गया है।

इस प्रकार के गूढ़ रहस्यों एवं गुणों को अपने अन्दर समाहित रखने वाली शिक्षा का यदि ह्रास हो रहा हो तो यह आधुनिक युग के समक्ष विचारणीय प्रश्न है। वर्तमान शिक्षा में अन्तर्निहित आत्मिक उन्नति का गौण होना इसका पुष्ट प्रमाण स्वरूप है। वर्तमान समाज के उत्कर्ष हेतु वैदिक शिक्षा का अध्ययन अवश्य

ही करना पड़ेगा।

सन्दर्भ-सूची

1. सा विद्या या विमुक्तये। शङ्कराचार्य
2. Education is manifestation of perfection already present in man. (Swami Vivekanand)
3. Education cansist in giving to the body and saul all the perfection to which they are susceptiple. (plato)
4. Education is the creation of sound mind in a sound body. (Aristole)
5. ऋग्वेद आर्य, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ. 147
6. तैत्तरीय उपनिषद् – 1,9,1,11
7. एजूकेशनल सिस्टम ऑफ द एन्शेन्ट हिन्दूज, पृ. 18
8. पी.एन. प्रभू, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ. 102
9. भर्तृहरि–नीतिशतकम्, 12, 17
10. रयिमक्षीयमाणम्। अथर्ववेद 7/20/3
11. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नत। अथर्ववेद 11/5/19
12. ब्रह्मणा पूताः। अथर्ववेद 11/1/18
13. अदब्धेन ब्रह्मणा वाबृधानः। अथर्ववेद 17/1/12
14. ब्रह्मणवर्मणा.। अथर्ववेद 17/1/20 ब्रह्म वर्म ममान्तरम्। ऋग्वेद 6/75/19
15. नो च विद्विषते मिथः....संज्ञानं पुरूषेभ्यः। अथर्ववेद 3/30/4
16. अनुमतिः...सुवीरतायै, प्रमतिः...देवगोपा। अथर्ववेद 7/20/5
17. प्र सुमतिम्....ऊतये। अथर्ववेद 4/25/6
18. यजुर्वेद 32/13-15, अथर्ववेद 6/108/5
19. मेधा सूर्यस्य रश्मिभिः....। अथर्ववेद 6/108/1-5
20. मेधाम् ऋतस्य जप्रभ। अहं सूर्य इवाजनि। अथर्ववेद 20/115/1
21. अथर्ववेद 7/16/1
22. तपस्तप्यामद्वे....श्रुतानि शृणवन्तः....सुमेधसः। अथर्ववेद 7/61/2
23. इदमहम् अनृतात् सत्यमुपैति। यजुर्वेद1/5
24. यजुर्वेद 19/30
25. अथर्ववेद 19/11/2
26. अथर्ववेद 20/89/3
27. यजुवेद 40/11
28. अथर्ववेद 19/41/1
29. केतुं कृण्वन् अकेतवे, पेशो मया अपेशसे। ऋग्वेद 1/6/3
30. आहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्। यजुर्वेद 17/74
31. मनुभर्व जनया दैव्यं जनम्। ऋग्वेद 10/53/6
32. ऋग्वेद 10/182/3

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 135-138

उपनिषदों के आलोक में नारी विमर्श की अवधारणा : वर्तमान सन्दर्भ में

पूर्णेन्दु प्रताप सिंह*

वर्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व वैज्ञानिक उन्नति के द्वारा मानसिक शान्ति को छोड़कर भोगों की ओर उन्मुख हुआ है। लोगों में आर्थिक वैषम्य व्याप्त है जिससे स्तेय, हत्या, लूट, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि दुर्गुण दिन-रात बढ़ रहे हैं। इस समय कुण्ठा, अवसाद और मानसिकतन्यता ने युवकों को दिग्भ्रमित, शीलसौजन्यरहित, स्वर्थी और भोगी बना दिया है। वर्तमान युवा पीढ़ी जिस प्रकार से भटकाव की स्थिति में आ चुकी है, वह भविष्य के विश्व के लिए घोर चिन्ताजनक है। समाज में मानवीय व्यवहारों के बीच मानवीय मूल्यों का पतन तथा सदाचरण के अभाव में समाज को विकृत स्थिति में पहुँचा दिया है।

मानवीय मूल्यों के पतन के फलस्वरूप समाज में स्त्रियों की स्थिति दिनों-दिन क्षीण होती गई। मनु और सतरूपा से उत्पन्न मानव शृंखला में स्त्री और पुरुष समान रूप और समान भाव से प्रतिष्ठापित थे। वैदिक युग ने कभी नहीं सोचा होगा कि पुरुष नारी के प्रति नारी ज्ञान का शत्रु बन जायेगा। ज्ञान का शत्रु व्यभिचार में लिप्त हो जायेगा। पुरुष के ज्ञानस्वरूप स्त्रियाँ समाज में कम होती गई। आज वस्तु स्थिति यह है कि भारत में 2011 के जनगणना के अनुसार प्रति 1000 पुरुषों पर 940 स्त्रियाँ ही रह गई हैं। राज्यों में यह आँकड़ा देखा जाय तो स्थिति और भयावह है। उदाहरण के लिए दमन और दीव में प्रति हजार पुरुष पर 618 स्त्रियाँ, हरियाणा में 877 स्त्रियाँ, पंजाब में 893 स्त्रियाँ, जम्मू कश्मीर में 883 स्त्रियाँ चण्डीगढ़ में 818 स्त्रियाँ हैं।

आज समाज में स्त्रियों के प्रति बढ़ता दुराचार पुरुष की विकृत मानसिक अवस्था का परिचायक है। अभी हाल में कुछ दुर्घटनाओं ने सम्पूर्ण विश्व का ध्यान अपनी ओर खींचा — चाहे वह दिल्ली का दामिनी केस हो या उ०प्र० में बदायूँ काण्ड। ऐसे खबरों से समाचार पत्र भरे रहते हैं। यह परिस्थिति केवल भारत में नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में है। समाज में व्याप्त इन समस्याओं के निदान के लिए औपनिषदिक दर्शन के पुर्नव्याख्या की आवश्यकता है। उपनिषद् साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की अलौकिक प्रज्ञा की बहुमूल्य ज्ञाननिधि है। वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग के रूप में विद्यमान उपनिषद् मूलतः ज्ञानपरक और मोक्षपरक है। उपनिषदों में ही वेद का सर्वोत्कृष्ट सारतत्त्व और प्रधान लक्ष्य निहित है।

उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक षदलृ विशरणगत्यवसादनार्थक धातु से क्विप् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। जिससे ईश्वर का सामीप्य प्राप्त हो और उसके साथ तादात्म्य स्थापित हो तो वह विद्या 'उपनिषद्' कहलाती है।

---

* शोधच्छात्र, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गङ्गानाथ झा परिसर, आजाद पार्क, इलाहाबाद

'उप-ब्राह्मणः सामीप्यं जीवं निःसंशयं सादयति गमयति सा उपनिषद् वा

उपजातम् अनादिकालात् प्रवृत्तं आत्मसंसारसम्बन्धं नितरां सादयति अवसादयति या सा उपनिषद्।

मुख्यतः 'उपपनिषद्' शब्द ब्रह्मविद्या का वाचक है। यह ब्रह्मविद्या तीन प्रकार से कार्य करती है।

1. संसार तामतिं सादयति।

2. प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा।

3. अज्ञानं सादयति उन्मूलयतीति वा।

इस समय भारतीय संस्कृति की दीपशिखा ऐसी उपनिषद् ज्ञानालोक से संसार के कश्मलमय तम को हटाकर सम्पूर्ण जगत् को सन्मार्ग की ओर भेजने में समर्थ हैं। उपनिषदों की संख्या 108 से लेकर 200 मानी जाती है। शंकराचार्य द्वारा जिन 11 उपनिषदों—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतरोपनिषद् पर भाष्य लिखे गये, वहीं अत्यन्त प्राचीन मानी गयीं हैं। उपनिषद् वाङ्मय में ऋषि मनीषा ने ब्रह्म की कल्पना स्त्री और पुरुष दोनों में करते हुए कहा है कि ब्रह्म ही स्त्री है और ब्रह्म ही पुमान् है। ऋषियों ने श्वेताश्वरोपनिषद् में पुमान् से पूर्व स्त्री को स्थान देकर उनके आध्यात्मिक एवं सामाजिक महत्त्व को दर्शाते हुए कहा है—**त्वं स्त्री त्वं पुमानसि।**[1] उपनिषद् युग में जाया पुरुष की आत्मा का आधा भाग थी। पारिवारिक जीवन में स्त्री गृहिणी, जननी एवं सहचरी के रूप में समादरणीय थी। स्त्री-पुरुष की शरीरार्द्ध और अर्द्धांगिनी मानी जाती थी। समाज में पुरुष स्त्री से पूर्णता को प्राप्त करता था। इस सन्दर्भ में वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—**अयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव।**[2] छान्दोग्योपनिषद् में पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध वागर्थाविव से बताते हुए कहा गाय है कि वाक् को स्त्री रूप में और प्राण को पुरुष रूप में कल्पित कर ऋषियों ने उनके परस्पर मिलन से ही 'अक्षर उद्गीथ' की उत्पत्ति मानी है—**तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे स-सृज्यते यदा वै। मिथुनौ। समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्।।**[3]

उपनिषद् काल में नारी का माता के रूप में स्थान अग्रगण्य था। वही गर्भधारण कर शिशु को जन्म देकर उसका संपोषण और संवर्द्धन करती थी। वह वीर पुत्रों की जन्मदात्री के रूप में भी सर्वोपरि स्थान की अधिष्ठात्री थी जबकि समाज पितृसत्तात्मक था। 'पंडिता दुहिता' की कामना उस युग में मनुष्यों द्वारा होने लगी थीं, क्योंकि वृहदारण्यकोपनिषद् में 'पंडिता दुहिता' प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट गर्भाधान संस्कार का उल्लेख मिलता है—**अथ-य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्टमन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै।।**[4]

उपनिषद् युगीन स्त्रियों की शैक्षणिक स्थिति उत्कर्ष पर थी। ऋग्वैदिक युग की भाँति इस युग में भी स्त्रियाँ पुरुष के सदृश ही ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्यार्जन करती थी—**ब्रह्मचर्येण कन्या विन्दते युवानम् पतिम्।**[5]

अतः ज्ञात होता है कि शिक्षित होने पर ही कन्याओं का विवाह होता था। उपनिषद्-युग में स्त्रियाँ मन्त्रद्रष्टा नहीं थी परन्तु वे ब्रह्मवादिनी और ब्रह्मवदनशीला थीं। कुछ कन्याएँ शिक्षा ग्रहण कर गार्गी की भाँति विवाह न कर ब्रह्मवादिनी के रूप में जीवन-यापन करती थी, तो कुछ विवाह के बाद मैत्रेयी जैसी

ब्रह्मवदनशीला नारियाँ भौतिक मार्ग को त्यागकर आध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होती थीं। स्त्रियों को विद्वत्सम्मेलनों, संवादों तथा वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में पुरुषों के समान भाग लेने का समान अधिकार था। वृहदारण्यकोपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क्य संवाद से यह स्पष्ट होता है—**अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति।**[6] उपनिषद् वाङ्मय में ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू दो प्रकार की स्त्रियों का वर्णन है—**अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी। च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञेव तर्हि। कात्ययायन्यथ। ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुप्पकरिष्यन्।**[7]

उपनिषद् युग में स्त्रियों के लिए संगीत, नृत्य और चित्रकारी करना मनोरंजन के साधन थे। साम मन्त्रों का स्वरमय गायन अति प्राचीनकाल से स्त्रियों का ही विशिष्ट कार्य माना जाता था। **पत्नीकर्मेव र्वे तेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातारः।**[8] कौषीतकि उपनिषद् में अप्सराओं के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि स्त्रियाँ अलंकरण एवं प्रसाधन में सिद्धहस्त होती थीं—**तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति शतं फलहस्ताः शतमाञ्जनहस्ताः शतं मात्यहस्ताः शतं वासोहस्ताः शतं चूर्णहस्तास्तं ब्रह्मपालं कारेणालंकुर्वन्ति।**[9]

उपनिषद्-युग में पत्नियों का पति की सम्पत्ति में अधिकार होता था। वृहदारण्यकोपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रव्रज्या लेने से पूर्व अपनी संपत्ति का विभाजन उत्तराधिकारी (पुत्र) के न होने के कारण अपनी दोनों पत्नियों कात्यायनी और मैत्रेयी में करने का संदर्भ भी मिलता है—**मैत्रेयीति होवस्व याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात्। स्थानादिस्य हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति।।**[10] तैत्तिरीयोपनिषद् में माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता का दर्जा दिया गया है—**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।**[11]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् युग में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त गौरवपूर्ण और सम्मान्य थी। स्त्री और पुरुष मानव जीवन की गाड़ी के दो चक्र थे। पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध 'वागर्थाविव' था।

वर्तमान युग में स्त्रियों की स्थिति को और अधिक उन्नत बनाने के लिए मेरी दृष्टि में कुछ सुधार अपेक्षित हैं—

* सांप्रदायिक चश्मों को उतारकर नैतिक शिक्षा के उत्स उपनिषदों, स्मृतियों, आरण्यकों को शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर पाठ्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए।
* लिंग-असमानता को घटाने के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर समाज में जागरूकता कार्यक्रम चलाना चाहिए।
* सरकार द्वारा रेडियो, टीवी पर नैतिक शिक्षा से जुड़े कार्यक्रम का प्रसारण अधिक मात्रा में सुनिश्चित करना चाहिए।
* दण्ड की लचर व्यवस्था को कठोर करना चाहिए, जिससे अपराधी-प्रवृत्ति के व्यक्तियों में दण्ड का भय व्याप्त हो।

* हालाँकि दामिनी कांड के बाद सरकार जागी है, कुछ कठोर नियम बनाये गये हैं, बलात्कार के केस में फास्ट ट्रैक कोर्ट की स्थापना की गई।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जहाँ मानव आत्मकेन्द्रित होता जा रहा है, सर्वत्र नैतिकता का क्षरण दिखाई देने लगा है एवं सामाजिक सौमनस्य, उदारता आदि नैतिक मूल्यों का दिनों-दिन ह्रास होता जा रहा है, वहाँ उपनिषदों में निहित 'स्त्री-विमर्श' आशा की किरण सिद्ध हो सकते हैं। ये समाज के एक प्रतिशत लोग भी यदि उपनिषद्-वाङ्मय के आदर्श को व्यवहार में लाकर पथ-भ्रष्ट होने से बच जाते हैं, तो इन चिरप्रदीप्त, ज्ञानदीपक उपनिषदों की सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वभौमिक उपादेयता निर्विवादित रहेगी।

सन्दर्भ

1. श्वेताश्वतरोपनिषद्— 4-3
2. वृहदारण्यकोपनिषद्— 4-3
3. छान्दोग्योपनिषद्— 1-1-6
4. वृहदारण्यकोपनिषद्— 6-4-17
5. शतपथब्राह्मण— 5-2-1/10
6. वृहदारण्यकोपनिषद्— 3-8-1
7. वृहदारण्यकोपनिषद्— 4-5-1
8. शतपथ ब्राह्मण— 14-2-1/35
9. कौषीतकि उपनिषद्— 1-4
10. वृहदारण्यकोपनिषद्— 4-5-2
11. तैत्तिरीयोपनिषद्— 1-11

सहायक ग्रन्थ

1. एकादशोपनिषद्— डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार— विजयकृष्ण लखनपाल, दिल्ली, तृतीय संस्करण— 1979
2. उपनिषद् युगीन संस्कृति— संपादक— डॉ० वेदवती वैदिक, प्रकाशक—नागपब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण— 2003
3. उपनिषद् कालीन समाज एवं संस्कृति— डॉ० राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी, प्रकाशक—परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण— 1983
4. उपनिषद् प्रकाश— सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार प्रकाशक— संस्कार प्रकाशन, दिल्ली, 2000 ई०

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 139-143

संस्कृत वाङ्मय में विश्वशान्ति की परिकल्पना–एक विमर्श

डॉ० शिव प्रसाद अग्निहोत्री*

विश्व बिरादरी के देश वैश्विक रङ्ग–मंच एक पात्र की तरह होते हैं तथा अपने को राष्ट्रिय हित के सम्वर्धन में लगाए रहते हैं। इन राष्ट्रिय हितों के बीच ही अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्ध स्थापित होते हैं। जो राष्ट्र अपने राष्ट्रिय हितों को येन–केन–प्रकारेण अपने राष्ट्रिय हितों की सुरक्षा करते हैं वे शक्ति में विश्वास करते हैं, तथा अन्ताराष्ट्रिय राजनीति शक्ति के लिए एक संघर्ष मानते हैं। इसके विपरीत वैश्विक परिदृश्य में कुछ ऐसे देश हैं जो विश्व शान्ति के समर्थक होते हैं और शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व में विश्वास करते हैं। ये देश प्रायः आक्रमणकारी नहीं हैं बल्कि आक्रमण को रोकने के लिए प्रतिरोध करते हैं। वैश्विक मानवाधिकार एवं विकास के परिप्रेक्ष्य में सोचें तो विश्व शान्ति ही एक सुगम मार्ग है। इतिहास साक्षी है किसी भी अन्ताराष्ट्रिय समस्या का समाधान बात–चीत द्वारा शान्ति पूर्ण तरीके से सिद्ध होते हुए देखा गया है। अन्ताराष्ट्रिय राजनीति के बहुत सारे विद्वानों का मानना रहा है कि शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व अर्थात् '**जीओ और जीने दो**' के आधार पर भी विश्व का कल्याण हो सकता है। यदि हम भारत के परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह बुद्ध और गाँधी का देश शान्ति का पक्ष–पोषण करते हुए दिखा है। वास्तव में बुद्ध, अशोक और गाँधी जैसी दैवीय आत्माओं में शान्ति का प्रस्फुटन यहाँ के पर्यावरण से ही हुआ है और प्राचीन भारत का बौद्धिक समाज यहाँ के संस्कृत वाङ्मय से प्रभावित रहा है, जिसमें शान्ति के संदेश एवं शान्ति के उद्घोष प्रचुरता से विद्यमान हैं। आज हम एक बार पुनः विश्व शान्ति के उन संदेशों को प्रमुखता से रखने की कोशिश करेंगे जिससे कि विश्व की शान्ति एवं विश्व का कल्याण बहाल हो सके।

संस्कृत वाङ्मय समग्र विश्व हेतु शुभ विचारों के लिए सन्देश देता है जिससे विश्व शान्ति की परिकल्पना साकार हो सके—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन् अप्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे।।[1]

ऋग्वेद संस्कृत वाङ्मय का आधार ग्रन्थ है। ऋग्वेद मानव कल्याण एवं मानव मूल्यों का मानक ग्रन्थ माना जाता है। 'ऋतम्' शब्द ऋग्वेद में एक ऐसा शब्द है जो जन कल्याण की पहली ऋचा के नाम से वर्णित है। संस्कृत वाङ्मय विश्व का एकमात्र ऐसा वाङ्मय है जो मानव कल्याण एवं विश्व कल्याण का अनुपम भण्डार है। मानव को सभ्य, सुसंस्कृति एवं संस्कारवान् बनाने के लिए संस्कृत वाङ्मय का

* एसो० प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, डी०बी०एस० (पी०जी०) कॉलेज, कानपुर

सर्वतोन्मुखी योगदान है। मानव, समाज, राष्ट्र एवं विश्व कैसे सुखी और स्वस्थ रहे तथा किसी अन्य के सुखों को बाधित न करते हुए प्रगति पथ पर कैसे चला जाये इसका दिशा-निर्देश हमें संस्कृत वाङ्मय में पदे-पदे प्राप्त होता है। वेद अपौरुषेय हैं और पृथ्वी पर प्राणि जीवन के आदि ग्रन्थ हैं, किन्तु सहस्रों वर्षों पूर्व रचित वेद और परवर्ती साहित्य आज ह्रास होते हुए भी मानव मूल्यों के संजीवनी का कार्य करते हुए विश्व शान्ति के मार्ग को प्रशस्त कर रहे हैं। ऋग्वेद में सामाजिक सद्बुद्धि की प्रार्थना की गई है जिससे समाज विकास कर सके। इस हेतु इन्द्र, वायु एवं बृहस्पति का आवाहन किया गया है, जिससे शक्ति, उन्नति एवं ज्ञान तीनों का समन्वित एवं विकसित रूप समाज में दृष्टिगोचर हो सके—

इन्द्रवायु बृहस्पतिं, सुहवेह हवामहे।

यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असत्।।[2]

आज की संस्कृति जहाँ व्यक्ति को केवल अधिकाधिक सुख सुविधाओं की ओर उन्मुख कर रही है। आज का नवजवान अपने माता-पिता को एक बोझ समझता है और उनसे मुक्ति हेतु या तो उन्हें वृद्धाश्रम की राह दिखाता है या फिर अपने ही घर में एक उपेक्षित जीवन जीने को विवश कर देता है वहीं हमारी संस्कृति माता-पिता तो दूर की बात है अपितु गाय तक को माता मानते हुए सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की कामना करता है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद का संदेश है—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु, स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।

विश्वं सुभूतं सुविदितं नो अस्तु, ज्योगेव दृशेम सूर्यम्।।[3]

महर्षि मनु का भी वृद्धों की सेवा करने से व्यक्ति की आयु, विद्या, यश और बल में वृद्धि होती है ऐसा कथन है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्धर्मो यशोबलम्।।[4]

आधुनिक संस्कृति अनीश्वरवादी और भोगवादी संस्कृति की पोषक संस्कृति है, यह केवल वर्तमान में जीना पसन्द करती है और अल्प समय में ही धनार्जन करके सबकुछ पाने की इच्छा बलवती रहती है। धन चाहे किसी भी माध्यम से प्राप्त हो। इनके लिए न तो कुछ ईश्वर है और न ही कुछ संस्कार। जबकि संस्कृत वाङ्मय इस सम्पूर्ण सृष्टि को परमात्मा की रचना मानता है और संसार को लिप्सा से विरत होकर भोगने की बात करता है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का मन्त्र द्रष्टव्य है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।''[5]

व्यक्ति का दृष्टिकोण व्यष्टिवादी न होकर समष्टिवादी होना चाहिए। अपने पराये की भावना नहीं होनी चाहिए तभी हम सुख से रह सकेंगे और दूसरों को सुख से रहने दे पायेंगे। जहाँ निजत्व की भावना पनपने लगती है वहाँ अन्य लोगों का जीवन बाधित होने लगता है, किन्तु संस्कृत वाङ्मय का उद्घोष हमें सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानने की सीख देता है—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेसाम्।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।[6]

सुखी और सात्त्विक जीवन के लिए व्यक्ति के कर्म उत्तरदायी होते हैं। आस्तिकता शुभ कर्मों हेतु प्रेरित करती है और अशुभ कर्मों से विरत रहने की शिक्षा देती है, क्योंकि कर्म मनुष्य की प्रगति और पतन का आधार है। सफलता और असफलता कर्म पर निर्भर करता है। जो कर्म ऋत के अनुसार है वह प्रगतिपथ पर अग्रसर करता है और अनृत कर्म पतनोन्मुखी बनाता है। अथर्ववेद का मन्त्र शुभ कर्म की ओर प्रेरित करता हुआ कहता है—

अकर्म ते स्वपसो अभूम, ऋतमवस्त्रन् उषसो विभातीः।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा, बृहद् वदेम विदथे सुवीराः।।''[7]

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता भी सत्कर्मों के महत्त्व का प्रतिपादन करती हुई कहती है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।[8]

समाज को दूषित करने और वैमनस्यता की पुष्टिता में कटु वचनों की महती भूमिका होती है। कटाक्ष, दुर्वचन और कटुवचन ये समाज की सद्भावना को नष्ट करते हैं, अतः समाज की व्यवस्था की सुरक्षा हेतु कटुवचन सर्वथा त्याज्य माने जाते हैं। अतः किसी भी परिस्थिति में कटुवचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऋग्वेद का ऋषि दुर्वचनों का प्रयोग न करने के लिए प्रेरित करता हुआ कहता है—**चतुरश्चिद् ददमानाद्, विभीयादा निधातोः। न दुरुक्ताय स्पृहयेत।।''**[9] इसी प्रकार आचार्य चाणक्य ने भी कटुवचनों की घोर निन्दा करते हुए कहा है— **''अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम्।''**[10] अर्थात् आचार्य चाणक्य कटुवचनों को अग्निदाह से भी अधिक दुःखदायी मानते हैं। जब हमारा समाज ईर्ष्या, कलह, वैमनस्यता, मनोमालिन्यता से पृथक् हो तभी स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है। समाज के सभी वर्ग परस्पर एक दूसरे के हितों की रक्षा में रत हों, द्वेषभाव से दूर हों। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों के उत्सर्ग के लिए उद्यत रहती है, ठीक उसी प्रकार हम एक दूसरे की रक्षा में सन्नद्ध रहें। परस्पर प्रेमभाव रहे तथा मिलजुल कर सुखी और स्वस्थ समाज का निर्माण करें। अथर्ववेद एवं ऋग्वेद में ऋषि कहता है—

सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाध्न्या।।[11]
अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं पबिधमानः।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमांसं परि पातु विश्वतः।।[12]

आज जातिभेद, लिंग भेद, धर्मभेद के कारण समाज में चारों ओर विघटन दिखाई देता है जिसके कारण आतंकवाद नक्सलवाद जैसी घटनाएँ आये दिन घटित होती रहती हैं। सत्ता की चाह के कारण ये भेद समाप्त होने के स्थान पर और अधिक वृद्धि को प्राप्त करते जा रहा हैं। ऐसे विषम समय में हमारा संस्कृत वाङ्मय हमें परस्पर मिलकर चलने, मिलकर सोचने एवं मिलकर प्रगति करने की शिक्षा देता है और साथ ही किसी भी प्रकार का भेदभाव किए बिना संगठित होकर जीने एवं समान भाव से सोचने की ओर निर्देश

करता है क्योंकि जहाँ विचारों में साम्यता होगी, वहाँ लक्ष्य निश्चित रुप से प्राप्त होगा और जहाँ विचारों में असमानता होगी वहाँ लक्ष्य एक होने पर भी सफलता प्राप्त नहीं होती है ऐसे जीवन मूल्यों एवं शान्ति से हमारा संस्कृत वाङ्मय ओत-प्रोत है। कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं—

संगच्छध्वं संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।[13]

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।[14]

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[15]

इस प्रकार से संस्कृत वाङ्मय के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय जीवन मूल्यों से अभिप्लावित है। यह अलग बात है कि हमने उसकी व्याख्या अपने-अपने मतानुसार की है। वास्तविकता तो यह है कि संस्कृत वाङ्मय एक भी स्थल पर अस्पृश्यता, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब का भेद प्रकट नहीं करता है। वह तो इन बुराइयों से ऊपर उठकर मानव को परमात्मा की अनुपम कृति मानते हुए प्रत्येक मानव को एक ही दृष्टि से देखता है। वर्ण भेद मानव की योग्यतानुसार करता है न कि जाति के अनुसार। संस्कृत वाङ्मय मात्र अपने कल्याण की बात नहीं करता है अपितु वह तो सम्पूर्ण विश्व का हित चिन्तक है तथा विश्व के कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे! सृष्टिकर्त्ता हमारे दुर्गुणों को दूर करके सम्पूर्ण विश्व का कल्याण कीजिए—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव।।[16]

आज कोई एक राष्ट्र आतंकवाद से ग्रसित नहीं है बल्कि सम्पूर्ण विश्व माओवाद, नक्सलवाद, उल्फा, लिट्टे तथा अन्य अलगाववादी ताकतें विश्व की शान्ति में ग्रहण लगाते हैं। इनके हमले से ऐसे बेगुनाह मारे जाते हैं जिनसे उनका कोई सरोकार नहीं होता है। आज दुनिया में शान्ति इतनी प्रासंगिक हो गई है जैसे मानो सामाजिक जीवन की जीवन रेखा है। विश्व शान्ति ही समाज को नई दिशा दे सकती है जिसमें हम रहकर स्वयं विकसित हो सकते हैं साथ में राष्ट्र भी तरक्की कर सकता है। वास्तविकता है कि प्रत्येक मानव को अमन चैन पसन्द है। किन्तु हमारी सरकारें जब समस्या का निरपेक्ष भाव से समाधान नहीं ढूँढ़ पाती हैं तो यह हिंसक ताकतें संसार एवं समाज के लिए विकराल रूप धारण कर लेती हैं। इन्हीं सब परिस्थितियों से निकलने के लिए उपर्युक्त प्रकार से संस्कृत संहिताओं का एक शोधपरक अनुष्ठान रखा गया है जिसका अनुशीलन हमें सद्मार्ग पर ले जा सकता है। यदि विश्व का एक भी व्यक्ति इससे लाभान्वित हो जाता है तो मैं समझूंगा कि यह शोधपरक अनुष्ठान अत्यधिक प्रासंगिक है। आज 21वीं सदी युवा वर्ग वासनात्मक एवं कुविचारों का जिस प्रकार शिकार हुआ है उस सन्दर्भ में मैं दावे से कह सकता हूँ कि यह शोध पत्र परम उपयोगी होगा। हमारा संस्कृत वाङ्मय व्यक्ति समाज, राष्ट्र एवं विश्व की शान्ति एवं हित की बात करता है। अन्त में मैं तो यही कहना चाहूँगा कि परस्पर सभी भेदभावों को दूर करके संस्कृत वाङ्मय में निहित जीवन मूल्यों पर आधारित जीवन-यापन ही हमें एवं विश्व को सुखी रख सकता है। इसलिए निर्विवाद रूप में हमें संस्कृत वाङ्मय को अपनाना चाहिए जो वर्तमान में अतीव प्रासंगिक है तभी हम

स्वस्थ व्यक्ति, स्वस्थ समाज, स्वस्थ राष्ट्र एवं स्वस्थ विश्व की कल्पना कर सकते हैं। यहाँ संस्कृत वाङ्मय की यह कामना समीचीन प्रतीत होती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।।

'इति शम्'

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. यजुर्वेद— 25 - 14
2. ऋग्वेद— 10 - 141 - 4
3. अथर्ववेद— 1 - 31 - 4
4. मनुस्मृति— 2 - 121
5. यजुर्वेद— 40 - 1
6. हितोपदेश (मित्रलाभ) श्लोक संख्या— 71
7. अथर्ववेद— 18 - 3 - 24
8. श्रीमद्भगवद्गीता— 2 - 40
9. ऋग्वेद— 1 - 41 - 9
10. चाणक्यसूत्र— 75
11. अथर्ववेद— 3 - 30 - 1
12. ऋग्वेद— 6 - 75 - 14
13. तैत्तरीयब्राह्मण— 2 - 4 - 4 - 4
14. अथर्ववेद— 6 - 64 - 2
15. ऋग्वेद— 10 - 191 - 4
16. यजुर्वेद— 30 - 3

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -144-146

मनुस्मृति में निहित स्त्रियों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सम्प्रति आवश्यकता

सतीश प्रताप सिंह*

संस्कृत वाङ्मय रूपी क्षीर सागर से उद्भूत स्मृति साहित्य धन्वन्तरि है, कल्पवृक्ष है कामधेनु है और यदि कहा जाये तो कुछ अंशों में वह अमृत है। स्मृति साहित्य का अपर नाम धर्मशास्त्र है। वस्तुतः धर्मशास्त्र में विभिन्न जातियों के आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित का ज्ञान होता है। धर्मशास्त्र ग्रन्थों में मनुस्मृति समादरणीय है। मनुस्मृति एक आचारांग शास्त्र है, जिसमें समाजोपयोगी धर्म, नैतिक कर्त्तव्य, आचरण आदि का वर्णन है। स्मृतियों का अध्ययन करके मनुष्य अपने को पापमुक्त करता है। कहा भी गया है—''**शारीरिक एवं मानसिक सभी प्रकार के मैल को दूर करना स्मृतियों का मुख्य उद्देश्य है।**''[1]

मनुस्मृति एक मानवशास्त्र है जिसमें समाज की एक आदर्श कल्पना विद्यमान है। मनु ने स्त्रियों के कर्त्तव्यों का विशद् विवेचन किया है। वैदिक आर्यों की दृष्टि में नारी को धर्म और अर्थ की प्रदात्री वैभव और सौख्य की जननी गृह लक्ष्मी रूपा और सर्वपूज्या समझा जाता था। महर्षि मनु ने कहा है कि जहाँ नारियों का आदर एवं सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं। जहाँ उनको अपमान एवं अनादर की दृष्टि से देखा जाता है, वहाँ सभी क्रियायें निष्फल सिद्ध होती है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।[2]

महर्षि मनु पुरुष और स्त्री में भेद नहीं मानते हैं वे कहते हैं कि स्त्री अपना देह और संतान ये तीनों मिलकर पुरुष होता है। जो भर्ता है वही भार्या है इन दोनों में कुछ भेद नहीं है—

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा वैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना।।[3]

स्त्री के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण संस्कृत साहित्यशास्त्र में हुआ है। 'यथा गुण तथा नाम' इस श्रुत्यनुसार इसे अबला जाया, योषा, दुहिता, प्रमदा, माता, भार्या और स्त्री आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। महर्षि मनु ने स्त्रियों को सर्वदा सम्मान श्रद्धा और सर्वोच्चता प्रदान की है। उन्होंने स्त्रियों को घर की स्वामिनी देवी गृहलक्ष्मी आदि विशेषणों से भूषित किया है। सम्प्रति युग में स्त्रियों के सम्मान में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। विभिन्न पदों पर स्त्रियों को आरक्षण प्रदान किया जा रहा है किन्तु स्त्रियों के सम्मान में जहाँ वृद्धि हुई है वहीं घरेलू हिंसा के मामलों में भी वृद्धि हुई है। स्त्रियाँ–पुरुष प्रधान समाज में उच्चता

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

की द्योतक सिर्फ नाम मात्र की हैं। घरेलू हिंसा में कहीं पुरुष जिम्मेदार है तो कहीं स्त्रियाँ इसके लिए स्वयं जिम्मेदार हैं क्योंकि उनके द्वारा कर्त्तव्यों का उचित पालन न करने पर कलह उत्पन्न होती है। महर्षि मनु ने स्त्रियों के कर्त्तव्यों की चर्चा की है जिसमें स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त हो सके। वे स्त्रियों को आवश्यकतानुसार सुख प्रदान करने की आवश्यकता पर बल देते हैं।[4] महर्षि मनु स्त्रियों को सुरक्षा एवं पवित्रता के लिए पुरुषों के अधीन होकर रहने की आज्ञा दी है। यथा—

बालया व युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता।
न स्वातन्त्रयेण कर्त्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि।।
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतत्रन्ताम्।।
पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले।।[5]

अर्थात् बचपन हो, जवानी हो अथवा बुढ़ापा हो, स्त्री को अपने घरों में भी अपनी इच्छा से स्वतन्त्र होकर (क्रमशः पिता, पति और पुत्र आदि की आज्ञा लिए बिना) कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। बाल्यावस्था में वह पिता के अधीन, युवावस्था में पति एवं पति के मर जाने पर पुत्रों के अधीन रहे परन्तु स्वतन्त्र कभी न रहे क्योंकि इनसे अलग रहने से पितृकुल और पतिकुल दोनों के कलङ्कित होने की सम्भावना है। पुरुष के बिना स्त्रियों के असुरक्षा की आशंका बनी रहती है। इसलिए महर्षि मनु पुनः कहते हैं कि—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने
रक्षन्ति रथविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।[6]

अर्थात् स्त्री की रक्षा बचपन में पिता करता है, युवावस्था में पति, वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता का विरोध उनकी भलाई के लिए था। महर्षि मनु ने स्त्रियों को सुझाव दिया कि वे आत्म नियन्त्रण से बुराइयों से बच सकती हैं।[7] मनु स्त्री और पुरुष में समदर्शी हैं उन्होंने स्त्री और पुरुष को ऐसे सुझाव दिये हैं जिनसे स्त्री को पुरुष के अधीन रहने की प्रवृत्ति निर्मूल सिद्ध होती है जैसे—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं व मानवाः।
तस्मात्साधरणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः।।[8]

अर्थात् गर्भधारण करने के लिए स्त्रियों की तथा गर्भाधान करने के लिए पुरुषों की सृष्टि हुई। विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों को पत्नी सहित करने का विधान किया गया है। सम्प्रति युग में स्त्रियों में घरेलू कलह के कारण उन पर हिंसा हो रही है। यह हिंसा विशेषकर कर्त्तव्य निर्वहन न करने के फलस्वरूप ही जन्म लेती है इसलिए मनु ने स्त्रियों के कर्त्तव्यों को बताते हुए कहा है।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया।।[9]

अर्थात् स्त्री को सर्वदा प्रसन्न, गृहकार्यों में चतुर, घर के बर्तन आदि को शुद्ध एवं स्वच्छ रखने वाली

और मितव्ययी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पति की सेवा शुश्रूषा करते हुए पतिव्रत धर्म को धारण करना चाहिए।[11] पति आज्ञा के बिना यज्ञ, तीर्थ, व्रत, सत्संग आदि नहीं करना चाहिए।[10] स्त्रियों को पति के अनुकूल आचरण करना चाहिए भले ही उसका पति विभिन्न गुणों से रहित हो।

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्वया सततं देववत्पतिः।।[11]

मनु ने स्त्रियों को कुछ दुर्व्यसनों से दूर रहने का भी सुझाव दिया है। जिससे घरेलू-हिंसा से बचा जा सकता है। वे दुर्व्यसनों की चर्चा करते हुए कहते हैं—मद्यपान करना, दुर्जनसंसर्ग, पति के साथ विरह, इधर-उधर घूमना असमय में सोना और पराये घर में निवास करना, यह छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण है।[12] जिनसे बचकर स्त्रियाँ अपना जीवन सम्यग् रूप से स्वतंत्र होकर बिता सकती हैं। अतः हम कह सकते है कि मनु ने स्त्रियों को समाज में ऊँचा स्थान देने साथ-साथ पूजा योग्य बताया है। उन्होंने स्त्रियों के जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य बताये हैं उसका पालनकर स्त्रियाँ आदर्श मार्ग पर चलकर समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर कर सकती हैं। समाज में होने वाले स्त्रियों के ऊपर जो हिंसात्मक प्रवृत्ति है उसे भी सरलता के साथ रोका है। स्त्रियों को भारतीय संस्कृति के **भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा** आदि सूक्तिपरक वाक्यों का परिपालन करते हुए अपने को श्रेष्ठ बनाकर समाज में विकृतियों को दूर करने का प्रयास भी करना चाहिए जो मनुस्मृति में पूर्णतः परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ-सूची

1. स्मृति सन्दर्भ चतुर्थभाग, भूमिका
2. मनुस्मृति-3/56
3. मनुस्मृति - 9/45
4. मनुस्मृति 3/59
5. वही 5/147-149
6. वही 9/3
7. वही 9/10
8. वही 9/96
9. वही 5/150
10. वही 5/155
11. वही 5/154
12. वही 9/13

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -147–149

उपनिषदों में पर्यावरण समालोचन

डॉ. दीप्ति वाजपेयी*

वेद अनन्त ज्ञानराशि है तो उपनिषद् उनका सार है। वेद ब्रह्म की प्रतिष्ठा करने वाले हैं तथा उपनिषद् ब्रह्मविद्या, ब्रह्मविज्ञान का कोश है जिसकी सीमा ''**अणोरणीयान्–महतोमहीयान्**'' तक है। भौतिक सृष्टि से लेकर आध्यात्मिक संकल्पना तक वैज्ञानिक तथा क्रमिक विकासात्मक स्वरूप का विलक्षण विधि से विश्लेषण उपनिषदों की विशिष्ट उपदेश शैली है। उपनिषद् भारतीय चिन्तन के शिखर ग्रन्थ हैं। वस्तुतः पर्यावरण चेतना का समुचित विकास उपनिषद् ग्रन्थों में प्राप्त होता है इन ग्रन्थों की प्रणयन कालीन पृष्ठभूमि अत्यन्त पवित्र, सुसंस्कृत शिष्ट व शालीन रही है तथा प्राकृतिक परिवेश अत्यन्त धवल, निर्मल व स्वच्छ होने के कारण उपनिषदों में पर्यावरण–प्रदूषण की चर्चा नहीं की गई है वरन् वे एक ऐसे सुसमृद्ध प्राकृतिक परिवेश को उपस्थित कर देते हैं जो मुग्ध कर देने वाला है। वस्तुतः मानसिक प्रदूषण, जो मानव की पर्यावरण चेतना को कलुषित करते हैं, उसको तपस्या व समाधि के बल से आध्यात्मिक परिलब्धियों को प्राप्त करना उपनिषद् ग्रन्थों का प्रधान लक्ष्य है।

कठोपनिषद् के अनुसार यह ब्रह्माण्ड एक सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिसकी जड़े तो ऊपर है किन्तु शाखाएँ नीचे फैली है। जीव, जगत् और ब्रह्म सभी अश्वत्थ में समाश्रित है। इसके बाहर कुछ भी नहीं है।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्योति कश्चन।[1]

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार प्रकृति से समस्त तत्त्व परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। सर्वप्रथम परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है। आकाश से वायु उत्पन्न हुई। वायु से अग्नि उत्पन्न हुई। अग्नि से जल उत्पन्न हुआ तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी से औषधियाँ प्रकट हुई, औषधियों से अन्न प्रादूर्भूत हुआ और अन्न से पुरूष की उत्पत्ति हुई–**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अदभ्यः पृथ्वी। पृथव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात् पुरूषः।**[2] इस प्रकार पंचमहाभूतों की अवस्थिति परमात्मा और पुरूष के मध्य महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में है। यही वह सेतु है जो दोनों को जोड़ता हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में पृथ्वी, जल, वायु और आदित्य प्रभृति को सभी भूतों का मधु (रमणीय सारतत्त्व) बतलाया गया है–**इयं पृथ्वी सर्वेषां भूतानां मधु।**[3] तत्कालीन ऋषि संघर्ष के स्थान पर संतुलन बनाए रखने के लिए सर्वात्मभाव की प्रतिष्ठा करते हुए समस्त में एक ही चैतन्यमयी सत्ता की अनुभूति करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह मन्त्र साक्षी है कि अग्नि, जल, वनस्पति तथा विश्व

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कु० मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर।

के अन्य प्राकृतिक तत्त्वों में एक ही महाचेतना अनुस्यूत है–

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
यो ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः।[4]

मुण्डकोपनिषद् में भी **सर्वं इदं ब्रह्म** की घोषणा करके प्राकृतिक तत्त्वों को स्तुत्य मानकर उसे अक्षुण्ण रखने की अनुगूँज सुनाई देती है–

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च यैनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्माः।[5]

यज्ञ योजना में भी वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक पर्यावरण की अनुरूपता का सदैव ध्यान रखा है। समस्त श्रौतयाग वस्तुतः प्रकृति के द्वारा अनवरत क्रियमाण निसर्गयज्ञ के अनुकरण ही हैं। यज्ञ का पर्यावरण चेतना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यज्ञ–धूम से वातावरण पवित्र हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है कि जब अग्नि भली–भाँति जलाई जा चुके और उसमें लौ उठने लगे, तब उसमें घी, सामग्री आदि की आहुतियाँ श्रद्धापूर्वक देनी चाहिए।[6] हव्य को जलाने वाली अग्नि हव्यवाहन अर्थात् हवि को सूक्ष्म करके वायुमण्डल में फैला देती है। इससे वायु शुद्ध होती है। रोग के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। खाद्य प्रदूषण वर्तमान पर्यावरण को प्रदूषित कर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर रहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न में ही जीते हैं अन्ततः अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। अन्न सभी भूतों में श्रेष्ठ हैं इसलिए उसे सर्व–औषधि कहा जाता है–

अन्माद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीं श्रिताः।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः।
अन्न हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते।[7]

उक्त मन्त्र का उद्घोष है कि अन्न मात्र उदर पूर्ति का साधन नहीं है वरन् धार्मिक सांस्कृतिक तथा पर्यावरणीय चेतना का अक्षय कोष है। अतः इसके माध्यम से अन्न के दुरूपयोग से विरत होने का आवाहन किया गया है।

जल के विशुद्धीकरण की अनिवार्यता को कठोपनिषद् में रथ रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार वर्षा का निर्मल जल यदि निर्मल जल में ही बरसता है तो वह तत्क्षण निर्मल हो जाता है उसमें न कोई विकार होता है न वह कहीं बिखरता है उसी प्रकार जो आत्म विषयक ज्ञान को भली– भाँति जान लेता है वह पर ब्रह्म पुरूषोतम स्वरूप हो जाता है–

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।[8]

उक्त मंत्र में शुद्ध जल का उदाहरण देते हुए परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है। किन्तु शुद्ध उदक स्वास्थ्य व जीवन हेतु कितना आवश्यक है यह संदेश भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया गया है।

वृक्ष और पक्षी हमारे पर्यावरण के प्रमुख तत्त्व हैं। वृक्षों व पक्षियों की निरंतर घटती संख्या पर्यावरण सन्तुलन को विखण्डित कर रही हैं। मुण्डकोपनिषद् के दार्शनिक धरातल पर ऋषि ने वृक्ष व पक्षी के सम्बन्ध का वर्णन किया है कि एक साथ दो सखाभाव रखने वाले पक्षी एक वृक्ष पर आश्रय लेकर रहते हैं।

उन दोनों में एक पक्षी पिप्पल वृक्ष का स्वाद लेकर उपभोग करता है तथा दूसरा निर्विकार भाव से बैठा रहता है। यहाँ पक्षी जीवात्मा व परमात्मा का प्रतीक है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तमोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[9]

पिप्पल वृक्ष सर्वाधिक ऑक्सीजन उत्पन्न करने वाला वृक्ष है। प्रतीकात्मक रूप से ही सही परन्तु आध्यात्म के साथ-साथ उक्त मंत्र पर्यावरण का जीवन से सम्बन्ध सिद्ध करता है। अतः उसका संरक्षण आवश्यक है। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है कि वृक्षों में भी जीवन की सत्ता है–**अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यय सा शुष्यति, द्वितीयां जहाम्त्यथ स शुष्यति, तृतीया जहात्यय सा शुष्यति, सर्व जहाति सर्वः शुष्यति।**[10] अर्थात् वृक्ष के प्रत्येक अंश में जीवन का स्पन्दन है जिस अंश से जीवन निकल जाता है वह सूख जाता है। वृहदारण्यकोपनिषद् में भी वृक्ष में जीवन दिखलाकर उसे पीड़ित न करने का निर्देश दिया गया है कि जिस प्रकार मनुष्य में त्वचा, रक्त, माँस व अस्थियाँ होती हैं तदैव वृक्ष में भी होती हैं। जैसे कहीं कट जाने पर मानव का रक्त बहता है वैसे ही वृक्ष को भी काटने पर पीड़ा होती है।[11]

वस्तुतः ईशावास्योपनिषद् का मंत्रोच्चारण–''**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**'' समस्त पर्यावरण चेतना का सार है। प्रकृति के संसाधन का सीमित व आवश्यक उपभोग ही मानव जीवन को अनन्त काल तक सुखोपभोग का मार्ग दिखाकर प्रकृति के प्रति कृतज्ञभाव को उत्पन्न कर उसे संरक्षण प्रदान कर सकता है।

संदर्भ-ग्रन्थ

१. कठोपनिषद्–२.३
२. छान्दोय उपनिषद्–२.१
३. छान्दोय उपनिषद्–२.५
४. श्वेताश्वतरोपनिषद्–२२.१७
५. मुण्डकोपनिषद्–२.९
६. वही–२.२
७. तैत्तरीयोपनिषद्, ब्रह्मनन्द वल्ली–२
८. कठोपनिषद् –२.१.१५
९. मुण्डकोपनिषद् –३.१
१०. छान्दोग्य उपनिषद् –६.११
११. वृहदारण्यकोपनिषद् ३.९.२.४

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 150-152

कवि क्षेमेन्द्र की धार्मिक मान्यताएँ

श्रीमती कनक लता यादव*

ख्यातिप्राप्त काव्यशास्त्री विद्वान् अभिनवगुप्त के शिष्य, ग्यारहवीं शताब्दी में कश्मीर के राजद्वय अनन्त तथा कलश के राज्यकाल में वर्तमान 'क्षेमेन्द्र' कवि एवं काव्यशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित हुए। केसर एवं कविता की सुगन्धि को प्रसारित करने वाले स्वयं को 'व्यासदासं' कहने वाले एवं औचित्य सिद्धान्त को जन्म देने वाले क्षेमेन्द्र ने लगभग 'चालीस' ग्रन्थों की रचना की है। उनके ग्रन्थ उपदेशों एवं नैतिकता से पूर्ण हैं। क्षेमेन्द्र एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार का सुख धर्म से ही मिल सकता है ऐसा वे मानते थे। अविद्या के गहन तिमिर से व्याप्त इस संसार में प्रकाश की रश्मि धर्म रूपी दिनकर से ही फूटती है। धर्म कर्मजोर की विवशता नहीं है। अपितु उसमें सभी प्रकार की विपत्तियों को दूर करने की क्षमता है। वह सत्पुरुषों की निधि तो है ही बन्धुहीन अर्थात् निःसहाय का सच्चा बन्धु तथा सदा साथ देने वाला विश्वास पात्र मित्र भी हैं। मरूस्थल के समान सभी प्रकार के अभावों से ग्रस्त इस संसार में यदि कोई तत्त्व ऐसा है जो कल्पवृक्ष के समान व्यक्तियों की हर प्रकार की अभिलाषाओं की पूर्ति कर सकता है, तो वह एकमात्र धर्म ही है—

धर्मः शर्म परत्र चेह च नृणां धर्मोऽन्धकारे रविः
सर्वा पत्त्रशमक्षमः सुमनसां धर्माभिधानो निधिः।
धर्मो बन्धुरबान्धवे पृथुपथे धर्मः सुहृन् निश्चयः
संसारोरूमरू स्थले सुरतरूर्नास्त्येव धर्मात् परः।।

—चतुर्वर्गसंग्रह 1/3

क्षेमेन्द्र का आदर्श धर्म में विश्वास, भाव एवं आशा है। उनका कहना है कि जन्म लेना पर मनुष्य न होना हेय है। बुद्धिहीन मनुष्य तो पशुओं से भी गया गुजरा है। बुद्धि विवेक पाकर भी उसका उपयोग न कर पाना भी एक प्रकार की विडम्बना ही है पर पाण्डित्यपूर्ण बुद्धिमान् मनुष्य यदि धर्महीन है तो उससे बढ़कर दूसरा अभागा और कोई हो नहीं सकता—

निन्द्यं जन्म प्रमोह स्थिरतर तमसां यन् मनुष्यत्वहीनं
बुद्धया हीनो मनुष्यः शुभफलविकलस्तुत्यचेष्टः पशूनाम्।
बुद्धिः पाण्डित्यहीना भ्रमति सदसतोस्तत्त्वचर्चा विचारे।
पाण्डित्यं धर्महीनं शुकसदृशगिरां निष्फलक्लेशमेव।।

—चतुर्वर्गसंग्रह 1.5

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कु. मायावती राजकीय महिला स्ना. महाविद्यालय, बादलपुर, गौतमबुद्धनगर

क्षेमेन्द्र की कल्पना है कि धर्मरूपी वृक्ष का **मूल शील** तथा **तना सत्य** है। **सत्त्विकता** ही उसका पल्लव है तथा कल्याणकारिणी बुद्धि लता के समान उससे लिपटी रहती है। इस वृक्ष का **सिंचन** जब करूणा रूपी पवित्र अमृत से होती है तो इसकी शान्ति रूपी छाया होती है और इस पर कुशल रूपी फूल खिलते हैं तथा श्री (सम्पदा) रूपी फल लगते हैं।

सत्यस्कन्धस्तरूणकरूणा पूतपीयूषसिक्तः
क्षान्तिच्छायः शुभमतिलतालङ्कतः शीलमूलः।
भूयात् सत्त्वप्रसवविलसत्पल्लवः पुण्यभाजां
धर्मः प्रोद्यत्कुशलकुसुमः श्री फलो मङ्गलाय।।

—चतुर्वर्गसंग्रह 1.1

मनुष्य को अपना वह दिन व्यर्थ मानना चाहिए जिस दिन उसने न किसी का हित किया हो या किसी की कुछ सहायता नहीं की अथवा विवश होकर उसे झूठ बोलना पड़ा हो। धर्म से उनका अभिप्राय सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा आदि आत्मीय गुणों से ही है। इनमें भी क्षेमेन्द्र अहिंसा को सर्वोपरि मानते हैं। उनका कहना है कि संसार का प्रत्येक प्राणी अपने प्राणों की रक्षा के लिए निरन्तर सचेष्ट रहता है। अपने प्राण ही उसे सबसे अधिक प्रिय होते हैं। अतः जो व्यक्तिपूर्ण करूणा परायण है और सबको प्राणों का अभयदान देता है वही वास्तविक रूप में पुण्यात्मा है। उसका वह व्रत ही अहिंसा है—

प्राणानां परिरक्षणाय सततं सर्वाः क्रियाः प्राणिनां
प्राणेभ्योऽप्यधिकं समस्त जगतां नास्त्येव किंचित् प्रियम्।
पुण्यं तस्य न शक्यते गणयितुं यः पूर्ण कारूण्यवान्
प्राणनामभयं ददाति सुकृति तेषामहिंसाव्रतः।।

—चतुर्वर्ग संग्रह, 1.13

क्षेमेन्द्र उस युग में हुये थे। जब कश्मीर में शैव धर्म अपने चर्मोत्कर्ष पर था पर शिव के प्रति भक्ति भाव होते हुये भी वे किसी सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे और न ही अपनी कृतियों में उन्होंने किसी धर्म विशेष का अनुसरण करने का आग्रह ही किया है। उनकी धर्मविषयक भावना सामान्य थी। उनका अपना जीवन धार्मिक था, अपनी कृतियों में भी उन्होंने लोगों को धर्मपरायण होने की सलाह दी है। धन को उन्होंने हेय नहीं माना अपितु उसे ही धर्म, अर्थ एवं काम तीनों पुरुषार्थों का मूल कहा है। पर धनार्जन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण यही होना चाहिए कि वह साधन है, साध्य नहीं। धर्म ही धनार्जन का लक्ष्य होना चाहिए। धर्माचार विहीन लोगों के द्वारा धन के नाम पर मल का संचय किया जाता है—

सत्तः कुर्वन्ति यत्नेन धर्मस्यार्थे धनार्जनम्।
धर्माचार विहीनानां द्रविणं मलसंचयः।।

—दर्पदलन 2.32

धनाढ्य होने का लोभ क्षेमेन्द्र अच्छा नहीं मानते उनका विश्वास था कि मानव जीवन या सांसारिक जीवन का संचालन मुख्य रूप से दैव के हाथों में है। अतः धन के प्रति बहुत लोभ कष्टकर ही होगा। उनका तर्क है कि निर्धन व्यक्ति भी सुखी देखे जाते हैं तथा धनी भी दुःख से पीड़ित होते ही है। अतः उस धन के

लिए बहुत चिन्ता करना समुचित नहीं है जो मुख्यतः देवाधीन है। अतः मनुष्य को कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। उसी से जो धन प्राप्त हो जाये वही जीवन को भोलापन प्रमाद अर्थात् अवहेलना, विश्वास, कुसंग तथा क्लेश भीरूता नामक पाँच दोषों से कमल रूपी श्री संकुचित हो जाती है—

मौग्ध्यं प्रमादोऽविश्वासः कुसङ्गक्लेशभीरूता।
पंच सङ्कोचदा दोषाः पद्मिन्या इव सम्पद।।

–चतुर्वर्गसंग्रह 2.17

चारुचर्या नामक कृति में क्षेमेन्द्र ने आदर्श जीवन का ऐसा चित्रण किया है जो व्यवहार में अच्छी प्रकार से उतारा जा सकता है। उनका मान्यता है कि सदाचार ही संसार में सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। सदाचार ही धर्म का मूल है। सदाचार से व्यक्ति को धन का आगम सुलभ हो जाता है तथा सत्य से अलगाव भी नहीं होता। सदाचार से पहले सहज में ही अभिलषित भोगों की तथा अन्त में स्वर्ग तथा अपवर्ग की भी प्राप्ति हो जाती है—

श्रीलाभसुभगः सत्यसक्तः स्वर्गापवर्गदः।
जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः।।

—चारूचर्या, 1

क्षेमेन्द्र धर्मशील होते हुए भी कट्टर पन्थिता के सर्वदा विरोधी हैं। वह धार्मिक उदारता एवं सदाशयता से परिपूर्ण हैं।

———————

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 153-157

शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनौ मतभेदः

राजेश एम् डि*

संलक्ष्यक्रमध्वनिः द्विधा भवतिः। शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च इति। तत्र शब्दशक्तिमूलध्वनिः द्विधा वस्तुत्वालङ्कारत्वभ्याम्। प्राचीनमम्मटाचार्यादयः शब्दशक्तिमूलध्वनिः नानार्थकशब्दस्थले भवतीति प्रतिपादितम्। पण्डिराजजगन्नाथस्तावत् योगरुढशब्दस्थलमिति निरुपितम्। शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनौ जगन्नाथेन प्राचीनाचार्यमम्मटैः प्रतिपादिता उदाहरणान् अखण्डयत्।

करतलनिर्गलिदविरलदानजलोल्लासितावनीवलयः।
धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम्।।

अस्मिन् श्लोके राजपरकार्थस्तु प्रकृतत्वादभिधाविषय एव। तत्र कर दान, धनद सार्वभौमरूपनानार्थकशब्दैः कश्चनार्थान्तरो गजपरको गम्यते। तादृशाप्रकृतार्थः गजपरकोऽत्र व्यञ्जनाविषय इति प्राचीनाः। किन्तु गजः यथाऽविरतरूपेण स्यन्दमानेन दानवारिणा भूमिमार्द्रां करोति, तन्मूलकञ्च जगदुल्लासयति तथैवाविरतरुपेण स्वहस्तात् स्यन्दमानेन दानजलेन जगदुल्लासयति स राजा इति तयोरर्थयोर्मध्ये वर्तमान उपमानोपमेयभाव एव प्रधानवाक्यार्थो भवतीति स एवात्र व्यञ्जनागम्यमिति जगन्नाथः।

अस्मिन् श्लोके व्यङ्ग्योपमायाः ध्वनित्वविरुद्धतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसाधकं स्वमतम् उल्लिखितं ग्रन्थकारेण। समासोक्त्यलङ्कारयुक्तेऽपि पद्येऽर्थद्वयं भवति। तत्र द्वितीयार्थः पद्ये वर्तमानैः श्लिष्टविशेषणपदैरेव भवति, नान्यथा। अपि चार्थद्वयस्यापि सुसम्बद्धत्वकल्पनार्थं द्वितीयार्थनिरुपितव्यवहारः प्रकृतार्थे आरोप्यते। तयोश्च व्यवहारयोरभेदोऽङ्गीक्रियते एवं प्रस्तुतव्यवहारो यत्र गम्यमानाप्रस्तुतव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिरिति जगन्नाथमतम्।

'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' इत्यस्मिन्नुदाहरणे चन्द्रमाः इति विशेष्यम्। तस्य विशेषणं रक्त इति। तस्य विशेषणस्यारुणवर्णः रुधिरश्चेत्यर्थद्वयम्। ऐन्द्रीत्यस्य विशेष्यस्य मुखमितिविशेषणं वदनम्, अग्रभागश्चेत्यर्थद्वययुक्तम्। चन्द्रमाः इति प्रयुक्तत्वात् चन्द्रपरकार्थोऽत्र प्रकृतः। रक्तः मुखमितिश्लिष्टविशेषणबलादत्र चन्द्रमसः स्थाने कश्चन नायको गम्यते। अरुणवर्णयुक्तश्चन्द्रमाः ऐन्द्रीमुखं स्पृशति इति वाच्यार्थः प्रकृतः। कश्चन नायकोऽनुरक्तः सन् प्रियतमायाः वदनं चुम्बतीति नायकव्यवहारोऽप्रकृतः किन्तु द्वयोरप्यर्थयोः परस्परमसम्बद्धत्वात् सम्बन्धस्थापनायाप्रकृतनायकव्यवहारः प्रकृतधर्मिणि चन्द्रमसि आरोप्यते। तत्राप्रकृतनायकव्यवहारस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रकृततस्य चन्द्रपरकार्थस्य उपकारकत्वादल्पचमत्कारवत्तया च गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवाङ्गी क्रियते, न तु ध्वनित्वम्। तथैवात्रापि करतलेत्यादिपद्ये गजपरकव्यङ्ग्यस्य दिग्गजवृत्तान्तरुपव्यङ्ग्यमूलिकाया उपमया वा वाच्यस्य

* शोधच्छात्रः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, राजीवगाँधीपरिसरः, शृङ्गेरी, कर्नाटकः

नृपवृत्तान्तस्य शोभाजनकतया गुणीभूतत्वमेव इति स गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यव्यवहारप्रयोजक एव भवति, न तु ध्वनिकाव्यव्यहारप्रयोजक इति वक्तव्यम्।

पूर्वपक्षः— व्यज्यमानोपमा वाच्यार्थस्य उपस्कारिका भवति चेदेव खलु सा गुणीभावं प्राप्तुं शक्नोति? किन्तु सा वाच्यार्थोपस्कारिकैव न भवति, परं सा उपकार्या एव। तदा कथमपि तस्या गुणीभावो न भवति खलु।

सिद्धान्तः— तथा कथं वक्तुं श्क्यम्? '**उल्लास्य कालकरवाल** ---'[1] इत्यादौ पद्ये नृपार्थ इन्द्रार्थयोर्मध्ये व्यज्यमानोपमा नृपरुपं वाच्यार्थमुपस्करोतीति तु सर्वानुभवसिद्धम्। तथैव '**भद्रात्मनो दुरधिरोह** ----'[2] इत्यादौ पद्येपि गजपरक राजपरकयोर्थयोर्मध्ये व्यज्यमानोपमा तथा। एवमेव स्थितिः करतल -- इत्यादावपि। एवं सति उपमाया वाच्योपस्कारकत्वं कथं निराक्रियते भवता?

पूर्वपक्षः— व्यङ्ग्योपमायाः प्रकृतोपस्कारत्वानुभव एव न भवतीति वच्मि अहम्।

सिद्धान्तः — तथा चेत् समासोक्तौ भवताऽनुभवस्याधारेणाङ्गीकृतस्य व्यङ्ग्यं अप्रकृतव्यवहारस्य वाच्योपस्कारकत्वामपि मिथ्यात्वमेव खलु भजते? अतस्तत्रापि व्यज्यमानस्य व्यवहारस्य वाच्योपस्कारकत्वनिराकरणमेव वरम्।

पूर्वपक्षः — समासोक्ति उपमाध्वनिस्थलयोर्भेदो वर्तते यत् समासोक्तिस्थले यो वाच्यो भवति व्यवहारी सः नानार्थशब्दोपस्थाप्यो न भवति। उदाहरणार्थं — '**अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः**' इत्यत्र व्यज्यमानः नायकव्यवहारः चन्द्रमस्यारोप्यत इति चन्द्रो व्यवहारी। सः एकार्थकचन्द्रमस्पदोपस्थाप्य एव, न त्वनेकार्थकपदोपस्थाप्यः। किन्तु मुखचुम्बनादिव्यवहार एव नानार्थपदैरुपस्थापितः। करतलेत्याद्युपमाव्यङ्ग्यस्थले तु व्यवहारी नृपः सार्वभौमरूपानेकार्थशब्दोपस्थाप्य इति कारणात् समासोक्तौ यथा व्यङ्ग्यस्य गुणीभूतत्वं सम्भवति तथा व्यङ्ग्योपमायां न सम्भवति। एवं व्यङ्ग्योपमायाः गुणीभूतत्वनिराकरणे व्यवहारिणः नानार्थकपदोपस्थाप्यत्वमेव हेतुः।

सिद्धान्तः—तन्न समीचीनम्। यतः तयोः व्यवहारिणोः नानार्थपदोपस्थाप्यत्वस्य व्यङ्ग्योपमाया प्रकृतानुपस्कारकत्वस्य च परस्परं न कोऽपि सम्बन्धः। अतः व्यवहारिणो नानार्थपदोपस्थाप्यत्वं व्यङ्ग्योपमायाः प्रकृतधर्म्युपस्कारकत्ववारणे कारणं न भवति। समासोक्तावप्रकृतधर्म्येव प्रकृतधर्मिण उपस्कारको भवति, व्यङ्ग्योपमा यद्यपि अप्रकृतधर्मी न, तथाप्यप्रकृतधर्मिनिरुपिता भवति। करतलेत्यादौ अप्रकृतधर्मी दिग्गजः, तन्निरूपिता व्यज्यमानोपमा प्रकृतधर्म्युपस्कारिका भवत्येव, तद्वारणे भवदुक्तकारणस्यासामर्थ्यात् एवं यदि तस्या प्रकृतधर्म्युपस्कारकत्वं न वार्यते तर्हि तस्या गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमपि निर्बाधम्। व्यङ्ग्योपमायाः गुणीभूतत्ववारणाय, अलङ्काराणां वस्त्वपेक्षया स्वाभाविकतयैव सौन्दर्याधिक्यरूपं कविप्रवृत्त्युद्देश्यरुपञ्च युक्त्यन्तरं सिद्धान्तिनोपस्थाप्यते।।

पूर्वपक्षः—अलङ्कारास्तावत् सौन्दर्यपर्यायवाचिनः वाच्या व्यङ्ग्या वा भवन्तु, स्वभावत एव रमणीयाः। अन्यथा तेषामलङ्कारत्वमेव न सङ्गच्छते। अत वस्त्वपेक्षया तेषां स्वाभाविकमेव सौन्दर्याधिक्यं भवतीति हेतोः वस्तुनोऽङ्गत्वं तेषां कदापि न सम्भवति, किन्तु वस्त्वपेक्षया प्राधान्यमेव। अतः करतलेत्यादि पद्ये व्यङ्ग्योपमा यद्यपि प्रकृतं राजपरकार्थं पोषयति तथापि तस्यार्थस्याङ्गत्वं तस्या नास्तीति नात्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्कनीयम्।

सिद्धान्तः — स्वाभाविकं सौन्दर्यं रसादीनामप्यस्ति, किन्तु तेषां कदाचित् रसवदलङ्कारादिषु गौणत्वं सम्भवति खलु? अतः स्वाभाविकसौन्दर्यस्य ध्वनित्वहेतुत्वं नियमेन न भवतीति सिद्धम्। अतः रसादीनामिव अलङ्काराणामपि गौणत्वं सम्भवति।

पूर्वपक्षः — न केवलं स्वाभाविकं सौन्दर्यम्, किन्तु काव्यप्रवृत्त्युद्देश्यतया प्रयोज्यत्वमप्यलङ्कारेषु वर्तते। ध्वनिकारस्य मतानुसारम्—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तया।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्।।[3]

वस्तुनाऽभिव्यक्तानामलङ्काराणां गुणीभावो न युक्तः कवेः काव्यप्रवृत्या उद्दिष्टा तेऽलङ्कारा इति हेतोः। तथैवान्नापि व्यज्यमानोपमायाः। यतः एतादृश व्यङ्ग्यालङ्कारप्रत्यायनमुद्दिश्यैव कवीनां नानार्थकशब्देषु प्रवृत्तिर्भवति, अन्यथा तादृशशब्दप्रयोग एव वैयर्थ्यं भजते इति न तेषां गुणीभावः कथञ्चित् सङ्गच्छते। एवं सति कथं तेषामलङ्काराणां प्रकृतार्थे गुणीभूतत्वमङ्गी कर्तुं युक्तं भवेत्? तेनैव स्वाभाविकसौन्दर्यकाव्यप्रवृत्त्युद्देश्यत्वरूपन्यायेन करतलेत्यादौ पद्ये व्यङ्ग्योपमालङ्कारः राजवर्णनापेक्षया गौणो नेति न तस्य गुणीभूतत्वम्। समासोक्तौ त्वन्य एव विषयः। तत्र व्यज्यमानाप्रकृतव्यवहारः समासोक्तेरवयव एव, न त्वलङ्कारः।

सिद्धान्तः—भवता एवमुच्यते चेत्तदप्यसङ्गतम्। कथमिति चेत् 'बाधेऽदृढ़ेऽन्यसाम्यात् किम्? **'दृढ़ेऽन्यदपि बाध्यताम्'**[4] इति न्यायः। या युक्तिः सिद्धान्तं बाधते सा बाधकयुक्तिः। व्यज्यमानालङ्कारस्य प्रकृतोपस्कारकत्वं तस्य गुणीभूतत्वसाधकसिद्धान्तः। **'अलङ्काराणां स्वभाविकसौन्दर्याधिक्यात् कविप्रवृत्त्युद्देश्यत्वाच्च तेषां न गुणीभाव'** इतीयं व्यज्यमानालङ्काराणां गुणीभावबाधकयुक्तिः। बाधो नाम प्रकृताभिमतसिद्धिप्रतिबन्धकः। अत्र —करतलेत्यादिदृार्ष्टान्तिकपद्येऽभिमतं व्यङ्ग्योपमया गुणीभूतत्वम्, तत्सिद्धिबाधिका भवति स्वाभाविकसौन्दर्येत्यादिबाधकयुक्तिः। तस्य दृष्टान्तमपि दत्तं पूर्वपक्षिणा 'यथा वस्तुमात्रेणाभिव्यक्तानामलङ्काराणाम्' इति। किन्तु अप्रकृतार्थनिरूपितव्यङ्ग्योपमया प्रकृतार्थपोषकत्वेऽनुभवसिद्धे तस्या गुणीभावः पूर्वोक्तबाधकयुक्त्या न बाध्यते। एवं सति 'यथा वस्तुमात्रेण ---' इत्यादिसाम्यात् किं सिद्ध्यति? यदि सा बाधकयुक्तिः प्रबला स्यात् तर्हि न केवलं दृष्टान्तं वस्तुमात्रेणेत्यादि किन्तु करतलेत्यादिदृार्ष्टान्तिकेऽपि व्यज्यमानोपमायाः गुणीभूतत्वं बाधेत् एवम् बाधकयुक्तौ दुर्बलायां सत्यां दृष्टान्तप्रदर्शनमनुचितं नैरर्थक्यात्, प्रबलायां सत्यां तु तयैव युक्त्या दृष्टान्तभूतार्थस्यापि बाधात् दृष्टान्तप्रदर्शनमनुचितं भवतीति उभयापि दृष्टान्तो निरर्थक एव। अत्र उपमायाः समासोक्तेश्च किञ्चन साम्यं दर्शितं पूर्वपक्षिणा। सिद्धान्तिना च तन्निरकृतम्।

पूर्वपक्षः — यत्र उपमा व्यङ्ग्या भवति तत्र तस्याः कथमपि गुणीभूतत्वं नास्ति। यतः गुणीभूतत्वस्य कारणमस्मिन् सन्दर्भेऽपराङ्गव्यङ्गयत्वेन प्रतिपादितमस्ति। उपमाव्यङ्गयस्थले द्वयोरर्थयोर्मध्ये उपमानोपमेयभावः कल्प्यते। तत्र व्यङ्ग्यभूता उपमा यद्यपि सादृश्यांशेनोपमेयमुपकरोति तथाप्युपमाया नापराङ्गत्वम्। यतो ह्युपमेयम् उपमायाः 'अपरम्' न भवति, तस्याप्युपमाया अङ्गभूतत्वात्। यथा— समसोक्तावप्रकृतव्यवहारः प्रकृतमुपकरोत्यपि समासोक्तेः नापराङ्गत्वम्, यतः प्रकृताप्रकृतव्यवहारयोः घटनस्यैव समासोक्तिकारणत्वात्, प्रकृतस्य चापरत्वभावात्। उदाहरणार्थम् —**'अयमैन्द्रीमुखं पश्य ---**-' इत्यत्र प्रकृतश्चन्द्र -- परकार्थः, अप्रकृतो नायकव्यवहारश्चेति द्वावपि समासोक्तेरङ्गः एव,

द्वयोरप्यनुसन्धानेनैव समासोक्तिर्भवति नान्यथा इति हेतोः। अतः प्रकृतं प्रत्यप्रकृतस्य, अप्रकृतं प्रति प्रकृतस्य वाऽपरत्वं नास्ति। तेन यद्यप्यप्रकृतनायकव्यवहारः प्रकृतं चन्द्रमसमुपकरोति तथापि नापराङ्गत्वं तस्य तथैव उपमाव्यङ्ग्येऽपि इति तात्पर्यम्।

सिद्धान्तः — एतेना भवता उपमाव्यङ्ग्य-समासोक्तिस्थलयोः समाना स्थितिः प्रदर्शिताऽभवत् खलु? तर्ह्युभयत्राप्येक एव खलु निर्णयः स्वीकरणीयः? यदि उपमाव्यङ्ग्यस्थले ध्वनिकाव्यत्वमेवाङ्गी क्रियते भवद्भिस्तर्हि तत्समानस्थितौ समासोक्तावपि तदेवाङ्गीक्रियताम्। नो चेत् समासोक्तिरिवोपमाव्यङ्ग्यस्यापि गुणीभूतत्वं स्वीक्रियताम्। एतद्विरुद्धतया कथं भवता द्वयोः समानसामग्रीस्थलयोः ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वाभ्यां भेदः स्वीक्रियते? यत्र श्लेषस्तत्र एकशब्दोपात्तयोरर्थयोरभेदाध्यवसाय एव न तूपमा। उदाहरणम् -- '**सोऽव्यदिष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः**'। अत्र माधव-उमाधवयोः एकशब्देन उपात्तत्वात्तत्परयोरर्थयोरभेदाध्यवसाय एव, न तु तयोरर्थयोर्मध्ये औपम्यं किञ्चिदस्ति। एतत्तु न केवलं सकलालङ्कारिकैर्निबद्धम्, किन्त्वनुभवसिद्धमपि।

पूर्वपक्षः — अत्यन्तभिन्नयोरर्थयोरभेदाध्यवसायस्य किं मूलम्?

सिद्धान्तः — ऐनैव पदेन तावर्थौ बोध्येत इत्येव। यथा 'विद्वन्मानसहंस ----' इत्यादौ श्लोके चित्त सरोवररूपौ द्वावप्यर्थौ 'मानस' इत्येकेन शब्देन बोध्येते। तथैव युद्ध-समिधौ 'समित्' पदेन पद्म-सम्पदौ च 'कमला' शब्देन तथा। एवम् एकपदबोध्यत्वं विना नान्यत्कारणं तस्य विद्यते। तस्मादेव कारणात् भेदे सत्यपि अभिन्नतया भासन्तेऽर्थाः। अतस्तत्राभेदाध्यवसाय एव वक्तुमुचितः। अभेदाध्यवसायस्तु रूपकालङ्कारस्य मूलम्। अत एतादृशस्थले रूपकध्वनिरेव वक्तुमुचितम्, न तूपमाध्वनिः।

पूर्वपक्षः — श्लेषस्थलेऽभिधानियमनाभावात् द्वयोरप्यर्थयोरेककालिकत्व वाच्यत्वञ्च सङ्गच्छत इति द्वयोरर्थयोरभेदारोपो शक्यते वक्तुम्। अतएव 'सोऽव्यदिष्ट—' इत्यादौ माधव —उमाधवपरकयोरर्थयोः युगपद्बोधः। परन्तु 'उल्लास्य ----' इत्यादौ श्लोके द्वयोरर्थयोर्मध्य एकस्यार्थस्य वाच्यत्वम्, एकस्य व्यङ्ग्यत्वम्। अपि च एकस्यार्थस्य बोधानन्तरमेवान्यस्यार्थस्येति भिन्नकालत्वञ्च। प्रकरणवशात् राजरूपार्थे अभिधानियन्त्रणानन्तरमेवाप्राकरणिकस्यार्थस्येन्द्ररूपस्य बोधः। अतः न तत्र श्लेषस्थल इव अभेदाध्यवसायः।

सिद्धान्तः — किन्तु एतस्मात् कारणात् 'उल्लास्य -----' इत्यादावभेदाध्यवसायो नास्तीति वक्तुं न शक्यते। यतोऽभेदाध्यवसायस्य वाच्यत्वम् एककालत्वं वा कारणं न भवति, व्यङ्ग्यत्वं भिन्नकालत्वं वा बाधकोऽपि न भवति। अतोऽत्रप्यभेदाध्यवसाय एव युक्तः। तेन रुपकस्यैव ध्वनिः, न तूपमायाः। काव्यप्रकाशटीकाकाराणां यन्मतमस्ति रूपकस्य ज्ञानमुपमाज्ञानाधीनमत उपमाज्ञानस्यैव प्रथमोपस्थितत्वात्, 'उल्लास्य—' इत्यादिस्थले उपमाया एव सम्बन्धत्वं कल्प्यं न तु रूपकस्य' इति, तदानुचितमेव, प्रागुक्त एकशब्दोपात्तत्वप्रयुक्तभेदाध्यवसायस्य सादृश्यज्ञानं विनापि सम्भवात्।

पूर्वपक्षः — नातीव श्रद्धेयमित्युक्तम्। किं तत्र कस्मिंश्चिदंशे श्रद्धा कार्येति भवतोऽभिमतम्?

सिद्धान्तः — आम्। करतलेत्यत्र द्वयोरर्थयोः सादृश्यज्ञानाधीनत्वप्रतिपादनांशे श्रद्धा कार्या, अभेदात्मकस्यापि रूपकस्य सादृश्यज्ञानमूलकत्वात्। किन्तु करतलेत्यत्रोपस्थितस्याभेदाध्यव-सायस्यानादरांशे श्रद्धा न करणीया अर्थात् सोऽभेदाध्यवसायांशोऽस्माभिरङ्गीकरणीयः।

पूर्वपक्षः — तदङ्गीकारे का आपत्तिः?

सिद्धान्तः —सर्वत्रापि सादृश्यज्ञानस्यैव प्रथममुपस्थित्या श्लेषस्थले कुत्रापि रूपकं नोल्लसेत्। उदाहरणार्थं विद्वान्मानसहंस इत्यत्र हंस-राजयोः सादृश्यमेव प्रथममुपतिष्ठते। अनन्तरमेवानयोः श्लेषमूलकाभेदाध्यवसायस्योपस्थितिः। करतलेत्यत्र अभेदाध्यवसायस्यानादरेऽत्राप्यनादर एव प्रदर्शितः स्याद्द्वयोरपि समानस्थितेः। तदभावे रूपकं नोल्लसेत्। किन्त्वत्र रूपकं सर्वसम्मतमेव वर्तते। अतः करतलेत्यत्र अभेदाध्यवसायांशे योऽनादरः प्रदर्शितो वर्तते काव्यप्रकाशटीकाकारैः तत्र श्रद्धेयम्।

इत्थं पर्यालोचनेन ज्ञायते रुपकनिष्पत्तये सादृश्यमूलमभेदारोपाध्यवसानमपेक्षितम्, उपमायां केवलं सादृश्यमिति 'उल्लास्ये'त्यादौ प्रथमोपस्थितत्वात् सादृश्यमूलकमुपमाऽन्तरङ्गत्वातद्युक्ता तन्मूलमभेदाध्यवसानं बहिरङ्गमिति बहिरङ्गत्वान्न रुपकमिति प्राचीनानामाशयः। नव्यास्तु रूपके सादृश्यलक्षणां विनैवाभेदारोपरूपकं स्वीकुर्वन्ति, तेषां मते सादृश्यं नापेक्षितम्, अतो रूपकं ते स्वीकुर्वन्ति। अप्ययदीक्षितो वृत्तिवार्तिके रूपके प्राचीनोपपादितां सादृश्यलक्षणां बहुशो निराकृतवान्। यद्यपि नागेशोऽपि 'रूपके नास्ति लक्षणा' इति प्रतीकमुपदाय लक्षणां निषेधात्, तथापि स रूपके सादृश्यज्ञानस्योपयोगितां स्वीकरोति यदवोचत्। 'सादृश्यज्ञानरूपदोषस्योत्तेजकत्वादिति' एवं रूपके सादृश्यज्ञाननिरपेक्षामुपपादितां प्राचां मते उल्लास्येत्यादावन्तरङ्गत्वादुपमाऽलङ्कारध्वनिरेव युक्तः। सादृश्यज्ञाननिरपेक्षतया भेदस्वीकर्तृणां नव्यानां (अप्ययदीक्षितादीनां) मते रूपकमपि युक्तं परं पण्डितराजेन तु स्वयं प्राचीनमतं समर्थितम्। अतस्तन्मते तु रुपकालङ्कारध्वनिस्तु बहिरङ्ग एवेति प्राचीनमतमेव युक्तं ज्यायश्च।

सन्दर्भ

1. उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन।
   निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः।। काव्यप्रकाशः, च० उ०:, पृ० 53
2. भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
   यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।। काव्यप्रकाशः, द्वि०उ०, पृ० 26
3. ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका -29
4. रसगङ्गाधरः पृ० 134

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. काव्यप्रकाश (नागेश्वरीटीका) चौखम्भा प्रकाशनम्।
2. रसगङ्गाधरः (शारदाटीका) ब्रह्मविद्या प्रकाशनम्।
3. ध्वन्यालोकः (लोचनटीका) चौखम्भाप्रकाशनम्।
4. रसगङ्गाधरः (चन्द्रिका टीकोपेत) चौखम्भाप्रकाशनम्।

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 158-162

मुहूर्तपदवीग्रन्थे सर्वशुभकर्मसु वर्जनीयाः षड्दोषाः

सुब्रह्मण्य भट्टः*

चतुर्भिः कारयेत् कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षणः।
तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्तैरिति नित्यशः।। इति निरुक्ते

द्वितीयाध्याये पञ्चविंशतितमे खण्डे मुहूर्तक्षणनामककाल परिमाणयोर्नामानि निर्दिष्टानि सन्ति। एवमेव पाणिनीयव्याकरणे महाभारते च मुहूर्त शब्दोऽयं कालपरिमाणकत्वेनो लिखितः दरीदृश्यते। गच्छतिकाले मुहूर्तशब्दस्य अर्थव्याप्तिः बहुविस्तृता सञ्जाता। विवाहादि संस्कारविशेषास्तथाचान्यानेक व्यावाहारिककर्मविशेषाश्च निर्दिष्टसमयानुरोधेन विहिता एवाभीप्सित फलदा भवन्तीति लोकेलोकाः अनुमन्वते। तत्तत्कर्मानुरोधेन वारतिथिनक्षत्रादीनां परस्परसंयोगेन अत्यन्तं गुणाधिक्यं दोषन्यूनत्वं च यस्मिन् काले प्रसिध्यति। सः कालः मुहूर्तः इति व्यवहारः क्रमेण सम्भवत्। प्रथमतया संहिताग्रन्थेषु विविधकर्मोपयुक्तमुहुर्तानां वर्णनमुपलभ्यते। संहिता स्कन्धस्य वैशाल्यकारणात् मुहुर्तानां बहूपयोग्यात्वात् च मुहूर्तः प्राधान्यमविन्दत्। एवं ज्योतिषे मुहूर्तः प्रत्येकभागत्वेन कल्पितः अभियुक्तैः। वर्जनीयाः षड्दोष–विषये यथामति लिखामि।

अंहस्पतिरधिमासः संसर्पो दृश्यताऽह्नि गुरुसितयोः।
मौं दृष्टिश्च मिथो वर्ज्या दिनमासकार्यतोऽन्यत्र।।

एवं सर्वकर्मस्वपि सामान्येन अवश्यं वर्जनीयान् दोषान् दर्शयित्वाऽथदिनमासकार्येभ्योऽन्येषु सर्वशुभकर्मसु वर्जनीयान् षड्दोषानाह।

अंहस्पतिरिति। अंहस्पतिः, अधिमासः, संसर्पः, अह्निगुरुसितयोः दृश्यता, गुरुसितयोः मौं, गुरुसितयोः मिथो दृष्टिश्च दिनमासकार्यतोऽन्यत्र वर्ज्या इति योजना।

अंहस्परतिरधिमासः संसर्प इति। त्रयोऽप्यधिकमाससंज्ञाः दुष्टमासाः शास्त्रेषु अधिमासा इति च मलमासा इति च मलिम्लुचा इति च उच्यन्ते। तेषां चान्द्रमासप्रमाणत्वात् चान्द्रमासप्रमाणौक्तिपूर्वं अधिमासलक्षणमुच्यते। अधिमासलक्षणस्य बाहुविध्यात् एतद्देशीय सज्जनाऽचारमनुसृत्य तन्त्रसङ्ग्रहोक्तमिहोच्यते। यथा तन्त्रसङ्ग्रहे—

मेषाऽद्येकैकराशिस्फुटगतिदिनकृत्सङ्क्रमैकैकगर्भाः
चान्द्राश्चैत्रादिमासा इह न यदुदरे सङ्क्रमः सोऽधिमासः।
संसर्पः स्यात् स चांहस्पतिरुपरि यदि ग्रस्तसङ्क्रान्तियुग्मः
तौ चाब्दर्त्वङ्गभूतौ सह सुचिरभवौ सोऽधिमासोऽत्र पश्चात्।।इति।।

---

* शोधच्छात्रः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् राजीवगाँधीपरिसरः, मेणसे, शृङ्गेरी, कर्नाटकः

मेषाऽद्येकैकराशिस्फुटगतिदिनकृत्सङ्क्रमैकैकगर्भाः चान्द्राः चैत्रादिमासा इति।

सूर्यस्य स्फुटगत्या मेषाऽदिषु द्वादशराशिशु यो यः सङ्क्रमः तत्सङ्क्रमैकैकगर्भा एकैक चान्द्रमासाः क्रमेण चैत्रादिसंज्ञा इत्यर्थः। यस्य मासस्याऽद्यान्तयोः मध्ये सूर्यस्य एकः स्फुटसङ्क्रमो भवति स सङ्क्रमगर्भो मासः। तत्र शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तः त्रिंशत्तिथ्यात्मकश्चान्द्रमास इत्युच्यते। तदुक्तं मासप्रकरणे-- **चान्द्रः शुक्लाऽदि दर्शान्तः त्रिंशत्तिथ्यात्मकः स्मृतः**। इति एवं द्वादश चान्द्रमासाः सन्ति। तेषां क्रमेण नामान्युक्तानि शास्त्रान्तरे—

चान्द्रा मासाश्चैत्रवैशाखसंज्ञौ ज्येष्ठाऽषाढौ श्रावणप्रोष्ठपादौ।
आश्विन्याख्यः कार्तिको मार्गशीर्षः पौषो माघः फाल्गुनः पर्वनिष्ठाः।। इति।

एतेषां चैत्रादीनां चान्द्रमासानां अपराणि च नामानि सन्ति। तथा चोक्तम्—

आद्यो मधुर्माधवशुक्रसंज्ञौ शुचिर्नभाश्चापि नभस्यसंज्ञः।
इषस्तथोर्जश्च सहः सहस्यस्तपस्तपस्यस्त्विति चान्द्रमासाः।। इति।

1. चैत्रः — मधुः	7. आश्विनः — इषः
2. वैशाखः — माधवः	8. कार्तिकः — ऊर्जः
3. ज्येष्ठः — शुक्रः	9. मार्गशिरः — सहः
4. आषाढः — शुचिः	10. पुष्यः — सहस्यः
5. श्रावणः — नभाः	11. माघः — तपः
6. भाद्रपदः — नभस्यः	12. फाल्गुनः — तपस्यः

एतेषु चान्द्रमासेषु यस्मिन् मासे सूर्यस्य स्फुटगत्या मेषसङ्क्रमो जायते सः चैत्राऽख्यः चान्द्रमासः। यस्मिन् चान्द्रमासे वृषभसङ्क्रमः सः वैशाखमासः। एवमेव मिथुनाऽदिसङ्क्रमयुक्ताः ज्येष्ठाऽऽदयो मासा अपि द्रष्टव्याः। तथा चोक्तम्—

विषुवाख्यः सदा चैत्रे जायते मेषसङ्क्रमः।
वैशाखे वृषसङ्क्रान्तिर्ज्येष्ठे मिथुनसङ्क्रमः।। इत्यादि

एवमेकैकसङ्क्रमयुक्ताः चैत्रादिसंज्ञा एकैकचान्द्रमासा इति तात्पर्यम्। तत्र कृष्णपक्ष प्रतिपदादिपौर्णमास्यन्तः चान्द्रमास इत्येकः पक्षः। शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्त इत्यपरः। तस्य पक्षद्वयस्यापि जातिदेशभेदात् व्यावस्था शास्त्रेषूक्ता।

दर्शान्तः पूर्णिमान्तश्च चान्द्रो मासो द्विधा मतः।
जातिभेदाद्देशभेदात् तौ च मासौ व्यवस्थितौ।।
नर्मदादक्षिणे भागे दर्शान्तो मास इष्यते।
नर्मदोत्तरभागे तु पूर्णिमान्त इति स्थितिः।। इति।
दर्शान्तः पूर्णिमान्तश्च चान्द्राऽसौ विप्रवैश्ययोः।।

इत्यन्यत्र च ततोऽस्मिन् केरळदेशे दर्शान्त एव चान्द्रमास इति तात्पर्यम्। एवं चान्द्रमासप्रमाणमुक्त्वा

ततोऽधिमासलक्षणमाह—**इह न यदुदरे सङ्क्रमः सोऽधिमास इति।** इह यदुदरे सङ्क्रमः न स अधिमास इति योजना। इह अत्रोक्तेषु चान्द्रमासेषु इत्यर्थः। यदुदरे यस्य चान्द्रमासस्य मध्ये सूर्यस्फुटसङ्क्रमो न जायते स अधिमाससंज्ञः। मेषाद्येकैकराशिः सूर्यसङ्क्रान्तियुक्तः चैत्राद्येकैक चान्द्रमासः। तेषु चान्द्रमासेषु यस्य चान्द्रमासस्य मध्ये सूर्यसङ्क्रमो न भवति सः चान्द्रमासोऽधि मासाख्यो दुष्टमास इति तात्पर्यम्। तथा च षट्सूत्रे—

सूर्यसङ्क्रान्तिरहितो मलमासोऽभिधीयते। इति।

भानुना लङ्घितो मासश्चान्द्रः ख्यातो मलिम्नुचः।। इति शास्त्रान्तरेऽपि

संसर्पः स्यात् स चेति। च शब्द एवकारार्थे। अत्रोक्तो योऽधिमासः सोऽधिमास एव कदाचित् संसर्पसंज्ञः स्यादित्यर्थः। तद्यदेति—**अंहस्पतिरुपरि यदि ग्रस्तसङ्क्रान्तियुग्म इति।** अत्रोक्तस्याधिमासस्य उत्तरचान्द्रमासे वा तदुत्तरचान्द्रमासे वा यदा सूर्यसङ्क्रान्तिद्वयं भवति तदा तस्य चान्द्रमासस्य अंहस्पतिरिति संज्ञा स्यात्। तथा चोक्तम्—चान्द्रो मासो द्विसङ्क्रान्तियुक्तोंऽहस्पतिरुच्यते।। इति। एवम् अंहस्पतौ जाते सति तस्य पूर्वभवोऽधिमासः संसर्पसंज्ञः स्यात् इत्यर्थः।

तौ सह सुचिरभवाविति। तौ अंहस्पतिसंसर्पाख्यौ मलमासौ सह भवौ सुचिरभवौ चेत्यर्थः। यदा सङ्क्रान्तिद्वययुक्तोऽहस्पतिसंज्ञो मलमासो जायते तदा तत्पूर्वमासो वा तत्पूर्वो मासो वा तत्पूर्वो वा सूर्यसङ्क्रान्तिरहितो भवत्येव। अतः संसर्पांहस्पतिसंज्ञौ मलमासौ सह भवावेव। न पृथक् भवतीत्यर्थः। तौ बहुकालेनैव जायेते। न च स्वल्पकालोत्तरे। अतः सुचिरभवावित्यर्थः।

अब्दर्त्वङ्गभूतौ चेति। तत्र चान्द्रमासैः द्वादशभिरेव चान्द्रसंवत्सरः। प्रथमोक्तस्य केवलाधिमासस्य द्वादशमासेभ्यो बहिष्ठत्वात् स ऋतुष्वपि, संवत्सरेऽपि न युज्यते। तथा चोक्तम्—

चान्द्रेष्वन्न तु मासेषु यदा मासोऽधिकाह्वयः।

तदातद्रहिताभ्यां तु मासाभ्यां ऋतुरिष्यते।। इति।

तत्र ऋतुर्नाम कीदृश इति। तत्र चान्द्रमासेषु द्वादशसु मधुर्माधवश्चेत्याद्यमासद्वययुक्तः प्रथम ऋतुः। शुक्र शुचिश्चेति तृतीयचतुर्थमासयुक्तो द्वितीय ऋतुः एवं चान्द्रमासद्वयाऽत्मकाः क्रमेण षड् ऋतवः। तेषु ऋतुषु प्रथमो वसन्ताऽख्यः। द्वितीये ग्रीष्माऽख्यः। तृतीये वर्षाऽख्यः। चतुर्थः शरदाख्यः पञ्चमो हेमन्ताऽख्यः। षष्ठः शिशिराऽख्यः। तथा चोक्तम्—

द्वाभ्यां द्वाभ्यां तु मासाभ्यां मध्वादिभ्यां ऋतुः स्मृतः।

वसन्तग्रीष्मवर्षाश्च शरद्धेमन्तशैशिराः।। इति।

एवं भूतर्तुषट्काऽत्मकश्चान्द्रमासद्वादशाऽत्मकश्चान्द्रसंवत्सरः एवम् ऋत्वब्दयोः स्वरूपम्। तत्र द्वादशसु चान्द्रमासेषु यो मासः केवलाधिमासः तस्य मासस्य द्वादशमासेभ्योऽतिरिक्तत्वात् अधिमाससंज्ञा। अतः तम् अधिमासं परित्यज्य शेषैः द्वादशभिः मासैरेव ऋतुगणनं च संवत्सरगणनं च। नैवम् अंहस्पतिसंसर्पयोः। तावपि ऋत्वङ्गभूतौ ऋत्वङ्गभूतत्वादेवाब्दाङ्गभूतौ च। ऋतुसंवत्सरगणने संसर्पांहस्पतिसंज्ञौ मलमासावपि योजनीयावित्यर्थः।

सोऽधिमासोऽत्र पश्चादिति। एवं अंहस्पतौ जाते सति तस्योपरितनमासो वा तदुपरितनमासो वा तदुत्तरमासो वा सूर्यसङ्क्रान्तिरहितो भवत्येव। तत्र स केवलाधिमाससंज्ञा इत्यर्थः। किं बहुना।

सूर्यस्फुटसङ्क्रान्तिरहितो यः चान्द्रमासो भवति स केवलाधिमासः। यदा सूर्यस्फुटसङ्क्रान्ति द्वययुक्तः कश्चिच्चन्द्रमासो भवति सोंऽहस्पतिसंज्ञः। यदा अंहस्पतिर्जायते तदा तत्पूर्वमासत्रयेष्वे कश्च तदुत्तरमासत्रयेष्वेकश्च चान्द्रमासः सूर्यस्फुटसङ्क्रान्तिरहितो भवत्येव। अत्र अंहस्पतेः पूर्वभवसङ्क्रान्तिरहितश्चान्द्रमासः संसर्पसंज्ञः। अंहस्पतेरुपरिभवः सङ्क्रान्तिरहितश्चान्द्रमासः केवलाधिमास इति यावत्। केवलाधिमास ऋतुसंवत्सरबहिर्भूतः। अंहस्पतिसंसर्पौ ऋतुसंवत्सरा-ङ्गभूतावेवेति सिद्धान्तः। अंहस्पतिसंसर्पौ ऋतुसंवत्सराङ्गभूतौ चेदपीत्यर्थः। यद्यपि शुभकर्मसु केवलाधिमासवत्तावपि वर्ज्यावेव। एते त्रयोऽधिमासांहस्पतिसंसर्पा मलमासा इत्युच्यन्ते। तदुक्तमधिकमासप्रकरणे—**एते त्रयश्चान्द्रमासा मलमासा इति स्मृताः**।। इति।

एतेषां त्रयाणामधिमासानां सूर्यचन्द्रस्फुटसङ्क्रान्तिप्रमाणत्वात् सूर्यचन्द्रस्फुटसूर्यस्फुटसंङ्क्रान्ति प्रमाणत्वात् स्फुटाधिमासा इति संज्ञाः। **अर्केन्द्वोः स्फुटतः सिद्धास्त्रयो मासा मलिम्लुचाः**।। इति ब्रह्मसिद्धान्ते।

मध्याधिमास इति। कश्चिदधिमासोऽप्यस्ति। तद्यथा सूर्यचन्द्रमध्यमाभ्या तिथिमानीय तत्तिथौ यदा शुक्लप्रतिपदारम्भः तदा मध्यचान्द्रमासारम्भः। यदा मध्यमतिथौ दर्शान्तः तदा मध्यचान्द्रमासावसानम्। एवं द्वादश मध्यचान्द्रमासाः सन्ति। तेषु यस्मिन् मध्यचान्द्रमासे सूर्यस्य मध्यमसङ्क्रान्तिर्न भवति सः मध्यचान्द्रमासो मध्याधिमाससंज्ञः। तदुक्तम्—

यस्मिन् सूर्येन्दुमध्योत्थचान्द्रमासो न जायते।
रविमध्यमसङ्क्रान्ति स तु मध्याधिमासकः।। इति।

इममर्थमेव प्रकारान्तरेणोक्तवान् कालदीपिकाकारः—

मध्ये मध्यार्कसङ्क्रान्त्यौः मध्यमान्तद्वयं यदि। अधिमासः। इति।

तत्र सूर्यमध्यमस्य एकैकराशिपरिपूर्तिकालो मध्यमसङ्क्रान्तिसमयः। अस्य मध्याधिमासस्य संसर्पांहस्पतिलक्षणं न चिन्त्यते। केवलाधिमास एव वर्ज्यते एवं सदाचारः। अत एवं भूतो मध्याभिमासोऽपि शुभकर्मसु अवश्यं वर्जनीय एव। तत्र मध्याधिमासो ज्योतिः शास्त्रे प्रसिद्ध एव यद्यपि स्मृत्यादिप्रसिद्ध्यभावात् न्यूनदोष एव। अतः स्फुटाधिमसवदेव न वर्जनीय इति ये केचिद्वदन्ति नैतदुक्तम्। कुतः? ज्योतिःशास्त्राणां स्मृतिमूलत्वाच्च मुहूर्तानां ज्योतिःशास्त्रप्रमाणत्वाच्च—

अर्केन्द्वोर्यदि मध्ययोगयुगळं मध्यऽर्कमध्योत्थयोः।
सङ्क्रान्त्योरधिमास एष इति ते मासात्रयो निन्दिताः।। इति माधवीये।

मध्येमध्यार्कसङ्क्रान्त्योर्मध्यामान्तद्वयं यदि।
अधिमासः स्पष्टगत्या सम्सर्पोंऽहस्पतिर्न चेत्।। इति कालदीपिकायां च।

एवम् माधवीयकालदीपिकयोः मध्याधिमासेन सहैव अधिमासत्रयस्योक्तत्वाच्च ततैव सर्वत्र सदाचारदर्शनाच्च शुभकर्मसु स्फुटाधिमासवदेव मध्याधिमासोऽप्यवश्यं वर्जनीय एवेति सिद्धान्तः। तदेव स्पष्टमभिहितमाचारसङ्ग्रहे—

स्फुटाधिमासो मध्यश्च द्वौ च निन्द्यौ सुकर्मसु।
एक एवानयोः सन् स्यात् विवादात् वर्जते द्वयम्।। इति

तत्र स्फुटाधिमासत्रयवर्जने शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तः काल एव वर्जनीयः। अधिमास सम्भूते सौरमासे शुक्लप्रतिपदारम्भात् पूर्वकालश्च दर्शावसानात् परः कालश्च अधिमासत्वेन नैव वर्जनीयः। मध्याधिमासवर्जने तु मध्यचान्द्रमासशुक्लप्रतिपदा आरभ्य मध्यजनित दर्शान्तः कालो वर्जनीयः। तत्र केचिद् अस्मिन् स्फुटचान्द्रमासे मध्याधिमासः सम्भवति सः स्फुटचान्द्रमास एव वर्जनीयः न तु मध्यचान्द्रमासकाल इत्याहुः। तथा चोक्तम्—

मध्ये मध्यार्कसङ्क्रान्त्योर्मध्यामान्तद्वयं यदि।

तदा स्फुटैन्दवो मासः सोऽधिमासकसंज्ञितः।। इति।

एवं वचने सत्यपि नैवं सदाचारः। मध्याधिमाससम्भवे मध्यचान्द्रमासकाल एव वर्जनीयः। नैव मध्याधिमाससम्भूतः स्फुटचान्द्रमासकालः। एवं सदाचारः।

अह्नि गुरुसितयोः दृश्यतेति।। अह्नि दिवा गुरुशुक्रयोः दर्शनयोग्यत्वसद्भावः। गुरुशुक्रयोरिति द्वयोर्वा तयोरेकस्य वेत्यर्थः। यस्मिन् दिने अहनि गुरुशुक्रयोः द्वयोर्वा तयोरेकस्य वा दर्शनं सम्भवति तद्दिनमारभ्य यदा तयोरहन्यदृश्यत्वं भवति तावत्कालः शुभकर्मसु वर्जनीय इत्यर्थः। तथा चोक्तम्—

यदा दिवैव दृश्यते जीवशुक्रौ नभस्थले।

तयोरेकतरो वाऽपि स कालो बहुदोषदः।। इति।

तत्र अहनीयुक्तं यद्यपि पूर्वाह्णादारभ्य सायान्नत् पूर्वो यः कालः तस्मिन् काले तयोः दर्शनं सम्भवति चेदेव वर्जिते। प्राह्णे वा सायाह्णे वा तौ दृष्टौ चेत् नैव वर्ज्यते। एवं सदाचारो दृश्यते। उक्तं च—

प्राह्णासायाह्नयोर्मध्यः कालोऽत्राह्निपदोदितः। इति।

गुरुसितयोः मौ मिति।। यदा चान्द्रादीनां षण्णां सूर्यस्य सन्निकर्षात् सूर्यरश्मिहतप्रकाशतया तेषां अदृश्यत्वं सम्भवति तत् मौमित्युच्यते। अतो गुरुर्वा शुक्रस्य वा यदा मौमारभ्यते तद्दिनमारभ्य मौ पर्यवसानान्तः कालः शुभकर्मसु वर्जनीय इत्यर्थः। मौ मारम्भावसान कालौ गणितस्पष्टौ। गुरुसितयो: **मिथो दृष्टिरिति**।। यदा गुरुसितराशेः सप्तमराशौ शुक्रः तिष्ठति तदा तयोः अन्योन्यदृष्टिः सम्भवति खलु एवं तयोः अन्योन्यदृष्टिसम्भवकालः शुभकर्मसु वर्जनीय इत्यर्थः। एवम् अधिमासांहस्पतिसंसर्पसंज्ञास्त्रयो मलमासाश्च गुरुशुक्रयोः दिवा दर्शनमौ परस्परदृष्टयश्चेत्येते षड्दोषाः दिनमासकार्येभ्योऽन्येषु शुभकर्मसु अवश्यं वर्जनीया इत्यर्थः अधिमासशब्देन मध्याधिमासोऽप्युक्तः। अतः सोऽपि वर्जनीयः। तथा चोक्तम्—

मासाहरुक्तेभ्योऽन्येषु षड्दोषांश्च विवर्जयेत्। इति।

षड्दोषान् दिनमासोक्तादन्यत्र परिवर्जयेत्। इति शास्त्रान्तरे च।

तत्र निषेकं नामकरणमिति द्वे दिनकार्ये। पुंसवनसीमन्तविष्णुबलिगर्भरक्षानिष्क्रामणान्नप्राशना नीति षट् मासकार्याणि। एतेषु दिनमासकार्यकर्मसु षड्दोषा नैव वर्जनीयाः। अत्रोक्तेषु दिनमासकार्येभ्योऽन्येषु शुभकर्मसु षड्दोषा अवश्यं वर्जनीया इति तात्पर्यम्। अत्रोक्तेषु समध्याधिमासेषु षड् दोषेषु दिनमासकार्याणि कर्माणि विना विवाहोपनयनचौळादीनि शुभकर्माणि कृतानि चेत् आवर्तनीयानि।।

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -163-165

जैमिनिप्रोक्ताः विशेषांशाः

श्रीपतिः*

ज्योतिषामयनं चक्षुः इति वेदपुरुषस्य चक्षुर्भूतमिदं शास्त्रं तत्तदुक्तपुण्यकालनिर्णयहेतुत्वात् ज्यौतिषस्यापि वेदाङ्गत्वं सिद्धं भवति।। एतएवोक्तम्

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञम्।।

कालविधानशास्त्रस्यास्य वेदमूलत्वात् प्रत्यक्षशास्त्रत्वात् च परमप्रामाण्यं तु अस्त्येव। अतएवोक्तम्—

अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादास्तेषु केवलम्
प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ।।

एतादृशे शास्त्रे सन्ति त्रयः स्कन्धाः। तत्र होरास्कन्धे सर्वप्रजानां प्राग्जन्मार्जितकर्मविपाकानां विज्ञापनं विषयः। होराग्रन्थेषु आधानलग्नात्जन्मलग्नात् प्रश्नलग्नात् वा प्रतिव्यक्त्यनुभूयमानं फलं प्रोच्यते। बृहत्पराशर–जैमिनीयसूत्र–बृहज्जातक–प्रश्नमार्ग–रमलप्रश्न–नाड़ीग्रन्थादयः विविधप्रकारेण पूर्वकर्मफलप्रवाचकाः प्रसिद्धाः होराग्रन्थाः लोके दृश्यन्ते। तत्र जैमिनिसूत्रमिति अन्यतमम्। पाणिनिः यथा व्याकरणशास्त्रं सूत्रयामास, पतञ्जलिः योगशास्त्रं सूत्रयामास तथा सर्वप्रथमं ''**उपदेशं व्याख्यास्यामः**'' इत्यादिभिः जैमिनिः ज्यौतिषं शास्त्रं सूत्रयामास। एतञ्च उपलभ्यमानज्योतिषग्रन्थदर्शनात् ज्ञायते। अस्य कृतिरेव जैमिनीयसूत्रम्। एतद् उपदेशसूत्रमिति प्रसिद्धम्। जैमिनीये एव दृश्यमानाः विशेषांशाः अत्र विव्रियन्ते।

1. राशिदृष्टिः–अन्यत्र होराशास्त्रेषु ग्रहाणां परापरं दृष्टिः प्रोक्ता। किन्त्वत्र राशीनां दृष्टयः प्रोक्ताः। एतद्सूत्रि भगवता ''**अभिपश्यन्त्यृक्षाणि**'' ''**पार्श्वभे च**''[1] इत्याभाभ्यां सूत्राभ्याम्।

अभिपश्यन्त्यृक्षाणि—राशिचक्रे मेषादिराशयः स्वस्वसन्मुखान् राशीन् वीक्षन्त इत्यर्थः। तद्यथा मेषो वृश्चिकं पश्यति। वृषभस्तुलाम् मिथुनं धनुः इत्यादि।

पार्श्वभे च—पार्श्वराशिद्वयं च पश्यति। पार्श्वमिति राशेः उभयपार्श्वम्। तद्यथा— मेषः सिंहकुम्भौ। वृषभः कर्कटमकरौ। मिथुनं कन्यामीनौ पश्यन्तीत्यादि। तथा चरराशिः स्वसमीपस्थितभिन्नान् स्थिरराशीन् पश्यति। स्थिरराशिः सेवसमीपस्थितभिन्नान् चरराशीन् पश्यति। उभयस्तु स्व विना उभयानेव पश्यतीति पर्यवसितोऽर्थः।

द्रष्टा राशिः	मेषः	वृषभः	मिथुनम्	कर्कटः	सिंहः	कन्या

* शोधच्छात्रः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, राजीवगाँधीपरिसरः, मेणसे, शृङ्गेरी, कर्नाटकः।

	सिंहः	कर्कटः	कन्या	वृश्चिकः	तुला	धनुः
दृश्यराशयः	वृश्चिकः कुम्भः	तुला मकरः	धनुः मीनः	कुम्भः वृषभः	मकरः मेषः	मीनः मिथुनम्
द्रष्टा राशिः	तुला	वृश्चिकः	धनुः	मकरः	कुम्भः	मीनः
	कुम्भः	मकरः	मीनः	वृषभः	मेषः	मिथुनम्
दृश्यराशयः	वृषभः सिंहः	मेषः कर्कटः	मिथुनम् कन्या	सिंहः वृश्चिकः	कर्कटः तुला	कन्या धनुः

2. ग्रहदृष्टिः —त्रिदशत्रिकोणादिभिः वराहादिभिः या ग्रहदृष्टिः प्रोक्ता सा अत्र नोक्ता। अत्र तु दृष्टिविषयं सूत्रयामास **''तन्निष्ठाश्च तद्वत्''**[2] इति सूत्रेण। तन्निष्ठाः राशिनिष्ठाः ग्रहाः तद्वदभिमुखपार्श्वराशिस्थितगृहान् पश्यन्ति इत्यर्थः। एतदेव विवृतं ज्योतिः प्रदीपिकायम्—

चरास्स्थिरान् स्थिराश्चरान् उभये उभयस्थितान्।
समीपसंस्थितं त्यक्त्वा पश्यन्ति त्रीन् गृहानपि।।[3]

तथैव गर्ग :– पश्यन्ति पूर्णदृष्ट्याश्च सर्वं दृष्टिवशाद्वदेत्। ग्रहाणां तु त्रिधा दृष्टिः .....।।[4]

3. अर्गला– अर्गला नाम का इति जिज्ञासा। तच्च पराशरे–''भावखेटफलं विप्र यया भवति निश्चितम्। सार्गला मुनिभिः प्रोक्ता.....[5]''। तदर्थः एवम्— भावानां वा खेटानां वा फलम् येन निश्चितं भवति अर्थाद् भावखेटफलानां निश्चयार्थं कल्पिता काचिद्व्यवस्था। अर्गला इति तु पारिभाषिकीयं पदं वा योगविशेषः इति वक्तव्यम्। अर्गलाविषयस्तु जैमिनीये संज्ञाध्यायाख्ये प्रथमे पादे दृश्यते। तत्र तावत् तल्लक्षणमाह जैमिनिः षट्सु सूत्रेषु दारभाग्य इत्यादिभिः।

1. दारभाग्यशूलस्थार्गला निध्यातुः[6]–अत्र व्याख्याकर्ता लक्षमणः तावद् एवं व्याचख्यौ— दारं चतुर्थं, भाग्यं द्वितीयं, शूलं एकादशम् एषु स्थिताः ग्रहाः निध्यातुः द्रष्टुः ग्रहराशेः ग्रहस्य वा अर्गला भवति। अत्र शास्त्रे दृष्टिफलादायकस्य अर्गला इति संज्ञा। शुभानामेवेदं फलं तु निराभासार्गलेत्यादि।

2. कामस्थास्तु भूयसा पापानाम्—पापानां पापग्रहाणां रव्यारसौरिक्षीणेन्दुयुतबुधानां द्रष्टुः कामस्थाः कामेति तृतीयं तत्र स्थिताः पूर्वोक्ता एव पापग्रहाः भूयसा विशेषेण अर्गलाख्यां लभन्ते। पापानामिति सूत्राभावे कामस्था इति शब्दं केषामिति चेत् तत्कामस्था इति तृतीयस्थितपापानामेवेति केचित्।

3. रिःफनीचकामस्था विरोधिनः —रिःफं दशमं, नीचं द्वादशं, कामं तृतीयम् एषु स्थिताः ग्रहाः द्रष्टुः विरोधिनः अर्गलाविरोधिनो भवन्ति। अर्गलाविरोधी बलवांश्चेत् दृष्टिफलस्य हानिर्वक्तव्या। अर्थात् चतुर्थस्थित–अर्गलाया दशमस्थाः द्वितीयस्थार्गलायाः द्वादशस्थाः, एकादशस्थायाः तृतीयस्थाः बलिष्ठखेटाः बाधकाः भवन्ति न तु विबलस्थाः। तस्मात् चतुर्थ- द्वितीय - एकादशस्थानात् दशम - द्वादश- तृतीयस्थानेषु ग्रहाभावश्चेद् अर्गला सम्भवति। अत्र वृद्धकारिका—

भयपुण्यविनाभावाद् द्रष्टुराहुः शुभावहम्।
स्फुटगोज्ञेयभावात्तु विपरीतार्गलं विदुः।।

4. न न्यूना विबलाश्च—नकारेण व्युत्क्रमेण योज्यः। न्यूनाः भागान्यूनाः ग्रहाः विबलाः बलरहिताः न भवन्तीत्यर्थः। वक्ष्यमाणचतुरङ्गबलाधिकस्य पूर्णफलम् अर्गलाविरोधिविषये न विचारणीयमिति भावः।

5. प्राग्वत्त्रिकोणे—त्रिकोणे पञ्चमनवमयोः स्थितग्रहश्चापि द्रष्टुः ग्रहस्य प्राग्वत्। प्राग्वदर्गलविरोधी भवति। द्रष्टुः पञ्चमनवमस्थितग्रहः अर्गलविरोधी भवतीत्यर्थः। प्राग्वत्त्रिकोणमिति

सूत्रस्य आचार्या अन्यथा वदन्ति। तत्कथमिति चेत् त्रिकोणे त्रिकोणाख्ये सम्पद्दशायां प्राग्वदर्गलविरोधिविचारः कार्यः इत्यर्थः। इदमेव प्रयोजनमिति ग्राह्यम्।

6. विपरीतं केतो —केतोः राहुकेत्वोः सर्वत्र विपरीतं कार्यम्। दशायां राहुकेत्वोः लग्नयोगात् दशाप्रारम्भराशौ वा चेद्विपरीतम् उक्तक्रमवैपरीत्यं दशानयनम्।

4. अंशवशादात्मादिकारकनिर्णय —**कालात्मा दिनकृत्** ..... इत्यादिभिः होरायां रव्यादीनामात्मादिकारकत्वं सूचितम् परन्तु अत्र तावद्विशेषतः उक्तम्। तत्र सूत्रम्—''**आत्माधिकः कलादिभिर्नभोगः सप्तामानामष्टानां वा**''[7] **सूत्रार्थः** — रव्यादीनां सप्तानां ग्रहाणाम् अष्टानां राहुकेतुसहितानां वा यः अधिकः भागः कलाभिः सह आत्मकारकः इत्यर्थः। तस्य कारकस्य अनु पश्चात् सरणात् भागान्यूनतायाः सः अमात्यः। ततो न्यूनतायाः क्रमेण तस्य भ्राता, तस्य माता, तस्य पिता, तस्य पुत्र, तस्य ज्ञातिः, तस्य दाराः। ततस्ततो न्यूनाः भ्रात्रादिकारकाः इत्यर्थः।

5. देवताचिन्तनम्— केतुना गणेशे स्कन्दे च[8] इति गणपतिचिन्तनं केतुना प्रोक्तमिति विशेषः।

6. कर्मचिन्तनम्—आत्मकारकस्य नवांशतः कर्म चिन्तयेत्। तत्र रवौ राजकार्यादिवृत्तिः इति उक्तं चिन्त्यम्।

एवं बहुधा विशेषाः जैमिनिना प्रोक्ताः, किन्तु विस्तारभयान्नोच्यन्ते अत्र। एतादृशविशेषाः पराशरेऽपि द्रष्टुं शक्यते। वराहेणापि षट्क्लीबयोगेषु जैमिनिप्रोक्तराशिदृष्टिः अनुसन्धेयः इति मद्गुरुणा उपदिष्टम् एवं जैमिनिप्रोक्तविषयाः सर्वैरपि समादरणीयाः इति विरम्यते हस्तव्यापारात्।। शम्।।

सन्दर्भ

1. जैमिनिसूत्रम् 1.1.2
2. जैमिनिसूत्रम् 1.1.3
3. जैमिनिसूत्रस्य, ज्योतिःप्रदीपिकाव्याख्यायाम् 1.1.3
4. जैमिनिसूत्रस्य, ज्योतिः प्रदीपिकाव्याख्यायाम्— 1.1.3
5. बृहत्पराशरहोरा 32.2
6. जैमिनिसूत्रम् 1.1.4
7. जैमिनिसूत्रम् 1.1.10
8. जैमिनिसूत्रम् 1.2.79

ग्रन्थ-सूची

1. जैमिनीयसूत्रम्, विमला (संस्कृत-हिन्दी), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
2. जैमिनिज्योतिष (कन्नड़), बी.वि. रामन्।
3. जैमिनीयसूत्रम्, तत्त्वादर्शव्याख्या, मास्टर खेलाडिलाल एण्ड सन्स, बनारस।
4. बृहत्पराशरहोराशास्त्रम्, सुधा हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
5. बृहज्जातकम् (रुद्रविवरणम्)

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -166-170

Augmentation of Mayarasa : An Elucidation for Classical Rasa

Dr. K.V. Suresh*

Rasa, which is an integral part of the realities of life, finds its mention in Sanskrit poetry right from the Vedic days. The concept of Rasa during those days, though not an aesthetic one, contains the bliss element which is the core of Rasa Theory. Hence, any study of Rasa starts right from the vedic days. In Vedas Rasa is used to denote juice of the plant, milk or even as the essence of the veda itself.[1]

In upanaisads Rasa stands for Supreme Reality of Universe. The soul is pure consciousness and bliss is part of Universal Soul, which is Sat, Cit and Ananda.[2] Rasa is said to be the vital principle of kavya, the one which enlivens and animates it. Rasa takes different forms in different contexts. In Kamasutra Rasa on the basis of sex,[3] Charaka Samhita as body elements[4] and as moksa in Susrutasamhita.[5]

In a physical sense Rasa, is an extract or juice that can be seen whereas, it is a feeling of pleasure in the non-physical paradigm. Rasa is the one that introduces aesthetic pleasure and no work of art is complete if it is fails to produce the same in the mind the art-lover. Though Rasa finds its mention in a lot of texts, there has not been a single text which talks exclusively about Rasa, despite Rasa beings the heart and soul of anything artistic.

Swot up of Rasa forms an important part of literary criticism, the physical aspect of it, the philosophical aspect and the psychological aspect. According to Bharata, Rasa is at the root of all emotions and is the unification of Vibhava, Anubhava and Vyabhivaribhava.[6]

Indian aestheticians agree upon the fact that Rasa distinguishes the imaginative form the rest. Sat, Cit and Ananda are the three aspects of the same truth, and Ananda or bliss is left to poets blessed with inner perception.

Poets find the inner bliss through their literature endeavors into the realm of poetry or any other art work. The different categories of Rasa are srngara, hasya, karuna, roudra etc. These are just different manifestations of Rasa. Visvanatha was the one who came up with the concept of spiritual pleasure from Art.[7] Through they looked different, but identical in aspects. Jagannatha Pandita made major

* Associate Professor, Sree Sankaracharya University of Sanskrit, Kalady, Ernakulam, Kerala

contributions to Rasa Theory through his work Rasagangadhara. According to him Rasa is not only the Atman of kavya, but the consciousness itself. He explains Rasa Theory based on Vedantic Phraseology, Vedantic concepts and theory of knowledge. Bhamaha, Anandavardhana, Dhananjaya, Mammata Sankuka and Srikrsna Kavi also contributed to the Rasa Theory. According to Bhattanayaka, by the power of Bhavakatva, Rasa is enjoyed. Dandin which introduced a tendency to regard Bhakti as a Rasa, also stated that life of poetic language is also delineate of Rasa.

Abhinava Gupta proved the validity of Santa Rasa in both Natya and Kavya Sastras, and firmly established the legitimacy of nine Rasas. He also established the link between aesthetic experience and religious transformations. Rasa can be thought of as a pleasure arising from a contemplation of de-individualized emotions.[8]

Udhbhata was the first to accept Santa Rasa as one of the Rasas, Rudrata and Rudrabhatta also admits to nine Rasas including Santa Rasa.

Rupa Goswami believes that Madhura Rati for God which exists in devotees is a Sthayibhava. He called Bhakti Rasa as Raja Rasa since it is beyond imagination and is a secret. Mahimabhatta's theory of Rasa states that as the soul of kavya. Bopadeva and Hemadri believe Bhakti as the main Rasa which takes the form of a Rasas.[9] However, the earlier theoreticians had given Bhakti the status of Rasa than that of Bhava. Ever though they had eight or nine Rasas, it was also thought that we should not confine poetry to these traditional Rasas only. The Term Rasa can be summed up as 'aesthetic emotion' or 'aesthetic flavor'

Rasa is a feeling in which the mind transported above time and space and the beholder forgets his personal feelings and immerses him in a pierce of poetry or a play Prominent Rasas are related to first three ends of life namely Dharma, Artha and Kama. Along the same lines, the highest end of life, Salvation can be developed into another Rasa called 'Santa'. However, there are views which dispute the existence of such a Rasa based on the argument that Bharata did not include Santa as one of the Rasas. The counter argument for this asks the question on why we cannot have a Rasa for Moksa when we do have Rasas corresponding to other three purusarthas.

Nirveda is the renunciation or aversion for all worldly pleasures. Bharata, places Nirveda at the head of vyabhicharibhavas. Tatvajnana is the sthayibhava which leads to moksa. Any person who has realized the true nature of the self is always eager to do well to others. Vyanjanavrtti Rasa experience itself is the Rasa. The experience of the self itself is the Rasanubhuti. Though Rasanubhuti is Alaukika, it is not really opposed to the world or does not always occur in the world.

Dandin illustrated Preyan by two instance of devotion to God, Bhakti. It is natural that, in India, this sentiment of devotion should have been soon accepted as a Rasa. But Abhinavagupta and others, porposed to bring it under Santa. Santa is the Rasa relating to the final Purusanrtha, i.e. Moksa; and many are the paths leading to moksa. The three paths of Bhakti, Karman and Jnana are well known. It may be that Bhakti is in some cases an anga of Santa developed on lines of Jnana but the advocates of Bhakti held it to be supreme by itself. They made jnana and karma its aids; the release, moksa, from everything which was the aim of the jananin, was not favoured by the Bhakta. He wanted that he should permanently love God.

Just Vira Rasa has the four varieties, Dana etc. this Bhakti also has the varieties of Madhura or Srngara or Ujjvala, i.e. love as in the case of the Gopi-s towards Krsna, Sakhya as in the case of Arjuna, Vatsalya as in the case of Devaki, Yasoda, Vasudeva and Nanda, Dasya or servitude as in the case of other devotees.

Maya Rasa

The acceptance of Santa gave rise in later times to another controversial Rasa called Maya. Just as there is the possibility of depicting the Santa Rasa with psychological, religious and metaphysical concepts like Jnana, Bhakti, Sama, Dama, Samtusti, etc. there is also the possibility of depicting the Maya Rasa by showing the jivatman enmenshed in samsara as a result of mithyajnan or avidya, with characters such Kama, Krodha and Lobha. Everm as Santa is the Rasa of the state called nivrtti, Maya is the Rasa of the state called pravrtti. In a philosophical drama, the Rasa from which the hero escapes into Santa is Maya. The Rasatangini of Bhanudatta argues:

Cittavrtti dvidha – pravrttinivrttisca / nivrttau yatha santarasah, tatha pravrttau mayarasa iti prabhati.[10]

He points out how this Maya cannot be indentical with or included in Rati in its Bhava form, as indeed it appears in the illustrative versecited. If it is so, of what Rasa would that Rati-bhava be a Vyabhicarin? Not of any one of the eight Rasa-s; it cannot be of Srngara, for, we see in it one of its opposite Rasa, Bibhatsa; all the mutually antagonistic Rasa-s are present in the case of Maya. For this reason, it cannot be argued that Maya Rasa is the common name of all the eight Rasa-s which are its various forms, because this would obviate the need for Santasasa.[11] Rati and the seven other Sthayin-s become Vyabicarin-s of this Rasa of Maya. The view that Maya may be a comprehensive Rasa common to all Rasa-s covers only the eight Rasa-s, and not Santa which is its direct opposite, and will thus fall outside. The exact position however seems to be that instead of Santa being obviated, Maya Rasa will be rendered superfluous; for, it is one established in Santa who will see all

these eight, Rati, etc., as Maya, and that realization will be a Vibhava of Santa, forming part of Viveka: kintu vidyudiva ratihasasokakrodhotsahabha-yajugupsavismayastatra utpadyate viliyante ca/tena tatra vyabhicaribhava iti // The sthayin of this Rasa is Mithyajnana.[12]

The Rsadirghika of Vidyarama, describes the Maya among the Rasa-s.[13] The Hamsavilasa, a Tantri work by Hamsamitthu, accepts Maya as the tenth Rasa, with Mithyajana as its sthayin.[14] The Mandaramaranda-campu follows the Rasatarangini and describes the Maya Rasa of Pravrtti as well as the Santa Rasa of nivrtti.[15] This scholastic criticism, which goes into some of the features of the concept of Maya as accepted in metaphysics, does not meet the question properly. If it is argued that Rasa is nitya, anandarupa and hence of the form of the Brahman, and consequently Maya which is different from Brahman cannot be a Rasa, how does the author propose to explain Sringara, etc. as Rasa-s? They all come under Maya. If a portrayal of Bibhatsa, Bhayanaka and Raudra can be Rasa, why not Maya consider as a Rasa? One argument mentioned by the advocate of the Maya Rasa is this: As an opposite of the Santa Rasa, a Maya Rasa is possible; but let it not be a unitary Rasa; let it be the common name of all the eight Rasa-s. This can be countered by saying that as it is made up of Srngara and the seven other Rasa-s, are given specimen presenting a mundane activity can be called by one of the eight names and it is not necessary to have Maya as a separate Rasa, as it is only the common name of all the eight mundane Rasa-s of pravrtti. The jannin-s who sees the Maya in all those Rasa-s; and to them, this Maya will not produce citta-samvada or rasasvada; only the opposite, Santa, will produce response in them. Therefore practically speaking, there is no necessity for a Maya Rasa.

Mayarasa concept is a rational application for the external and internal appliance of rasa experience. In the philosophical sense of Rasa theory, Mayarasa is an important role to discuss the classical gratification in the scholarly level for the solution of Universal experience. Augmentation of Mayarasa in the classical theory of Rasa, it brings the graphical ascendant intensity and the solution for the subtle component of Rasa experience for the universal and the conventional echelon of treatise.

Reference

1. Reg Veda ix 63.13,65.15.
2. Taittiriya Upanisad II.7.1.
3. Kamasutra 2.1.32.
4. Susruthasamhita 15.16.
5. Charakasamhita 1.8.
6. Natyasastra VI. 32.

7. Sahityadarpana III.21.
8. Abhinavabharati Vol. II, GOS p. 575.
9. Bhaktirasamrtasindhu III. 5.2.
10. Rasatarangini ch.I p. 47.
11. Ibid. p. 83.
12. Ibid. p. 84.
13. Descriptive Catalogue, BORI, Madras, XII. 210.
14. Hamsavilasa, GOS 81, P. 253.
15. Kavyamala, Kasi Sanskrit Series 52, P. 106.

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 171-180

THE ORIGIN FORM OF INDIAN MEDICINE AS TRACED IN THE ATHARVAVEDA

Mrs. Anakshi Bora*

INTRODUCTION

The period of synthetic drugs for treatment of diseases is very recent one. Increase in knowledge about the causation of diseases and the effect of synthetic drugs on the corrective factors have given rise to the development of rationale therapy. Diseases have been known for thousands of years and many indigenous ways and methods have been followed for the relief of mankind. The sources of drugs have changed with times, consistent with the knowledge of the drugs and diseases at a particular period. Since the beginning of history of mankind, plants and trees have been used for the treatment of various ailments; the greatest advantage is the easy availability. The indigenous system of medicine in India has greatly exploited the use of plants. The selection of medicinal plants did not possess any rationale behind them, but only the experience of the physician through the ages.

Sources of literature

The earliest Indian textual evidence of medicine is randomly inserted in the corpora of its principal religious literature, primarily in the *Atharvaveda* and to much lesser extent in the *Ṛgveda.* The material contained in these two ancient texts is not wholly free from problems, but it is difficult to eliminate all the doubts which the literature still contains. One of the difficulties is the inadequacy of the accurate translation of the Sanskrit terms to their botanical counter parts. The actual medical doctrines are found mostly in the *Atharvaveda*, a religious text which contains much material of a secular nature. The present paper elucidate a healing tradition based on magico-religious beliefs in the *A.V.* and its practices furnished by the *Kauśika Sūtra*

The magico-religious healings of the A.V. are termed as "*Bhaiṣajyani*", which appears in the *Kau. Sūt.*[1] (*22-25*). These "*Bhaiṣajyani*' hymns are very important for the history of Indian medicine. According to Luis Renou it gives the first outline of Indian medicine.[2] The *Carakasamhitā* and the *Suśrutasamhitā* admit the importance of the *A.V.* as the source, of Indian medical science, i.e. *Ayurveda*. According to *Caraka* a physician should have studied the *A.V.* first as there is the description of the causes and remedies of the diseases.[3] *Suśruta* mentioned

* Research Scholar, Department of Sanskrit, Gauhati University, Guwahati

Ayurveda as one of the branches of the *A.V.*[4] So it is a very interesting task to investigate the original form of the Indian system of medicine as traced in the *A.V.*

Concept of Diseases

Among most cultures of the world, an individual is considered to be healthy when his life-time is long. It is believed that diseases attacked one, when he is physically unfit and unsound. The Vedic Indians attitude toward disease was dominated by the belief that evil spirits, demons and other malevolent forces invaded the body and caused their victims to exhibit a state of disease. These demons were often personified and giving rise to an entire pantheon of gods of disease. The attack may have come from a breach of a certain taboo, from a sin committed against the gods or from witchcraft and sorcery. Injuries were considered to be accidentally caused or the result of warfare. Various other external and internal diseases and afflictions were noticed to have been caused by noxious insects and vermin, often thought to be demonic in character.

It is believed that *Varuṇa* sends dropsy as a punishment for falsehood.[5] *Rūdra* is associated with various diseases, sharp pains are caused by his spears,[6] tumours are caused by his arrows. There is connection between Maruts and leprosy[7], between diarrhoea and *Parjanya*. It is mentioned in the *Kau. Sūt.,* that serpant *Takṣaka* is worshipped in the cure of snake-poison.[8]

Types of Medicine

The Atharvavedic medicine can be characterized essentially as a magico-religious system. The charm of the A.V. does not treat a disease with a diagnosis in the modern sense. So, it was very difficult to identify a disease in those days. Some symptoms were common and some were different.

The most important medicinines are the herbs, which are praised in many hymns. These herbs are viz. *Kuṣtha, arundhatī, Silāci, Ajasṛngī, Pṛśniparṇi, Pippalī, Nītatni, Rajanī, Uyāmā, Lākṣa, Jangiḍa, Muṛja, Haridrā, Sigru, Priyangu, Kārīra, Vibhītaka, Śinaparṇi, Sadāmpuṣpa, Alaba, Paraśu* etc. Waters were also believed as possessing the most healing powers. The earth from mole-hill and bee-hive is also used as antidotes. The products of cows such as *Ājya, Sarpi, Dadhī, Paya, Navanīta, Takra* are used as vehicles of medicines. Rice, Barley are also included into the remedial drugs. The *Kau. Sut.,* mentions the use of frog in the treatment of fever,[9] yellow birds in the cure of *Pāṇḍu*[10]. Amulets, some fragment powders are also used in the treatment of diseases.

Diseases mentioned in the *A.V.*

It is already mentioned that the *Bhaiṣajyāni* hymns in the *A.V.* deals with various diseases and their medicines. These diseases are fever, Jaundice, cough, diarrhea, leprosy, dropsy, scrofulous, opthalmia, fractures, wounds, lack of vital powers, constipation, retention of urine, the bite of snakes, scorpions and other

venormous insects, paralysis, flow of blood, poisons, worms and various types of skin and hair diseases.

The *Bhaiṣajyānī* hymns

The hymns for curing diseases are not found in a serial order in the *A.V.* The different spells having reference to many herbs for curing different diseases have been scattered in the different Kāṇdas of the A.V. These *Bhaiṣajyānī* hymns are discussed below in detail.

Hymns deal with internal diseases

A large number of spells are found in the *A.V*., which are devoted specially to the removal of the disease *Yaksma*[11]. *Yakṣmā*, is one of the internal disease demon, found both in human and cattle[12], which is characterized as entering and possessing each and every part of the body[13]. Its symptoms are disintegration of the limbs, fever, heart-ache and pain in all parts of the body[14]. The hymns of the *A.V.* speak of many *Yakṣmās*[15]. These are classified as speaking like a child and like an adult, suggesting that their victims were both children and adults[16]. There is the *Ajnātayakṣmā* and *Rājayakṣma*, which are after associated with other internal disease entitiles[17], many of whom have separate spells devoted to their removal and with various demons[18]. It has been stated in the *A.V.* that *Yakṣmā* is divinely sent and caused by sin[19].

The main cures for one afflicted by *Yakṣmā* included the recitation of the hymns, of which the most efficacious was *A.V.* II.33 along with the use of herbs. The most beneficial herbs are *Kuṣtha*[20], *Cipudru*[21] with whose help the disease is dispelled downward; *aruṇdhatī* also makes the patient free from *Yakṇmā*[22]. In the *A.V.* it is found that a lead amulet dispels the *Yakṣmā* downward and that *aṇjana* has the power to remove it from the limbs[23]. Gods including *Agni, Savitṛ, Vāyu* and *Āditya* also have the power to destroy *Yakṇmā*[24]. At *A.V.* VI.85 it is mentioned that an amulet fashioned from the *Varaṇa*-tree is able to restrain *Yakṣmā*; at *A.V.* XIX.36, the *Satavara* – amulet protects one from the*Yaksmas*; and hymn XIX.38 in the *A.V.* includes that the scent of the burning gulgulu plant disperse *Yaksma*.

Ksetriya is considered as a serious hereditary disease, which has been described mainly in three hymns[25] in the *A.V.* The symptoms of this disease are not clearly found in the *A.V. Sayana* considers it to be an anomalous word signifying a disease beginning with consumption, skin-disease and epilepsy, derived from the limbs of the father or mother, which is curable in the body of a grandson or son[26]. Bloomfield points out that *Ksetriya* may have been of the scrofulous or syphilitic order[27]. In the *Tait. Br*., it is found as the disease of uteru[28]. It is considered as a ferocious disease by the Atharvanic priests.*Babhru, Arjuna, Barley, Seseame* are used for the cure of *Ksetriya,*[29] *Apamarga* is also considered as the *Ksetriya* destroying plant. It has been also mentioned that the horn and the skin of a black antelope can cure the disease[30]. It is believed that then disease will be cured as

quickly as the swiftness of the black deer. Water, which known as the healer of all diseases, is also prayed for the removal of *ksetriya*.

"Apa id va u bhesjirapo abhivacatnanih

Apo visvasya bhesajistastva muncantu ksetriyat"*(A.V.III.7.5)*

A.V. I.25; V.22;VI.20 and VII.116 are the hymns against the internal disease fever by the very name '*takman'* i.e. the personification of fever as the demon *takman*. In the *A.V*. it is regarded as the most powerful among the diseases. The primary symptom of this disease is a hot-cold fever. Another symptoms are severe headaches, pounding in the eyes, thirst, redness and soreness of the joints. The patient has often jaundice, coughs, and also is afflicted by the disease entities of *balasa, udyuga, pāman anvrja* and *yakṣmā.* In the *A.V*. V.22.12 takman is put in a familiar relationship with *balasa*, his brother, cough, his sister and *pāman* his evil cousin.Takman has a connection with the yellow colour of jaundice, in fact, it is mentioned as the god of the yellow one [31]. A.V. II.2.22 and 26 are the charms where fever and cough are said Rudra's missiles or arrows which were conceived to be lightening streaks accompanied with thunder, i.e. the noise of a stallion horse[32]. Sometimes the victim feels very cold which causes him to tremble. It also causes excruciating pain and makes all body pain[33].

The *A.V*. contains the hymns V.4, XIX.39, were the plant '*Kustha*' is prayed for the cure of Fever. *'Kustha'* and *Âñjana* are the two basic medicines which are used to remove the jaundice and batasa and the symptoms of fever [34.] The Jangida-amulate was also worn by the victim to render the fever powerless. *Kustha* is mentioned as a divine aromatic plant with all pervading strength, the medicine for all diseases [35].These hymns do not express how or in which form the kustha plant was employed At Kau Sut. 28.13, it is indicated that the plant is to be crushed mixed with fresh butter and rubbed on the victim from his head to his feet [36.]

A.V. VI.105 is a charm against kāsa or cough. As already mentioned it is closely connected with takman, even being given the epithet, the sister of takman[37]. Along with fever or *takman, kāsa* is considered to be one of Rudra's weapons and with headache, it is looked on as one of the harmful effects of thunder and lightning[38.]

Hymn VI.105 is recited, with which the healer implored the demon to quickly away from the victim to a distant place swiftly like the mind, a sharpened arrow and the rays of the Sun.[39]

Hrdyota and *Pāndu* are discussed in the hymns I.22.1; V. 20.12; 30.9; VI. 14.1; 24.1; V.22.3 etc. *Hrdyota* is a kind of pain in the heart region, *Pānduroga* with its yellowness is associated with fever which brings headache, cough, spasm and Pāman. The basic remedy for hrdyota was water, while that for *Pāndu* was *Âñjana* [40].The purpose of the rites as illustrated by the unwanted bodily condition

and to replace it with the desired one. The sun as the source of heat and is yellow in colour is a suitable place to send the victim's burnings chest-pain and jaundice.

A.V. VI.76 (80). 3-5 is concerned with the disease entity known as Jāy*ā*nya, which is associated with yaksmā. It is a venerable disease also called as Tumour by Dārita.The remedy for *Jayanya* included the performance of an offering in the house of the ill person by a healer who, through his knowledge of its origin, establishes his power over the discasedemon. There is also found a medicine which is effective against *Jayanya*. The medicine may be anjana[41].

Atharvavedic hymn VI.14 and VI.127 are devoted basically to the eradication of the disease-demon *balasa*. *Sayana* and *Mahidhara* have understood the word to mean consumption or tuberculosis. Karambelkar mentioned that *balasa* is associated with *Kasa* and *Kilasa*[42]. The Atharvavedic charms imply that *balasa* is a internal type of disease. It attacked the limbs, in the joints, to loosen the bones and the joints and to afflict the heart[43]. In the *A.V.* it is mentioned that *balasa* removed by cutting it out; it was requested to dry up, become like ash fly away[44]. The principal remedy for this disease was the *cipudruplant*, which may have been said specifically the balsa destroying plant[45]. The *Jangida*- amulet was also employed to protect the victim from further attacks from *balasa* by making it powerless[46].

A.V. I.10, VII.83 and VI.24 represents the disease dropsy (*Jalodara*), which is an easily recognizable disease. Dropsy is associated with the heart disease[47]. Symptoms of this disease are pain in eyes, heels, and the front part of the foot. The people of those days thought that dropsy or *Jalodara* is inflicted by *Varuna* as a punishment of failure in moral duty. This disease is believed to be cured by flawing water[48].

A.V. II.4, III.9, XIX.34, 35 discuss the disease *Viskandha* and *Samskandha* or rheumatism. *Viskandha* is not said to reside the body like *Yaksma* and takman. It does not exhibit any of the characteristics of those demonic disease *Samskandha* suggest its opposite, about which nothing more is known[49]. The remedies and protections against *Viskandha*, a lead (*sisa*) – amulet is mentioned as expelling it and ointment is said to protect one from its attack[50]. The most valuable protector and destroyer of this disease was the *Jangida* plant, which appears to have been a cultivated plant used as an amulet[51]. It may also be equated with the plant arjuna[52]. *Jangida* is specifically given the epithet of the *Viskandha* running amulet. Being called the medicine for all, it was also effective against *balasa* and *takman* as well as the devourine demons, distress, the *raksas*,, witchcraft enemies, evil-eye, all *amivas* and *rsnus* and other who remain[53]. *Jangida* was considered as delightful, auspicious, having boundless strength, possessed of a thousand eyes and a thousand powers[54].

Hymns II.34, II.32 and V.23 are against worms, vermins etc. Hymn II.31 is a general incantation against worms, while the 2nd one is specifically directed to

worms in cattle and the 3rd one is against worms in children. In the *A.V. Krimis* are called parasitic and crawling vermin which enters either man or animal. These are divided into two types, those which are see, i.e. visible and those which are unseen, i.e. invisible[55]. These worms can be black, red, dark-brown eared, black with white arms, white underparts, and some seem to possess a poison-sac[56]. Some *Krimis* are described as being spotted and whitish with three heads and horms[57], some are looked like vulture and wolf[58]. They were known to have become most active during the early rainy season, and to have resided in mountains, in forests, in plants, in domestic animals in water and in the body[59].

These *Krimis* were removed by crushing and grinding them ritually[60]. (*A.V.* II.31) The charm of *Agastya* was recited to ensure the death of the demonic *Krimis*. The performance of this rite was suggested at sunrise, when the Sun's light exposed the invisible Krimis and aided in the destruction of all noxious Krimis with their heat[61].

A.V. I.3 is mainly concerned with the retention of urine, i.e. *Mutramochana*, which is connected with constipation also. This is the only hymn of its type found either in the *Rgveda* or in the *A.V*. It is expressed here, that one who suffers from urinary troubles or if there is obstruction in free flow of his urine, he can be cured by the charms. It is believed that the patients urine will be released like an arrow, flying to a distance when hurled from the bow[62].

Hymns deal with external diseases – The *A.V.* also contains the hymns which are closely connected with internal diseases. Internal diseases include broken limbs and flesh wounds, blood-loss, skin disorders, rash with pustules and loss of hair.

The A.V. I.23 and I.24 are charms against two kinds of skin disorders, i.e. *kilasa* and *palita*. The term *patila*, means 'pale' and it denotes in the *Su. Sam*, white hair caused by age and by pain[63]. In the *A.V.* the word indicates a white – coloured spot on the skin, closely related to kilasa[64]. On the other hand *kilasa* is more problematic. *Sayana* recognizes is it to be a skin disease characterized by *svetakustha*, a type of leprosy. In order to cure these diseases, the healer use the spells presumably *A.V.* I.23 and I.24. A dark colored herb which appears to possess a dyeing or tincturing quality could cure this disease[65]. These two plants are *Rajans* and *Syama*, which are born at night, in a dark soil and the environment in which it is found is also dark. So, they become the most effective medicines against leprosy and gray spots. VI.25, 83, VII.74 and VII.76 are the hymns against the skin disorder known as apacit (feminine). In the mentioned hymns this disease is described with related diseases.

It is characterized as raised bumps known as *gurvika* and *agru*. Its types are white, black and red [66]. These are associated with ooring boils or sores and seem to be located amongst the hairs of the head[67]. They were exposed and destroyed by

the light from the sun, suggesting that the rite was probably performed at dawn[68]. One treatment involved the use of salt[69]. The *parasu* plant is used as a remedy for this disease. The *jalasa, i.e. the foam of cows urine has been regarded as a potent remedy of this disease.*[70]

The A.V. VI.21; 136; 137 are the charms which deal with the strengthening of hair and the promotion of its growth. It is mentioned in the *A.V.* VI.136 that the principal ways of hair loss are – it fall out naturally, pulled out in battle or accidentally. The cure for such a condition involved the use of herbs, one of that is *nitatni*, which may have been concoctd and ritually sprinkled over the head of the patient suffering from the loss of hair[71].

Hymn 1.17 is a charm against the loss of blood. It is not explicitly stated in the hymn, there is only the implications. It is believed that the blood was issue from two types of vessels – the *hiras* which are smaller and the larger *dhamanis*[72].The ritual tradition prescribes the use of this hymn in the treatment of excessive blood-loss, which was caused by menstruation or by wounds. *Sayana* and *Kausika*[73] suggest that clay or sand from the street should be thrown on the wound

There is a hymn in the *A.V.* which is against a common external injury suffered by both men and animals. It is the broken bone which was caused by falling into a hole or being struck by a rock[74]. The principal cure for this kind of injury is said to be the plant *rohani*, made efficacious through its association with the goddess *Arundhati*.

There is another *A.V.* charm which is devoted to the cure of a very similar injury, the fracture or wound caused by a club, an arrow or a flame. *Laksa* or *silaci* is used to cure this injury[75].

Besides the mentioned hymns there are charms for easy child-birth, 76 charms to prevent miscarriage.[77] Against eye-diseases the hymns VI. 16 is employed by *Sayana*. There are also a number of spells in the A.V. to remove the poison entering the body through various sources. The clay or water from ant hill is used by the Atharvanic physicians as the remedy against poison.[78] *Sayanacarya* and *Kausika* mention a number of the hymns in the A.V. against all diseases (*sarvinvyadhi-bhaisajya*). These charms do not mention any particular disease against which they are to be used.

Conclusion

Reverence for the plant-life was an integral part of the Vedic Aryan's medical tradition and it gave rise to an elaborate pharmacopoeia which is evident in all phases of Indian medical tradition. There are varieties of medicinal plants found in the Vedic texts, these medicinal plants were well known to the Vedic seers. Their medicinal use receives more attention during the *Samhita* Period, due to great influence of the A.V. It can be said that the ideas of the A.V. received more thinking

and more criticism till they were put together to form a comprehensive theory regarding the pharmacology of drugs. In the course of development, the Atharvavedic hymns must have face great controversies. And only after a long scientific discussions, they could have attained their stability as found in the Caraka and the Sus'ruta Samhitas. It is found that many of the Athervavedic herbs still used in Ayurveda. The later texts on Indian medicine make the maximum use of the medical materials available in the A.V. This tradition has been developed on the basis of the Athervavedic herbs, towards which the information stated above should bear ample proof.

Abbreviations-

(1) *A.V. – Athervaveda*
(2) *R.V. – Rgveda*
(3) *Kau. Sut – Kausika Sutra*
(4) *Tait. Br. – Taittiriya Brahmana*
(5) *V.S. – Vajasaneyi Samhita*
(6) *Paip.- Paipalada Recension*

References

(1) *Kau. Sut*. 22-25
(2) Vedic India, P.21
(3) Caraka Samhita I.30.21;
(4) Susruta Samhita I.6
(5) R.V. I. 24.8
(6) Kau. Sut. 31.7
(7) Ibid. 26.24
(8) Ibid. 28.1;29.1;32.20
(9) Ibid. 32.17
(10) Ibid. 26.18
(11) A.V.II.33; VI.85; XIX.36; XIX.38.
(12) Ibid, VIII. 7.15, XII. 2.1
(13) Ibid, II. 33, VI. 85.1; IX. 8.7, 9,12
(14) Ibid, V. 30.8, 9; IX. 8.5; 13-19, 21, 22; XIX. 44.1-2
(15) Ibid, IX. 8.10-12, XIX. 36.4
(16) Ibid, XIX. 36.3
(17) Ibid, VI. 127.3, III. 11.1, XX. 96.6; Ibid III. 11.1, XI .3.39; XII.5.22 where he appears to attack a cow during the vulnerable time of urination, and in R.V. X./ 161.1 there is a myth of its origin.
(18) Among the affictions with which *yaksma* has a connection, there are *Jayanya, visalpaka* XIX.44.2, *takman* V.4.9; V.30.16; head diseases IX.8.1, 13; *balasa* IX.8.10; *visalpa, vidradha, vatikara* and alaji IX.8.20, IX.8.5 and *Ksetriya* II.10.5, 6; VIII.1.21.

(19) A.V. VIII. 7.2-3
(20) Ibid, V.4.9
(21) Ibid, VI.127.1.3
(22) Ibid, VI. 59.2
(23) Ibid, XII.2.1, 2, 14; XIX. 44.1-2
(24) Ibid, V.29.13, IV.25.5, IX.8.22.
(25) Ibid, II.8; II.10; III.7
(26) Sayana on A.V. II.8.1. *putrapautradisartre cikitsyah ksayakusthadidosadusitapitrmatradisarira vayavebhyya agatah ksayakusthapasmaradirogah ksetriy ity ucyate. "Ksetriyac paraksetre cikitsyah" iti ksetriyasabdo nipatyate.*
(27) The Atharvaveda and the Gopath Brahmana.
(28) Tai Br. II-2-6-3
(29) A.V. II.8
(30) Ibid III.7.1 '*Harinasya raghusyadodhi śirsani bhesajam/sa ksetriyam vasānayā visucinamaninasat'.*
(31) Ibid, I.25.2, 3
(32) V.S. 22;26
(33) A.V. V. 22-24; 10
(34) Ibid, IV. 9.3.8; XIX. 441, 2.
(35) Ibid, XIX. 39.1; Paip. I. 45. 4; V.22.3; XIX. 39.10; XIX. 39. 5-9
(36) Kusthalingābhir navanitamiśrenāpratihāram pralimpati; Kau. Sū 28.13
(37) A.V. V. 22. 10-12
(38) Ibid, XI. 2.22; I.12.3
(39) Ibid, VI.105. 1-3
(40) Ibid, VI. 24.1; IV. 9.3; IV. 9.3; XIX. 44.2.
(41) Ibid, XIX. 44. 1-2
(42) The Atharvaveda and the Âyurveda, P.219
(43) A.V. VI. 14.1; V.30.9, VI.127.3 and IX.8.8.
(44) Ibid VI.14.2;3 IX.8.10
(45) Ibid, VIII.7.10
(46) Ibid, XIX. 34.10
(47) Ibid, IV.24
(48) Ibid, VI.24.3
(49) Ibid, XIX.34.5
(50) Ibid, I.16.3; IV.9.5
(51) Ibid, II. 4.5; XIX. 34.6; It is called an herb (Osadhi) and lord of the forest (vanaspati) at A.V. XIX. 34.9;
(52) Ibid, II.4.1
(53) Ibid, II.41; III.9.6; II.4.4; XIX.34.5; II.4.3; XIX.35.5; XIX.34.10; II.4.6; XIX.34.2-4;

XIX.35.2-3; XIX.35.5.

(54) Ibid, II.4.4; XIX.34.8; XIX.35.3; II.4.2
(55) Ibid, II.31.2; V.23.6.
(56) Ibid, V.23.4-5; II.32.6.
(57) Ibid, V.23.9.
(58) Ibid, V.23.4.
(59) Ibid, XXII.1.46; Krimir jinvat prthivi yadyad ejati prāvrsi ---------- Ibid. II.31.5
(60) Ibid, II.31
(61) Ibid, V.23.6.7.10
(62) Ibid, I.3.9.
(63) Suśruta Samhita Nidānasthāna 13.32-33
(64) A.V. I.23.2.
(65) Ibid, I.23.1, 4; I.24.4
(66) Ibid, VI.83.2.3; VII.74.1
(67) Ibid, VI.83
(68) Ibid, VI. 83.1
(69) Ibid, VII.76.1-2
(70) The Atharvaveda and the Gopath Brahmana
(71) A.V., VI.21; VI.136.3
(72) Ibid, I.17.1-3
(73) Kau.Sut.26.10
(74) A.V., IV.12
(75) Ibid, V.5.1-9
(76) Ibid, I.11
(77) Ibid, VI.17
(78) Ibid, VI.100.1-3

———————

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -181-186

The Vedic Way of cooperation and World Fraternity

P.D. Mishra*

Today's world is strikingly confronted by tendencies and habits, which keep humanity divided. It might sometimes appear that there is no solution available for the great void now created among nations, races, religions and sects. There is such an insurmountable distrust, at times hatred and no hope of recovery perceptible that all scientific achievements and modern knowledge start appearing to be meaningless.

People often wonder if the conflicts and restlessness among nations, communities and individuals are not in direct proportion to the increase in the 'benefits' brought about by science and technology. The more ardently men and women chase happiness in their individual lives and in the outside world, the farther the goal appears to be moving away from them. This has given rise to widespread frustration deep in the hearts of the individuals, even in the most affluent societies. A growing sense of bewilderment continues to agitate sensitive minds, and the backlash of this disturbing state of affairs can be seen everywhere.

After all what is it that makes us slaves of our thoughts, customs or races. Is it so compelling that we cannot get over it? Why is it so sometimes that while fully aware of the rational part of a fact, we are driven away simply by the customs or practices and do not come to accept the universal truth struggling to establish itself within us? It is no surprise that we have been amending our theories about the secrets of life and the world again and again. Albert Einstein's Theory of Relativity turned the world of Newtonian physics upside down. Newton had assured us that space and time are both absolutes; space divides objects and time separates events. He asserted that space and time had- and will always have- the same meaning for every observer in the world. In contrast, Einstein established that space and time manifest differently to different observers. His Theory of Relativity not only proved that time and space are relative, but also threw open the question as to whether absolute knowledge is attainable at all.

This understanding has further undergone a dramatic change. Space is no longer seen as a container of objects; all matter is a condition of space and not separate from it. Einstein's Theory of Relativity prohibits the transmission of matter or even information at a speed faster than light.[1] Quantum mechanics dictates that

* President Maharshi Agastya Vedic Sansthanam, Bhopal, India

our knowledge of the subatomic world will always be slightly blurred. The Chaos Theory confirms that even without quantum indeterminacy, we would be unable to predict many phenomena. Kurt Gödel's Incompleteness Theorem denies us the possibility of constructing a complete, consistent, mathematical description of reality.

Practitioners of modern science are observing with considerable anxiety that "powerful social, political, and economic forces now oppose this vision of boundless scientific and technological progress. The cold war which was major impetus for basic research in the United States and the former Soviet republics has much less incentive to build space stations and gigantic accelerators simply to demonstrate their power. Society is also increasingly sensitive to the adverse consequences of science and technology, such as pollution, nuclear contamination, and weapons of mass destruction."[2] It is now widely accepted by scientists that like our universe humankind is fast evolving by 'minor and major' steps towards epochal change. James Redfield, Michael Murphy and Sylvia Timbers in their land mark book' God and the Evolving Universe' have to conclude that 'evolution is influenced by purposes or agencies that to some extent transcend and subsume the mechanisms of presently recognized mainstream science.'[3]

Increasingly, the world of science is taking recourse to the language of metaphysics. We are thus indeed now in a challenging juncture in the human history. A creative response to these challenges could open up an entirely new era, in which the search for knowledge and the pursuit of peace, harmony and happiness would be closely intertwined. A breakthrough should enable mankind to disentangle itself from the frustrating situation in which more solutions found prove to be only problems. We have reached this stalemate because the vast potential for discerning profound truths hidden in the forgotten labyrinth of history has remained untapped. Some secrets were unraveled and some of the eternal laws of nature discovered several thousand years ago, and handed down from generation to generation for our wellbeing. Subsequently, humankind lost that great trail of scientific discovery and profound Knowledge blazed by the great scientists of the Saraswati civilization. This civilization flourished in the catchments area of the gigantic river Saraswati, which dried up and disappeared underground following a prolonged spell of drought and natural calamities.

The society in the Saraswati basin enjoyed a rich culture. Great minds devoted themselves to the pursuit of knowledge, particularly in regard to fundamental questions about the origin of the universe and the laws and forces governing it. The men and women who were engaged in this search for truth were called the 'seers' (Drashta) who were in fact the great scientists of the time. They were honored being called seers because their vision and discernment enabled them to see the reality of the workings of the cosmos. These seer scientists bequeathed to posterity

an invaluable heritage of knowledge and insights, blending theory with carefully devised practices.[4]

Unfortunately we have as if deliberately avoided exploring this most ancient record of human history contained in the texts known as *Vedas*. These ancient texts endowed with profound thoughts and penetrating expositions, have suffered grave and sustained distortions throughout history. The seer scientists of the Vedas provide us with the answers to such questions as: How did the cosmos originate and what is its future? Of what is it made? Who is the 'I', the individual self? What is its place in the human society and the universe? The Vedas unravel the relationship between causes and their effects and between human actions and fruits of these actions. They identify the nature and roots of ignorance and give us the means to remove them. They analyze what comprises the human being and how it is different (and in what respects not different) from other species. Above all they weave their meaningful insights into *Dharma,* an intricate tapestry of ethics, duties, functions and guidelines for humanity to live peacefully and prosper.

A proper methodology to be employed in this study involves broad outlines of the corpus of Vedic literature. It will imply a withdrawal from the theory of British and German 'Indologists' who arbitrarily fixed the period of composition of the Vedas and caused confusion about the subjects covered in various texts. The Vedas are no more exertion in metaphysics, philosophy or spirituality. This is obvious from the fact that this corpus of knowledge has led to the development of subsidiaries like anatomy and medicine, architecture and town planning, meteorology and astronomy, language and linguistics, music and dance, statecraft and economy, social engineering and jurisprudence, psychology and physiology.

Various Vedic Research Institutes all over are continuously working these days immensely contributing to the retrieval and communication of the insights of the Vedas. The archaeologists and researchers of these organizations have now made possible the exposure of the enormous falsification of the Indian history. Let us now aim at exploring this fount of wisdom to be conveyed to the posterity in an unadulterated form. Some sounding principles, some beaconing light and some key notes from these books are therefore offered to the present world in the belief that they contain much that is valuable for today's troubled global society.

The answers to several questions that are baffling scientists and philosophers today, as well as the solutions to several daunting problems threatening human society are definitely contained within the treasure house of the Vedas. Access to these answers by study, contact, interaction, observation and analysis through books, internet, websites, cooperatives, seminars, organizations (Governmental and non-governmental both) and individual stores would open up the possibility of quantum leap into a world of new truths and new experiences, and a study of the knowledge contained in these texts should also help in understanding the founding

principles of cooperation and universal brotherhood of the most ancient civilizations in human history for now to follow. This would obviously open up a road map to the establishment of an enduring harmony and happiness on our planet. The Rig-Veda recorded this theme and situation no less than six thousand years back–

Assemble, speak together: let your minds be all of one accord…

The place is common, common the assembly, common the mind, so be their thought united …

One and the same be your resolve, and be your minds of one accord.

United be the thoughts of all that all may happily agree. (Rig.10.191)[5]

Origin and the Evolution of the Universe :

Long before the Big Bang theory of the origin of Universe came into existence, Rigveda in Purush Sukta[6] and Nasdiya Sukta[7] respectively speaks about a cosmic Yajna in motion in which the Creator Himself offered to sacrifice in the state of Singularity in which darkness and light had no distinction. There are many other long verses and stanzas such as Asyavamiya Sukta (verse 164 of Mandal 1 of Rigveda), Hiranyagarbha (verse 121 of Mandal 10 of Rigveda), Vishwakarma (81-82 of Mandal 10 of Rigveda), (verse 7 of Kand 10 of Atharva Veda) and Jyesth Brahm (verse 8 of Kand 10) Skambh etc. which when understood in right perspective throw proper light towards this understanding.

Life and consciousness on Earth :

The source of life, scientifically speaking, is the continuum of waves/particles at the quantum level that carry the code of life. These waves are present universally ever since the creation of the quantum envelops in the universe. Some thinkers believe that qualia are the micro form of consciousness just as quanta are the micro form of energy. Qualia, according to Philosopher Daniel Dennet,[8] are ineffable (they cannot be communicated), intrinsic (non-relational properties), private and directly or immediately apprehensible in consciousness.

Both consciousness and brain are essential for mind which in turn behaves like a mirror projecting objects for experiences. Its capacity of projection is seen when even while absent, objects are available in dream, imagination and hallucination. Looking at it whether at the inner or the individual level or outer the social or Cosmic level, Human Consciousness has manifold divisions such as Life consciousness, Sense consciousness, Self Consciousness, Language Consciousness, Rational Consciousness, Social Consciousness, Dream Consciousness, Creative Consciousness and Cosmic Consciousness.

Yajurveda in Shiv Sankalp Sukt[9] (first seven stanzas of thirty fourth chapter verse) speaks about this power of mind operating at individual, social and cosmic level in a very effective way. It also teaches the technique of exploring this faculty of it making use of its faculties positively. At the level of society, on the other hand,

there is Prithvi Sukt (verse 1 of chapter 12 of the Atharva Veda), for instance which suggests us to live on earth just like a common house in which we live in a family.[10]

Human Problems

Human beings are constantly confronted by many problems universally which, briefly worth mentioning, are those of longevity, materialism, poverty, sickness, security, belief systems, environment etc. We find very fitting answers and explanations in the Vedas for facing them bravely and live in lasting happiness and peace.

Whereas Vedic seer prays and desires to live hundred years with all his senses active and awake,[11] he also advises others to cherish the same desire as that is the right and just option available to all.[12]

Worldly riches do have significance and are necessary for human beings to toil for, but the means suggested for achieving them have to be fair. It clearly states that riches earned without shame are worth appreciation. Further the individual concern has to be coordinated in the collectivity of approach. That indeed leads to a life of immortality which we all so much aspire to.[13] It therefore advises for human beings to perform actions for the general well being and always directed towards higher pursuits. As regards the use and enjoyment of objects and material, Yajurveda states since everything here in the world, whether animate or inanimate, is integrated with God in its existence, we should first offer it to Him and only use it as its custodian. As a matter of fact, no one can claim oneself to be an owner of. This statement of fact strikingly brings all 'haves' and 'have nots' on the same footing and there remains no case of any cut throat competition for survival or success. [14]

Our varying belief systems and the concerns of environment are elaborately dealt in Vedic literature. As regards our religious faith and belief, Veda repeated stresses that the Supreme One is just one, no matter what or how many names we may have been given to Him.[15]

Vedic Concept of environment encompasses all basic elements of nature which are ether, air, water, fire and earth. The cosmic order (Rita) and animate as well as the inanimate characters of the cosmos are vigorously paid attention for operating in positive strength of support for mankind.

The sixty three long stanzas Prithivi Sukta of Atharva Veda is a highly scientific as well as poetic and philosophical understanding of its components and the characteristics for the general appreciation so that it continues to usher in innumerable riches and everlasting happiness to us.[16]

Thus the Vedic way to my hope and aspiration could be an easy and assured road map for humanity to live in an everlasting happiness and peace.

Reference

1. Albert Einstein, 1987, Farewell to Reason, London: Verso p.313

2. John Horgan 1997,The End of Science, New York, Bantam Export Edition p.23
3. James Redfield, Michael Murphy and Sylvia Timbers, 2003 'God and the Evolving Universe' BANTAM BOOKS LONDON NEWYORK p. 33
4. Before the Beginning and After the End by Rishi Kumar Mishra from Rupa & Co p.xii
5. (Translation of the original Sanskrit verse adapted from) Hymns of The Rigveda by Ralph T.H. Griffith Vol. II Munshiram Manoharlal Publishers p.661
6. Rigveda, Mandal-10, verse 90, stanza 6-7
7. Rigveda, Mandal-10, verse 129, stanza 1-3
8. Daniel C. Dennett : Consciousness Explained
9. Yajurveda, chapter, 34, verse 1-7
10. Atharva Veda Chapter-12, verse-1, stanza 45
11. Rigveda, Mandal 1, verse 69, stanza 8
12. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
    एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। ईशावास्योपनिषद् - 2
13. सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ सह।
    विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।। ईशावास्योपनिषद् - 14
14. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
    तेन त्यक्तेन बुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।। तदेव - 1
15. Rigveda, Mandal-1, verse 164, stanza 46
16. Atharva Veda, Chapter-12, Verse-1, stanza-44

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -187-194

Exploring an Effective method of Stress Management

Honey Premendra*, Prof. Dhananjai Yadav**

Abstract.

The productivity of the work force is the most decisive factor which decides its desirability as compared to other related factors by which it is concerned. Along with various other factors, an important factor which decides the achievement level of any teaching-learning process is 'Stress' which can affect any teaching-learning activity both positively and negatively. Stress can affect one's health, work performance, social life, relationships, family life, academic achievements etc. Stress in the field of education, particularly student's stress, has emerged as a major concerning issue for educators and has reached alarming proportions. Educational institution and policy makers always try to develop stress prevention and stress reduction techniques so that the ultimate aim of mental and physical wellbeing of students can be achieved. One of the important variable which can be assumed as a primary measure to deal with the stress of all kinds and helps in to deal with it by creating or modifying available articles in new situations is creativity, which under the defined realms of science is termed as 'Scientific Creativity.'

Scientific Creativity is a thinking and responding process that involves connecting with our previous experience, responding to stimuli (objects, symbols, ideas, people, situations), and generating at least one unique combination (Parnes,1963, as stated in Isenberg and Jalongo, 1997). Scientific Creativity is affected and also affects persons of various fields, at each and every stage of life.

The purpose of this study is to find out the relation (if any) in between Scientific Creativity and Stress at various dimensions and to which they are related to the various factors of students stress, as it affects the overall academic performance of both students and teacher. In the study, researchers will also try to find weather scientific creativity (and its various dimensions separately) helps in coping up with stress of male and female students, and if yes then upto what extent? Can Scientific Creativity be an efficient measure to

* Senior Research Fellow, Department of Education, University of Allahabad, Allahabad.
** Professor, Department of Education, University of Allahabad, Allahabad.

cope up with changing environment and by the stress produced due to it?

Key words*: *Scientific Creativity, Stress, Fluency, Flexibility, Originality, Inquisitiveness etc.

Introduction:

Stress is a negative consequence of modern living. In an age of highly dynamic and competitive world, man is exposed to all kinds of stressors that can affect him at every realms of life. Stress arises from an opportunity, demand, constraint, threat or challenge, when the outcomes of the event are important and uncertain. There are various factors which produces distress in the degree of physiological, psychological, and behavioral deviation needed for healthy functioning of any individual in changing environment.

One of the important aspect which enables individual to cope up with changing environment is, 'Creativity'. Creativity is a component that enhances the ability of organizations to retain their competitive advantage as well as to stay ahead in resisting stress of their changing working areas. In creative organizations, like schools, the ideas ,insights and emotional and psychological wellbeing of their students are of crucial importance, on which creativity plays an important role, particularly, '*Scientific Creativity'*.

Scientific Creativity is considered as a important part of scientific studies. As scientific creativity can be assumed as the basic need to solve problem, testing of prevailing creation in the new environment and also in innovating new inventions No doubt, science is more valuable and stable than the bookish knowledge when a man is able to probe certain principles, on the basis of his own experiments, his reasoning power and capacity to analyze things around him increases, form the moral point of view he is able to math progress. That is, it can be said scientific studies equip a person to be able to live successfully.

"*Scientific Creativity is the capacity of person to produce composition product or ideas of any sort which are eventually new or novel and previously unknown to the product. It can be imaginative activity or thought symmetries. It may involve the forming of new patterns and combinations of informations derived from part experiences..."*

- Drevdohl*(1956): Journal of clinical psychology, p.22.*

Scientific Creativity has been of central concern to all who work on creativity and is a topic that has been tackled by almost every major area in psychology ranging from Psychoanalytic accounts of creativity (Freud 1932), to Gestalt (Wertheimer 1945), Social (Amabile 1983), Cognitive (Simon 1977), and Psychometric approaches (Roe 1952). The other part of the reason for the vast interest in scientific creativity is that science is highly regarded in our society and by discovering the key components of Scientific Creativity it should be possible to

foster scientific discovery as well as in coping up with the changing environment of any individual. One of the most common ways of investigating effects of Scientific Creativity on various aspects, (Stress, in this study) has been by analyzing either the life of a creative scientist/student or how a scientist/student made an important scientific discovery in coping up with their changing environment. The goal of the analyses is to determine the mental processes that a particular scientist/student used to make a discovery or discoveries. This study is basically focused on the various factors of Scientific Creativity and attempts to explore its role in stress-resistance (if any) in between various factors like gender, stress differentiation of students on different dimensions described in the study.

Objectives of Study:

The present study was conducted on secondary school students with the following objectives*-

1. To compare the overall Stress of Male and Female students.
2. To compare the overall Scientific Creativity of Male and Female students.
3. To compare the effect of Scientific Creativity on various aspects of Stress of Male students.
4. To compare the effect of Scientific Creativity on various aspects of Stress of Female students.

Hypotheses of Study:

Following hypotheses were framed to conduct the study on secondary school students –

1. There is no significant difference in overall aspect of Stress of Male and Female students.
2. There is no significant difference on overall aspect of Scientific Creativity of Male and Female students.
3. There is no significant difference of Scientific Creativity on various aspects of Stress of Male students.
4. There is no significant difference of various aspects of Scientific Creativity on Stress of Female students.

Methodology of Study:

In this study *Field survey method* was used covering empirical study to compare the scientific creativity and stress differences of secondary school male and female students.

A total of 200 secondary school students (100 male and 100 females) of various secondary schools were selected randomly for the study, and on the basis of the stress test used in the test they were further classified in stressed and non-stressed male and female students separately. The selection of male and female

---

* These objectives will be studied on the basis of stresses students and non-stressed students separately.

and stressed and non-stressed male and female students can be shown as:

Table – 1

Total number of Male and Female students taken in study and number of stressed and non-stressed male and female students.

S.No.	Sample of students.	Stressed students	Non-stressed students	Total No. of students
1.	**Male Students.**	54	46	100
2.	**Female Students.**	67	33	100
	Total No. of students	100	100	200

Tool Used:

The standardized tool of Scientific Creativity developed by *K.S.Misra*, was used by the researcher which deduct scientific creativity on the dimensions of Fluency, Flexibility, Elaboration and Inquisitiveness with the help of 5 sub tests viz. Consequence Test, Unusual Test, Product Improvement Test, Inquisitiveness Test and Guess Cause Test.

Out of these five tests, first, second and fifth have two items each. And the maximum time limit for every test is three minutes and maximum time limit on the whole test is 15-20 minutes and for evaluation of Stress of students *'Students Stress Scale'* developed by *Z.Akhtar* was used by the researcher which includes 51 items to evaluate academic stress of students of 13-18 years.

Statistics Used:

Data was analyzed by applying mean, standard deviation and by calculating t-ratio to compare the various aspects of Stress and Scientific Creativity of secondary school students on basis of gender and on the basis stress they possess.

Results and Discussion:

Table-2.

Difference in Scientific Creativity in between Male and Female students:

Sample	N	M	S	σ_D	Calculated t-value	Tabulated t-value	Inference
Male Students.	100	35.04	3.46	1.07	0.14	1.98*	**Null hypothesis Accepted.**
Female Students.	100	35.20	4.01				

(*at 0.05 level of significance.)

As the calculated t-value = 0.14 is less than the two-tailed table value = 1.97 at df= 198, this value is not significant at 0.05 level of significance. Hence, null hypothesis *'There is no significant difference in Scientific Creativity of male and female students'* is accepted. It indicates that the overall Scientific Creativity

in male and female students do not possess any difference on basis of gender.

The mean score of students of male students(35.04) is found to be little different than that of female students(35.20), which also indicates that there is no significant difference in overall Scientific Creativity in male and female students on gender basis.

Table-3.

Difference in Stress in between Male and Female students:

Sample	N	M	S	σ_D	Calculated t-value	Tabulated t-value	Inference
Male Students.	100	10.86	2.96	0.92	4.62	2.60*	**Null hypothesis Rejected**.
Female Students.	100	17.40	4.42				

(*at 0.01 level of significance.)

As the calculated t-value = 4.62 is more than the two-tailed table value= 2.60 at df= 198, this value is found significant at 0.01 level of significance. Hence, null hypothesis '*There is no significant difference in Stress of male and female students'* is rejected. It indicates that on gender basis there exists discrimination on the dimension of the overall Stress of male and female students.

The mean score difference of male students (10.86) is found to be lower than that of female students (17.40), which indicates that there exist the gender discrimination on the dimension of the overall Stress of students, where female students are found more susceptible to stress than their male counterparts.

Table-4

Difference In between Stressed Male Students and Non Stressed Male students on overall Scientific Creativity and on various dimensions of Scientific Creativity:

S.N.	Dependent Variable	Means		S.D.		t-ratio	Inference
		SMS	NSMS	SMS	NSMS		
01.	**Overall Scientific Creativity.**	5.800	5.291	1.213	1.012	3.675	**NH rejected**
02.	**On dimensions of Scientific Creativity:**						
a)	**Fluency**	8.250	8.992	2.531	2.697	1.992	**NH rejected**
b)	**Flexibility**	7.971	7.921	2.781	2.432	0.160	**p<0.05**
c)	**Originality**	11.035	11.320	2.838	2.829	-0.841	**p<0.05**
d)	**Inquisitiveness**	9.090	8.085	2.782	2.721	3.656	**NH rejected**

Where, **SMS**=Stressed Male Students; **NSMS**=Non-Stressed Male Students.
'minus' sign indicates superiority of NSMS on SMS.

Observation of table-4, shows that mean score of stressed and non-stressed male students is found to be 5.800 and 5.291 respectively and the calculated t-value on overall aspect of scientific creativity is found to be 3.675 which is found significant at 0.01 level of significance. Thus, the null hypothesis, *'There is no significant difference in overall Scientific Creativity of stressed and non-stressed Male students'* is found to be rejected, which signifies that overall Scientific Creativity creates the difference in stress perception of male students.

On the various aspects of scientific creativity viz. fluency, flexibility, originality and inquisitiveness the calculated t-value for fluency(1.992) is found to be significant from the tabulated t-value at 0.01 level of significance and it implies that fluency exhibits significant effect on students stressed and non-stressed condition. Mean score on Fluency aspect of stressed male(8.250) is found lesser than the mean value of non-stressed male(8.992), which indicates fluency of stressed male is lower than that of non-stressed male students. The calculated t-value for inquisitiveness is found to be 3.656 which is found significant at 0.01 level of significance and it implies that inquisitiveness also, exhibits significance effect on students being in stressed and non-stressed condition.

The t-value of flexibility and originality factor is found insignificant at the level of 0.05 level of significance. Thus, it can be interpreted that the factor of flexibility does not affects the aspect of stressed and non stressed aspect of male students, whereas the aspect of originality affects with negatively on stressed and non stressed aspect of male students. Overall the null hypothesis, '*There is no significant difference of various aspects of Scientific Creativity on stressed and non-stressed Male students'* can be neglected to a large extent, which implies that the factors of Scientific Creativity like fluency, originality and inquisitiveness primarily, effects the state of being stressed and non-stressed male in their academic life.

Table-5.

Difference In between Stressed Female Students and Non Stressed Female students on overall Scientific Creativity and on various dimensions of Scientific Creativity:

S.N.	Dependent Variable	Means		S.D.		t-ratio	Inference
		SMS	NSMS	SMS	NSMS		
01.	Overall Scientific Creativity.	9.364	8.145	2.786	2.560	3.809	NH rejected
02.	**On dimensions of Scientific Creativity:**						
a)	Fluency	7.989	7.102	2.214	2.562	2.687	NH rejected

b)	Flexibility	5.586	5.878	2.982	2.893	-0.832	$p<0.05$
c)	Originality	6.537	7.485	3.123	2.892	-2.633	NH rejected
d)	Inquisitiveness	7.207	7.886	2.621	2.891	-0.975	$p<0.05$

Where, **SFS**=Stressed female Students; **NSFS**=Non-Stressed female Students. 'minus' sign indicates superiority of NSFS on SFS.

Observation of table-5 shows that mean score for Scientific creativity, of stressed and non-stressed female students is found to be 9.364 and 8.145 respectively and the calculated t-value(3.809) on overall aspect of scientific creativity is found significant at 0.01 level of significance. Thus, the null hypothesis, '*There is no significant difference in overall Scientific Creativity of stressed and non-stressed female students'* is found to be rejected, which signifies that Scientific Creativity exhibits a significant difference in stress coping behavior of female students, further the mean value of stressed females are found to be more than the non-stressed female students which indicates that Scientifically Creative females are generally more stress resistant than the non creative ones.

On the various aspects of scientific creativity viz. fluency, flexibility, originality and inquisitiveness the t-value for fluency and originality is found to be not significant at 0.01 level of significance and the values of calculated t-scores of flexibility and inquisitiveness is found to be less significant than the tabulated t-value at 0.05 level of significance, implies that they have a little negative effect on the stress bearing efficiency of female students. On because of factors like flexibility, originality and inquisitiveness of Scientific Creativity non stressed female students are found more effective in dealing with stress conditions than their stressed female counterparts.

Overall by summative evaluation of factor of Fluency, Flexibility, Originality and Inquisitiveness of Scientific Creativity researchers found that, the null hypothesis, '*There is no significant difference Scientific Creativity on stress of stressed and non-stressed female students*' can be rejected to a large extent and can be concluded that females good on the dimensions of Fluency, Flexibility, Originality and Inquisitiveness are more resistive to academic stress.

Findings of the Study:

Findings of the present study concludes that-

- There exists no significant difference on overall Scientific Creativity of male and female students, on gender basis.
- There exists a significant difference on overall Stress bearing capability of male and female students, on gender basis, female students are found to be more susceptive to stress than their male counterparts.
- There exists a significant difference (on the aspects of overall Scientific Creativity primarily on factors of fluency and inquisitiveness) in stressed

and non-stressed male students.

- Originality and Flexibility factor of scientific creativity of stressed and non-stressed male students are found to be more resistive by stress and strain.
- Male students good on dimensions of fluency, originality and inquisitiveness are found less susceptive to stress then the stressed males students.
- There exists a significant difference (on the aspects of overall Scientific Creativity primarily on factors of fluency, originality and inquisitiveness) in stressed and non-stressed female students.
- The factor of Flexibility of scientific creativity of stressed and non-stressed female students are found to be more resistive by stress and strain.
- Female students good on dimensions of fluency, originality and inquisitiveness are found less susceptive to stress then their stressed female counterpart students.

References:

- **Amaibile, T.M. (1983).** The social Psychology of Creativity. New York: Springer-Verlag.
- **Barron F(1969)**: Creative person and creative Process. *New York Halt*, Richart and Winston.
- **Boden, M. (1993).** The creative mind: Myths and mechanisms. New York, NY: Basic Books, Inc.
- **Csikszentmihalyi, M (1997).** Creativity: Flow and the psychology of discovery and invention. New York, NY, USA: Harpercollins.1962, 22 p 781.
- **Drevdohl J.E. (1956).**Personality and Creativity in artists and writers. *Journals of clinical psychology*, 14, p-107 -111.
- **Guilford J.P. (1956)**Creativity-American Psychologists-56, p-444-454
- **Isenberg, J. P. and Jalongo, M.R.(1997).** Creative Expression and Play in Early Childhood. Merrill, an imprint of Prentice Hall. Columbus, Ohio.
- **Roe, A. (1952).** The making of a scientist. New York: Dodd, Mead.
- **Simon, H.A. (1977).** Models of Discovery. Dordrecht-Holland: D Reidel Publishing.
- **Torrance, E. P. (1988).** The nature of creativity as manifest in its testing. In R. J. Stenberg (Ed), The Nature of Creativity: Contemporary Psychological Perspectives (43-75). New-York: Cambridge University Press.
- **Weisberg, R. W. (1986).** Problem solving and creativity. In R. J. Stenberg (Ed.). The Nature of Creativity: Contemporary Psychological Perspectives (148-176). New York: Cambridge University Press.
- **Wertheimer, M. (1945)** Productive Thinking. New York: NY Harper.

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -195-200

तुलसी के काव्य में राष्ट्रीय चेतना

डॉ. वन्दना श्रीवास्तव*

विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाने वाले गोस्वामी तुलसीदास अद्‌भुत व्यक्तित्व से समन्वित हैं। उनका चिन्तन इतना प्रखर है कि वह जीवन के विविध पक्षों पर सर्वांगपूर्ण दृष्टि डालता है, दृष्टि ऐसी व्यापक है कि वह देश–काल की सीमाओं को भी पार कर जाती है, चेतना इतनी प्रबुद्ध है कि वह एक साथ राष्ट्र, समाज, परिवार, अध्यात्म आदि मानव जीवन के प्रत्येक सरोकारों पर विचार करते हुए जीवन को सफल बनाने का मार्ग दिखाती है। पात्र अपने रचयिता के विचारों का ही प्रतिरूप होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में तुलसी ने एक ऐसे चरित्र की परिकल्पना की है जो मानवीय सम्बन्धों और आदर्शों की पराकाष्ठा है। जो मानव को मानव बनना सिखाता है। परिवार के ऊपर समाज और समाज के ऊपर राष्ट्र की महत्ता को दिखाते हुए राष्ट्र के लिए जीना सिखाता है। राम भारत की आत्मा है। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर कालिदास, गोस्वामी तुलसीदास ने लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक के कवियों ने इसी रामकथा द्वारा विराट राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व किया है। डॉ. देवकी नन्दन श्रीवास्तव ने अपने '**तुलसी साहित्य विमर्श**' में लिखा है, ''राम कथा का स्वरूप ही अपने आप में राष्ट्रीय स्तर पर भावात्मक एकता के विराट भाव जगत् पर प्रतिष्ठित है। राम के शील में भारत का शील, राम के सौंदर्य में भारत का सौंदर्य और राम के शौर्य में भारत का शौर्य अपनी चरम पूर्णता के साथ चरितार्थ हुआ है।''[1]

राष्ट्रीयता का स्वरूप जन्मभूमि के प्रति अखंड आस्था और अपने राष्ट्र की लोक परम्परा के प्रति गहन गौरव दृष्टि में व्यक्त होता है।

जन्मभूमि के प्रति प्रेम और अखंड निष्ठा राम के चरित्र की आत्मा है। 'मानस' में राम ने अवधपुरी को बैकुंठ से भी अधिक प्रिय घोषित किया है। वे कहते हैं—

''जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना।
अवधपुरी समप्रिय नहीं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोऊ-कोऊ।''[2]

राम को समुद्र तट से लेकर हिमालय तक सम्पूर्ण भारतभूमि से प्रेम है। उसके कण–कण में उनका हृदय रमा हुआ है। ''**परम रम्य उत्तम यह धरनी, महिमा अमित जाइ नहि बरनी।**'' राष्ट्रीयता और देश प्रेम की यह भावात्मक अनुभूति राम के चरित्र की विशेषता है।

राष्ट्रीयता का स्वरूप दिखाने वाला दूसरा पक्ष लोक परम्परा के प्रति गहन आस्था के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न संस्कारों त्योहारों, उत्सवों, पर्वों, समारोहों को देखा जा सकता है। तुलसी की रचनाओं में इनका बड़ा विशद् वर्णन मिलता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

* प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, श्री जे.एन.पी.जी. कॉलेज, लखनऊ

जातकर्म संस्कार— **''नंदीमुख सराघ करि, जातकरम सब कीन**
हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन कहँ दीन्ह।''[3]

नामकरण संस्कार— **''नामकरन कर अवसर जानि, भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी**
करि पूजा भूपति अस भाषा, धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा।''[4]

चूड़ाकर्ण संस्कार— **''चूड़ा करन कीन्ह गुरू जाई, बिप्रन्ह पुनि दक्षिना बहु पाई।''[5]**

श्राद्धकर्म — **''अविरल भगति माँगि बर, गीध गयऊ हरि धाम।**
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्हीं राम।।''[6]

इसके अतिरिक्त दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ कराना, पुत्र जन्म-उत्सव, यज्ञोपवीत, विवाह, तिलकोत्सव आदि संस्कार विस्तार से वर्णित हैं।

मानस में जिस समाज का अंकन तुलसी ने किया है उसमें व्यष्टि व समष्टि दोनों के पूँजीभूत स्वरूप अपने संपूर्ण परिवेश के साथ उभरा है। व्यक्ति के चरित्र का प्रभाव समाज पर पड़ता है और सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिंब ही राष्ट्रीय जीवन की झाँकी बन जाता है, यही कारण है कि ''तुलसी जिस समाज की कल्पना करके चले हैं, उसमें स्वार्थ, त्याग और बलिदान सिखाने की भावना निहित है। तुलसी समाज में व्याप्त दुःख, दरिद्रता और असमानता के निवारण के लिए चाहते हैं कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर, व्यवस्थित आचरण करे, जिससे सामाजिक सम्बन्धों में प्रेम, सौहार्द्र व सहानुभूति ही न विकसित हो, वरन् सामाजिक उत्पादन को भी बल मिले।''[7] तुलसी का अभीष्ट समाज के सम्मुख ऐसे आदर्शों को प्रस्तुत करना था जो प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक स्थिति के लोगों का मार्गदर्शन कर सकता था। राम कथा के पात्रों को लेकर देश काल की परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने कथा का निर्वाह किया। इसीलिए तुलसी के पात्र वन में योग-साधना नहीं करते वरन् समाज के भीतर रहते हुए अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास चारों आश्रमों का निर्वाह करते हैं और व्यक्ति के स्तर पर अपने कर्तव्यों को भली-भाँति पहचानते हैं। तुलसी का विश्वास है कि यदि व्यक्ति मर्यादा का पालन करता है तो निश्चय ही समाज में स्वस्थ परंपरा स्थापित होगी और राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा।

किसी भी सामाजिक व्यवस्था के सफल होने के लिए अनुकूल राजा और शासन प्रणाली अपेक्षित है। किसी भी राष्ट्र के उत्थान अथवा पतन में प्रमुख हाथ वहाँ की राजसत्ता का होता है। राजसत्ता जब अपने और प्रजा के बीच नैतिक सम्बन्ध समझ कर उसकी उन्नति के लिए उत्तमोत्तम योजनाएँ बनती चलती है तो राष्ट्र की उत्तरोत्तर प्रगति होती है। इसके विपरीत राज सत्ता प्रजा के प्रति अपने नैतिक कर्तव्यों की उपेक्षा करती है तो प्रजा का पतन होता है।

सामान्य रूप से राजा का अर्थ प्रजा पालक के रूप में लिया जाता है। जो व्यक्ति अपने कर्म से प्रजा के हृदयों में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न कर समाज को संतुष्ट रखता है वही राजा कहलाने का अधिकारी होता है। 'महाभारत' के 'शांतिपर्व' में कहा गया है **'राजा रंजयति प्रजाः'** अर्थात् राजा वही है जो प्रजा का पालन करता है। तुलसी भी उसी राजा को श्रेष्ठ मानते हैं जो अपने पद को प्रजा की सेवा के निमित्त मानता है। तुलसी राजा को ऐसा व्यक्ति मानते हैं, जिसका निजी स्वार्थ तो कोई होता ही नहीं, त्याग ही उसका व्यवहार हो गया हो तथा लोकादर्श और लोकरंजन ही उसका नियम। जिस राजा की प्रजा दुःखी होती है वह

राजा अवश्य ही पाप का भागी होता है—

''जासुराज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।''

तुलसी ने ऐसे राज्य की कल्पना की है जिसमें राज्य व्यवस्था का आधार प्रेम हो। राजा के लिए उन्होंने दो जरूरी गुणों का होना आवश्यक माना है—प्रेम और न्याय। राम में ये दोनों गुण मौजूद हैं। राम एक कुशल व निष्पक्ष न्यायधीश हैं सुग्रीव का राज्य सुग्रीव को दिला देना, दुष्ट रावण के राज्य को सुयोग्य विभीषण को सौंपना आदि उनकी नीति के परिचायक हैं। उनकी राजनीति में किसी प्रकार की कुटिलता नहीं है। परिस्थितियों का अध्ययन कर समयानुकूल कदम उठाना राजनीति का मूल सिद्धान्त है, जिसका राम पालन करते हैं। तुलसी राजा का नीति निपुण होना सर्वप्रमुख गुण मानते हैं। वे राजा के आदर्श रूप के लिए माली, सूर्य और किसान की उपमा देते हैं, जो बड़े परिश्रम से फूल पौधे उगाते उनका पोषण करते तथा अन्य उपजाते हैं। राजा को भी उसी प्रकार प्रजा का पोषण करना चाहिए—

माली, भानु, कृसानु सम, नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ-कबहुँ कलिकाल।

इसी प्रकार उन्होंने मन, वचन और कर्म की एकता पर भी जोर दिया है। जिसे भी स्थायी कीर्ति और ऐश्वर्य चाहिये उसे अपने पद के अनुरूप ही कार्य करना आवश्यक है—

''सारदूल को स्वाँग करि कूकर की करतूति
तुलसी तापर चाहिये कीरति विजय विभूति।

राम के द्वारा धर्मशील राजा के गुण का सुन्दर विश्लेषण उस समय किया गया है जब रावण को रथ पर और राम को पैदल युद्ध करते देखकर विभीषण ने चिन्ता व्यक्त की। इस समय राम ने आंतरिक गुणों से सम्पन्न एक विजय रथ की धारणा को स्पष्ट किया—

''सनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदनु आना।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे।
ईस भजनु सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर विज्ञान कठिन कोदंडा।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद विप्र गुरू पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा।''

(रा.च.मा. लंकाकाण्ड)

स्पष्ट है कि विजय के लिए सेना अस्त्र-शस्त्र आदि पर्याप्त नहीं है। उनका उपयोग शासक तभी कर सकता है जब उसमें शौर्य, धीरता, सत्य, शील, बल, विवेक, दमन, परोपकार, क्षमा, दया, बुद्धि, विज्ञान, निर्मल मन तथा साधु सेवा आदि के गुण हों। यही कारण है कि राजा की तुलना तुलसी दास ने मुख से की है जिस प्रकार मुख शरीर के सभी अंगों को आवश्यकतानुसार पोषक तत्त्व पहुँचाता है, वह पोषक तत्त्वों का संग्रह मात्र अपने लिए नहीं करता उसी प्रकार राजा को भी सम्पत्ति संग्रह मात्र अपने लिए न करके उससे

प्रजा का समुचित पोषण करना चाहिए—

मुखिआ मुखुसो चाहिए, खान पान कहुँ एक।
पालई पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक।।

इसमें सम्पत्ति पर एकाधिकार के स्थान पर समाज में उसके आवश्यकतानुसार वितरण पर जोर देकर कवि ने अपनी प्रजातान्त्रिकता पर विशेष बल दिया है।

''जौ पाँचहि मत लागइ नीका। करहुँ हरषि हिय रामहि टीका।
मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरब परेउ जनु पानी।''

कहकर गोस्वामी जी ने जनतन्त्रात्मक राज्य शासन की भावना को ही प्रतिष्ठापित किया है। राजतन्त्रवादी होने पर भी गोस्वामी जी की मूल प्रवृत्ति जनतान्त्रिक थी। उनके समय तक राजतन्त्र की ही परम्परा थी और जनतान्त्रिक भावना का उदय नहीं हुआ था, फिर भी उन्होंने राम के चरित्र और व्यवहार में शासक और नेता के जनतान्त्रिक दृष्टिकोण का बराबर उद्घाटन किया है। राजा की तरह प्रजा के लिए भी कर्तव्य पालन आवश्यक होता है। प्रजा केवल अपना हित देखे यह ठीक नहीं। प्रजा की एकता राष्ट्र की रीढ़ है। इस पारस्परिक एकता के अभाव में राष्ट्र खंडित होता है, असमानता बढ़ती है, पक्षपात बढ़ता है और अंततः राष्ट्रीय एकता में बाधा पहुँचती है। प्रजा की यह एकता राम राज्य की सबसे बड़ी विशेषता है। प्रजानुरंजनकारी राष्ट्रनायक द्वारा शासित सर्वशक्ति सुख संपन्न राज्य में ही राष्ट्रीयता का पूर्ण परिपाक संभव है। रामकथा के अंतर्गत राम राज्य के आदर्श में इनकी चरम प्रतिष्ठा की गई है।

राष्ट्रीय जीवन के मूलभूत आदर्शों पर यदि दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि इनमें धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और समत्व की भावना प्रमुख हैं। राष्ट्रीय जीवन के ये तीनों तत्त्व हमारे आज के संदर्भ में अपनी महत्ता रखते हैं। धर्मनिरपेक्षता के अंतर्गत मूल दृष्टिकोण सभी धर्मों के प्रति प्रेम भाव का है। गोस्वामी जी ने राम भक्ति को जिस रूप में रखा है वह किसी भी साम्प्रदायिक धर्म से अलग एक मानव धर्म का स्वरूप ले लेती है। उन्होंने सभी समुदायों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखा है। **'सीय राममय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोड़ जुग पानी'** कहकर सम्पूर्ण जगत् को सीय राम मय माना और सबके प्रति सम्मान प्रकट किया है। अपने ग्रन्थ 'विनयपत्रिका' में उन्होंने विविध समुदायों के उपास्य प्रमुख पंचदेवों की वन्दना की है, जो हैं गणेश, सूर्य, शिव, शक्ति और विष्णु। इस सम्बन्ध में डॉ. भगीरथ मिश्र कहते हैं—''गणेश वास्तव में ग्राम समाज के देवता हैं। वे गणपति हैं। हमारा देश भी एक गणतंत्र है, जो विघ्नों के नायक गणपति जैसे देवता की आवश्यकता है। सूर्य की उपासना फारसी धर्म में प्रचलित थी। तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में सूर्य देवता की भी वंदना की है। शिव, विशेष रूप से पश्चिम और दक्षिण भारत में आराध्य देवता रहे हैं। गोस्वामीजी ने शिव को विशेष महत्त्व प्रदान किया है और शिव और विष्णु का परस्पर प्रेम सम्बन्ध दिखाया है। अपने समय के शैव और वैष्णव संघर्ष को कम करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसी प्रकार शक्ति के रूप में उन्होंने दुर्गा, पार्वती, सीता आदि देवियों की वंदना की है और विष्णु के अवतार राम तो उनके आराध्य ही थे। इससे स्पष्ट है कि तुलसी द्वारा प्रवर्तित रामकथा किसी भी धर्म का विरोध नहीं करती, वह धर्म नरपेक्षता के तत्त्व को अपनाए हुए है। इस प्रकार अपने रामचरितमानस के द्वारा तुलसी ने जिस राम कथा का प्रचार किया वह व्यापक मानव धर्म के तत्त्वों को लेकर चलने वाली है और उसमें

साम्प्रदायिकता की भावना न होकर सभी धर्मों के प्रति प्रेमभाव है। मानव हृदय का यह प्रसार ही सच्चे मानव का लक्षण है।"[8]

धर्म निरपेक्षता के साथ राष्ट्रीय आदर्श का दूसरा प्रमुख तत्त्व है–समाजवाद। समाजवाद का प्रमुख पक्ष है पूँजीवाद या सम्पत्ति की एकत्रता का विरोध। तुलसीदास ने रावण का रूप एक पूँजीवादी के समान ही चित्रित किया है। जिसकी लंका सोने की है और जिसने सारे संसार की सम्पत्ति और विलास सामग्री अपने यहाँ पूँजीभूत कर रखी है। तुलसीदास ने स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"तुलसी त्रिलोक सौंज की समृद्धि सम्पदा सकेलि,
चाकि राखि रासि जाँगर जहान भो।"

राम ने रावण को परास्त कर उस पूँजीवादी संस्कृति का विनाश कर मानवतावादी तथा धर्मप्राण व्यक्तियों को समर्पित कर दिया, उसे स्वयं ग्रहण नहीं किया। यह कार्य समाजवादी भावना के अनुरूप ही है। तुलसी के रामराज्य में सभी अपनी योग्यतानुसार कार्य करते हैं। कोई दरिद्र और दुःखी नहीं है। कोई दूसरे को धोखा नहीं देता। यह कल्पना समाजवादी व्यवस्था की ही कल्पना है, जिसका चरमरूप इस बात में देखा जा सकता है कि बिना मूल्य दिये ही आवश्यकतानुसार वस्तुएँ बाजार में मिल जाती हैं— **"बाजार रूचिर न बनइ बरनत वस्तु बिनु गथ पाइए।"** इस समाजवादी दृष्टिकोण का परिणाम व्यापक समत्व की भावना है। समत्व की पराकाष्ठा है कि राजरानी सीता भी अपने घर का काम अपने हाथों करती हैं। जहाँ भी विषमता और स्वार्थ है, तुलसी उसका विरोध करते हैं—

"सहवासी काचो गिलहि, पुरजन पाक प्रवीन।
कालक्षेप केहि बिधि करहि, तुलसी खग मृग मीन।।
हरे चरिहिं तायहिं बरे फरे, पसारहिं हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत सब परमारथ रघुनाथ।।"

यह सह-अस्तित्व मनुष्य के प्रति ही नहीं वरन् मनुष्य के साथ अन्य निरीह प्राणियों का भी सह-अस्तित्व है। सामाजिक और राष्ट्रीय समानता का वर्णन तुलसी ने अपने राम-राज्य में किया है। जिसमें वे कहते हैं—**"बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विसमता खोई।"** वस्तुतः विषमता से हीन आधुनिक राष्ट्र की समाजवादी धारणा तुलसी ने दी है।

इसके अतिरिक्त तुलसी ने ऐसी स्थिति का भी चित्रण किया है जब एकाधिकार, एकछत्र स्वेच्छाचारी शासन हो तब विद्वानों, पण्डितों और कलाकारों के लिए कोई कार्यक्षेत्र नहीं रह जाता, मात्र स्वार्थी, लोभी व्यक्तियों का बोलबाला हो जाता है। यह स्थिति राष्ट्रीय जीवन और मानवीय संस्कृति के विकास में बाधक है। वे स्पष्ट कहते हैं—

"तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तौ दादुर बोलिहैं हमे पूछिहैं कौन।"

यदि राम के समान आज के मंत्री तथा राज अधिकारी, समाज के आततायियों, भ्रष्टाचारियों के नाश का प्रण करने लगे तो समाज के प्रत्येक क्षेत्र से भ्रष्टाचार का लोप हो जाये। आज के भारत में लोकतंत्रीय शासकों को तुलसी यही संदेश देते हैं कि पहले सर्वोच्च प्रशासन चरित्रवान् हो फिर क्रमशः उसके नीचे के

शासक स्वयं निष्कलंक एवं उत्तम चरित्र के होंगे। आज जबकि सांप्रदायिकता भयावह रूप धारण कर चुकी है ऐसे समय में तुलसी का संप्रदाय विहीन राष्ट्र अधिकाधिक प्रासंगिक हो गया है। आज हम सदृश शासकों की प्रेमपूर्ण राष्ट्रनीति की आवश्यकता है, जिनका आधार निजी स्वार्थ का त्याग और लोकहित है। राम के जैसा समस्त गुणों का आदर्श ही हमारी राष्ट्रनीति का आदर्श है और जो समर्थ नेता या कर्णधार उसका केन्द्र बिन्दु बनेगा, वह यदि राम नहीं तो राम की प्रतिमूर्ति अवश्य होगा।

इस प्रकार राम सच्चे अर्थों में भारत के परम राष्ट्र-पुरुष हैं और उनकी लोक मंगल विधायिनी कथा भारतीय राष्ट्रीयता की परम भव्यगाथा है और तुलसी की राष्ट्रीय चेतना की परिचायक है। आज हम इसी प्रकार के संस्कार अपने राष्ट्रीय जीवन में चाहते हैं, जिसका व्यावहारिक रूप तुलसी द्वारा चित्रित रामराज्य मे मिलता है। परम्परागत रामकथा के माध्यम से गोस्वामी जी हमें वर्तमान युग के लिए उपादेय और व्यवहार में लाने योग्य बातें बताते हैं। उसका कारण यही है कि उनका दृष्टिकोण और उनकी राष्ट्रीय चेतना मूलतः मानवतावादी थी।

सन्दर्भ-सूची

1. तुलसी साहित्य विमर्श—डॉ. देवकी नंदन श्रीवास्तव, पृ. 162
2. रामचरितमानस—गोस्वामी तुलसीदास, 7/4
3. रामचरितमानस-बालकाण्ड, दो० 193—गोस्वामी तुलसीदास
4. रामचरितमानस - बालकाण्ड—गोस्वामी तुलसीदास
5. रामचरितमानस-बालकाण्ड—गोस्वामी तुलसीदास
6. रामचरितमानस-अरण्यकाण्ड, दो. 32—गोस्वामी तुलसीदास
7. तुलसीदास और उनका युग—डॉ. राजपति दीक्षित, पृ. 11
8. महाकवि तुलसीदास-युग सन्दर्भ—डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 160

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 201-205

कबीर का काव्य और नाथ पथ

डॉ. सत्य पाल तिवारी*

मध्यकालीन भक्ति साधना में मानवता की जो उदात्त भावना व्यक्त हो रही थी उसमें सबसे ऊँचा और गम्भीर स्वर कबीर का था। कबीर मध्यकालीन उन तमाम जकड़ बन्दियों को तोड़ने में सफल हुए जो समाज को विकृत तथा विशृंखलित कर रही थी। वे प्रतिमा सम्पन्न तथा स्व-विवेकी थे। अनुभूत सत्य में विश्वास करने वाले थे प्रतिभा, अनुभव, ज्ञान, और कर्म की जिस चतुष्टयी ने कबीर को कबीर बनाया उसका आधार बहुत गहरा था। उनका व्यक्तित्व एवं कवित्व दोनों ही पूर्ववर्ती अनेक प्रभावों तथा परिवर्तनों को स्वीकार करके विकसित हुआ था। कबीर सच्चे साधक थे। गोरखनाथ तथा अन्य पूर्ववर्ती साधकों के प्रति उनके मन में आदर तथा सम्मान का भाव था उनकी बानियों में अनेक ऐसी है जो नाथ मतावलम्बियों में मान्य है।

नाथपंथियों का प्रभाव यूँ तो पूरे देश में था। लेकिन खास रूप से वे उत्तर भारत में ज्यादा ही सक्रिय थे। इन नाथपंथी साधकों ने अपनी योग साधना तथा ज्ञान के बल पर तत्कालीन समाज के हर वर्ग को प्रभावित किया था। कबीर भी अपनी साधना में नाथपंथियों से कई स्तरों पर प्रभावित दिखाई देते हैं। ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण व्यवस्था का विरोध, गुरू की महत्ता का प्रतिपादन, सहज की अवधारणा और भाषा शैली जिसमें उलटबासी को विशेष रूप से उल्लिखित किया जा सकता है—से सम्बन्धित कबीर के विचारों पर इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। लेकिन कबीर भी सूप स्वभाव सम्पन्न थे इसलिए उन्होंने ग्रहण करने में 'नीर-क्षीर विवेक' का काम किया और उसको उन्होंने उसी मात्रा तक ग्रहण किया जिससे उनकी निजात समाप्त न हो। "वे किसी का अंधानुकरण नहीं करते हैं, अपितु अपने ज्ञान तथा अनुभव की शुद्धि में तपाकर और ठोंक बजाकर ही उसे ग्रहण करते हैं। वे अधीत नहीं थे, बहुश्रुत थे।"[1] वे बड़ी खुशी से दूसरे की चुनौती को स्वीकार करते थे तथा दूसरे को भी बड़ी चुनौती देते थे। वे अवधू से चुनौती भरे शब्दों में कहते हैं—

अवधू जोगी जग थे न्यारा।
मुद्र निरति सुरति करि सींगी, नाँद न खंडै धारा।
बसै गगन में दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चड़ि अकास आसन नहिं छाड़ै पीवै महारस मीठा।
परगट कथा मांहै जोगी, दिल पै द्रप न जोवै।
सहस इकीस छ सै धागा, निहचल नौके पोवे।।[2]

---

* वरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा, पी.जी. कॉलेज लालगंज, प्रतापगढ़

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ योग और सन्तमत का सम्बन्ध स्थापित करते हुए बताया है–"भक्ति वाद के पूर्व निस्सन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था इसीलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं, इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है।[3] कबीर साहित्य का चिन्तन करने वाले सभी विद्वान् यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि नाथमत का सिद्धान्त और साधना दोनों दृष्टियों से सन्तमत पर प्रभाव है।" सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्व रूप हमें नाथपंथियों की सबदियों तथा जोगेसुरी बानियों में दीख पड़ते है जिनके विषय लगभग एक ही ढंग के हैं।"[4]

कबीर अनेक बातों में नाथपंथ के विचारों तथा मान्यताओं से प्रभावित थे। उनकी उलटबासियों तथा उनके बहुत से उपदेश सीधे-सीधे गोरखनाथ की बानियों से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। कबीरदास ने नाथमत के सर्वश्रेष्ठ साधक तथा प्रचारक युग-पुरुष गोरखनाथ के प्रति सम्मान का भाव प्रकट करते हुए कहा—

गोरखनाथ न मुद्रा पहिरी मस्तक नहीं मुड़ाया।
ऐसा भगत भया जु उपरि गुरू पै राज छुड़ाया।[5]

इस सम्बन्ध में डॉ. रामचन्द्र तिवारी का मत है कि—"नाथमत और वैष्णव भक्ति के सम्पर्क से याग और भक्ति समन्वित एक नवीन मत विकसित हुआ इसे सामान्यतः सन्तमत कहा गया। इसीलिए सन्तमत को नाथमत से प्रभावित कहने से अच्छा है कि उसे नाथमत का भक्ति संश्लिष्ट लोक सम्मत रूप कहा जाये।[6] कबीर की कुछ वाणियों को देखने से भ्रम हो जाता है कि कहीं ये गोरखनाथ की न हों। भाव साम्य के साथ ही अर्थ साम्य में भी दोनों में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है। कबीर की अनेक वाणियाँ गोरखनाथ की वाणियों से मिलती-जुलती है। कबीर की निर्गुण मतवादी वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्धधर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से सीधे सम्बद्ध है। "वे ही पद, वे ही राग रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाईयाँ कबीर आदि ने व्यवहार किया है। जो उक्तमत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों की थी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार क्या छन्द तथा परिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्ग दर्शक हैं।"[7] भक्त और एक सच्चा साधक होने के कारण, कबीर मानव का मानव के प्रति भेद स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने समाज में प्रचलित गुह्य तथा उच्शृंखल उपासना पद्धति का विरोध उसी तरह से किया जिस तरह से नाथपंथी योगी करते थे। नाथपंथियों की तरह कबीर ने भी पंचमकार साधना का विरोध करते हुए उसे सर्वथा वर्जनीय बतलाया। वे गोरखनाथ की तरह ही मानव को भोग-विलास से दूर रखना चाहते थे, क्योंकि यह मानव को भ्रष्ट तथा पतित बनाता है। उन्होंने शुद्ध, सात्विक आचरण पर बल दिया है। उनका कहना है कि यदि मन शुद्ध नहीं है तो भगवत्-भक्ति सम्भव नहीं है। इसलिए कबीर को शाक्त साधकों की अपेक्षा वैष्णव ज्यादा प्रिय हैं। क्योंकि वे शुद्ध आचरण वाले हैं—

साकत बाभन न मिलै वैष्णव मिलै चाण्डाल।
अंक माल लै भैटिये मानहु मिले गोपाल।[8]

कबीर ने नाथों की तरह अपनी रचनाओं में गुरू को महत्त्व दिया है। नाथपंथ में गुरू को सर्वोच्च

स्थान दिया गया था। वह शिष्य को सच्चा मार्ग बताने वाला था। बिना उसके इस संसार में ज्ञान संभव नहीं है। कबीर पर यह प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रलक्षित होता है। गोरखनाथ ने गुरू का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—

गुरू कीजै गहिला, निगुरा न रहिला।
गुरू बिन ज्ञान न पाइला रे भाईला।।

कबीरदास इसी बात को किंचित् अन्तर के साथ स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में सतगुरू के समान कोई भी हितैषी नहीं है। वह भगवान् से भी बड़ा और दयालु है। हरि के नाराज हो जाने पर तो शिष्य गुरू के पास जा सकता है और फिर गुरू के माध्यम से हरि को प्राप्त कर सकता है, लेकिन यदि गुरू नाराज हो जाऐ तो भक्त को भक्ति तथा ईश्वर प्राप्ति के मार्ग को बताने वाला कोई नहीं होगा। क्योंकि गुरू ही शिष्य को भवसागर से पार जाने वाले मार्ग को बताने वाला है। वही शिष्य के अन्दर विवेक और ज्ञान को जागृत करने वाला है। हरि के रूठने पर वह शरण देने वाला है अतः वे बड़े ही गर्व के साथ घोषणा करते हैं—

कबीरा हरि के रूठते गुरू के शरणे जाय।
कह कबीर गुरू रूठते हरि नहिं होत सहाय।[9]

नाथयोगियों की साधना मुख्य रूप से योग साधना थी। स्वयं गोरखनाथ ने भक्ति में योग पर बल दिया। उन्होंने भोग को साधना के क्षेत्र से बाहर किया। नारी शोधन, पिंगला तथा सुषुम्ना का जागरण, अनाहतनाद तथा कुंडलिनी जागरण, प्राणायाम, आसन तथा नादानुसंधान को योगियों के लिए अनिवार्य बताया। इन योगियों का विचार कि इनमें जागरण के बिना ईश्वर की प्राप्ति संभव नहीं है। नाथो ने षडंग योग के सभी तत्त्वों को अपनी साधना पद्धति में स्वीकार किया था। कबीर ने भी इन सभी पद्धतियों को सहर्ष स्वीकार करते हुए साधना के क्षेत्र में इनको महत्त्वपूर्ण माना है। ''कबीरदास ने मनोनिग्रह करने, मुद्रा साधने, कुण्डिलिनी शक्ति को शिव से मिलाने अनाहतनाद सुनने, शब्द के भुवन मण्डल व्यापी स्वरूप को मानव के भीतर लक्षित शब्द साधना करने, अजपाजप की साधना को महत्त्व देने तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता को समझने पर बल दिया।[10] कबीर का निर्गुण राम, नाथ योगियों के आराध्य द्वैताद्वैत-विलक्षण रामत्व का ही समानार्थी है। इसमें प्रायः वही सभी गुण पाये जाते हैं जो गोरख के आराध्य में पाया जाता है। कबीर ने अपने निरंजन राम की आरती गाकर भी योग साधना के प्रति अपने भाव का संकेत दिया है। जिसको वे नाथ कहते हैं, वहीं हरि नामधारी है। इन नामों के अभेद द्वारा हम कबीर तक पहुँच सकते हैं और उनकी वाणी से गोरखनाथ का अभीष्ट खोज सकते हैं। कबीर गोरख के योग को प्रेम का सहयोगी मात्र बना लेते हैं।

कबीर तथा नाथों की भाषा शैली में भी काफी समानता दिखाई पड़ती है। मुक्त शैली, साखी सबदी, चौतीसा, पद, प्रतीक तथा रूपकों के प्रयोग में कबीर नाथों के करीब दिखाई पड़ते हैं। दोनों की रचनाओं में व्यंग्योक्तियों का खुलकर प्रयोग हुआ है। कबीर की कई उलटबासियाँ तो ज्यों की त्यों गोरखबानी में पायी जाती है। बस केवल कुछ शब्दों का ही अन्तर है। कबीर तथा गोरखनाथ की वाणियों के साम्य को देखा जा सकता है—

''गोरखनाथ नीझर झरै अमीरस, पीवणा षटदल बेध्या जाई।
चन्द बिहूणाँ चांदिणों तहाँ देख्या श्री गोरखराई।।
कबीर मन लागा उनमन सौ गनन पहुँचा जाई
देख्या चन्द बिहूणा चांदिणाँ तहाँ अलख निरंजनाई।[11]

कबीर तथा नाथपंथी योगियों की भाषा शैली पर विचार करते हुए आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है—हो सकता है कि रचना की परम्परा गुरू गोरखनाथ आदियोगियों के आविर्भाव काल से आरम्भ हुई हो, क्योंकि खोज में कभी-कभी जागेश्वरी साखी जैसे पद्य संग्रह भी मिल जाते हैं।[12] शून्य मनः शुद्धि तथा रहस्य की अभिव्यक्ति आदि के प्रयोग में भी कबीर नाथों के साथ खड़े दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार गोरखनाथ ने शून्य में ईश्वर की भावना की थी, उसी प्रकार कबीर भी शून्य में निर्गुण ब्रह्म को देखते हैं। सदाचार से मन शुद्ध होने पर शून्य में स्थित मानी है। नाथों ने भूतोसिद्धि पर जोर दिया था, लेकिन कबीर आदि ने मन की शुद्धि और मन की सिद्धि पर विशेष ध्यान दिया। कबीर के अनुसार अजपाजप से मन पंगु हो जाता है ब्रह्म भावना का उत्कर्ष होता है और आत्मस्थ होने की सिद्धि प्राप्त होती है। नाथों की तरह कबीर ने भी अपनी साधना में सर्वाधिक महत्त्व आत्मचिन्तन पर दिया, रूपकों द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है कि आत्मा की मछली, धीवर, जाल और काल स्वरूपों में प्रकट है। इसी अभिव्यक्ति शैली से रहस्यात्मकता अंकुरित हुई है। जिसके फलस्वरूप पहले रूपक और उलटबासी की रचना हुई। चित्तवृत्ति निरोध में भी कबीर नाथों के बताये मार्ग पर चलते हुए जान पड़ते हैं। वे अपने मन को शरीर तथा परमात्मा से उसी प्रकार जोड़ते हुए जान पड़ते हैं जैसे नाथ जोड़ते हैं। नाद द्वारा मन की शून्यीकरण तक पहुँचकर वे सुख-दुःख के ऊपर लोकोत्तर अवस्था का अनुभव प्राप्त करते हैं।

कबीर समाज मे गिरते हुए नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों के प्रति बहुत चिन्तित थे। वे देख रहे थे कि समाज में अनेक गलित तथा रूढ़ मान्यताएँ प्रचलित हो गयी है। जो भारतीय समाज को भीतर से कमजोर तथा खोखला बना रही है। नाथयोगियों के यहाँ भी इसकी चिन्ता दिखाई पड़ती है। ब्रह्माण तथा संस्कृति और पुराण का विरोध नाथयोगियों के यहाँ पाया जाता है। नाथपंथ के योगी वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक नहीं थे। कबीर आदि संतों में यह प्रवृत्ति बहुत कुछ संभव है कि इसी परम्परा से आयी हो। ''ब्राह्माडम्बर खण्डन, जातिगत, भेदभाव की व्यर्थता, पुस्तकज्ञान एवं शास्त्रज्ञान की अनुपयोगिता, शुद्धाचरण पर बल, स्त्रीजाति को माया मूर्ति मानना, कथनी-करनी की एकता पर बल, तीर्थव्रत का विरोध आदि बातें नाथों एवं कबीर दोनों में समान रूप से पायी जाती है।[13]

सन्दर्भ-सूची

1. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका
2. डॉ. माता प्रसाद गुप्त सं.—कबीर ग्रन्थावली, पृ. 185
3. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 62
4. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृ. 15

5. कबीर ग्रन्थावली—हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग, पृ. 101
6. डॉ. रामचन्द्र तिवारी—कबीर और भारतीय सन्त साहित्य, पृ. 707
7. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 31
8. डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, कबीर ग्रन्थावली, पृ. 85
9. डॉ. पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली
10. डॉ. रामचन्द्र तिवारी—कबीर और संत साहित्य, पृ. 78
11. डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, गोरखबानी
12. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृ. 186
13. डॉ. रामचन्द्र तिवारी—कबीर और भारतीय सन्त साहित्य, पृ. 81

———————

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 206-211

रवीन्द्रनाथ त्यागी की व्यंग्य-भाषा-शैली के शिल्पगत विविध आयाम

सन्तोष विश्नोई*

हिन्दी व्यंग्य साहित्य में प्रथम पंक्ति के हास्य-व्यंग्य सर्जकों में रवीन्द्रनाथ त्यागी का स्थान सर्वोपरि है। लालित्य तथा उन्मुक्तता उनके व्यंग्य-लेखन की ऐसी विशिष्टता है, जिसके दर्शन हिन्दी में अत्यल्प हैं। इन्होंने अपने चारों ओर फैली विसंगतियों को इतने सरल तथा रोचक ढंग से व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त किया है कि पढ़ने वाला तिलमिलाता नहीं है, बल्कि हँसते-मुस्कुराते हुए मीठा दर्द महसूस करता है। रवीन्द्रनाथ त्यागी के व्यंग्य-लेखन में मानव-जीवन का कोई क्षेत्र नहीं छूटा है। समाज में जहाँ-जहाँ राजनीति, प्रशासन, शिक्षा आदि में विद्रूपता दिखाई दी, उन्होंने वहाँ अपनी व्यंग्य की मीठी छूरी चलायी है। आधुनिक साहित्यकार, कलाकार, प्राध्यापक वर्ग, शोध-छात्रों, दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों, अफसरों, बाबूओं तथा सामाजिक खोखलापन, छद्मतापूर्ण शिष्टाचारों, फैशन परस्तियों, नकलचियों की प्रवृत्तियों और वृत्तियों को इन्होंने अपने पैने व्यंग्य प्रहार का लक्ष्य बनाया है। वे वस्तुओं के स्वाभाविक और यथेष्ट कोटि के व्यंग्य-विनोद की सृष्टि करते हैं। जीवन जगत् की कोई साधारण-सी घटना, कोई बात या विसंगत चरित्र को आधार बनाकर व्यंग्य की कलात्मक उद्भावना करने की प्रवृत्ति उनके व्यंग्य की प्रमुख विशेषता है। आश्चर्य इस बात का होता है कि किस प्रसंग विशेष में अवसरोपयुक्त उद्धरण, सूक्ति, कविता-पंक्ति, संस्कृत के श्लोक, उर्दू के शेर या किसी साहित्यकार अथवा नेता की जीवनी से कोई प्रकरण घटना वे तत्काल प्रसंग में अनुस्यूत कर देते हैं। इतना अध्ययनशील व्यंग्यकार हिन्दी में अन्य कोई नहीं है।"[1] श्रीलाल शुक्ल के शब्दों में—"व्यंग्यकार की हैसियत से रवीन्द्रनाथ त्यागी उसी कोटि के लेखकों में आते हैं जो व्यंग्य को केवल चुटकी लेकर हँस देने का साधन ही नहीं बल्कि जो उसकी प्रौढ़तर और गहनतर संभावनाओं से भी परिचित हैं...।"[2]

रवीन्द्रनाथ त्यागी के व्यंग्यों में संप्रेषणीयता तथा रोचकता सदा मौजूद रहती है। डॉ. बालेन्दुशेखर तिवारी लिखते हैं कि 'रवीन्द्रनाथ त्यागी की व्यंग्य रचनाओं में कहीं भी रोचकता का सम्बल नहीं छोड़ा है। व्यंग्य-लेखन को एक उदात्त विन्यास देने में उनके व्यंग्य की महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता है।"[3] शैली की दृष्टि से भी उनमें ऐसा ही वैविध्य है—समीक्षा, पुस्तक-आलोचना, शोधपरक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, पत्र-शैली, ललित-निबंध, बाल-साहित्य, आत्मपरक लेख आदि गद्य के विभिन्न रूपों में उन्होंने अपनी लेखनी का कौशल दिखाया है। रवीन्द्रनाथ त्यागी के व्यंग्य-विस्फोट में हास्य, करुणा, अमर्ष, जुगुप्सा ग्लानि और तर्कादि भावों के विभिन्न क्षेत्रीय पात्र एवं प्रसंग, सम्पूर्ण वक्रता, लालित्य

* एस.आर.एफ. शोधछात्रा, हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

योजना, विभिन्न वस्तु-विधागत, कल्पना वैभव, सटीक सादृश्य योजना तथा विभिन्न अर्थों पर आधारित प्रतीक और बिम्बात्मक भाषिक प्रयोगों से उत्पन्न प्रहारात्मक व्यंग्य के विविध रूपों की सहज सृष्टि को यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगत किया जा सकता है। व्यंग्यकार रवीन्द्रनाथ त्यागी ने प्रारंभ से ही व्यंग्यीय वस्तु एवं तदनुरूप शिल्पीय सचेतनागत मौलिक प्रयोगों की प्रस्तुतियों के द्वारा हिंदी व्यंग्य के पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। रवीन्द्रनाथ त्यागी की भाषा सरल और रोचक है। उसका रसीलापन अपने-आप में विशिष्ट हैं जो पढ़नेवालों में रुचि जगाता है। रवीन्द्रनाथ त्यागी ने व्यंग्य के कथ्य पात्र एवं प्रसंगों के स्वरूपानुसार अंग्रेजी, अरबी-फारसी या उर्दू भाषा से शब्दों का चयन किया। उनकी भाषा यत्र-तत्र सर्वत्र भावानुगामिनी है। उनकी भाषा में जगह-जगह प्रयुक्त उर्दू के शब्द मिठास और नफासत को बढ़ा देते हैं। आम प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों-दफ्तर, आजादी, सौदा, इश्क, हैसियत, शौहर, जायदाद, बगावत, नस्ल, अफसाना, मुआयना, खिदमत, जायजा, निकाह, मकसद, मरहूम, रहम, महकमा, माहिर, बहरहाल, मुताबिक, दस्तूर, इलाका, खिलाफ, मसीहा, तशरीफ, हिफाजत, एतराज, हिरासत, तोहफा, कामयाब, किस्म, नुमाइश, अस्तबल आदि के अलावा रवीन्द्रनाथ त्यागी ने उन शब्दों का प्रयोग भी किया जो आम बोलचाल की भाषा में प्रचलित नहीं हैं। जैसे—''भोंपू की सहायता सिर्फ तकल्लुफ के लिए ली जाती थी।''[4]

''अदालत से सजायाफ्ता लोग चुनाव के लिए चुने जा रहे हैं—इससे बड़ा मजाक और क्या होगा?''[5]

''दिन चढ़ते-चढ़ते पता चला कि जरूरत की सारी चीजें दुगुने या तिगुने मूल्य पर कहीं-कहीं से अब भी प्राप्त हो रही है और इफरायत के साथ प्राप्त हो रही हैं।''[6]

''पुलिस ने पति-पत्नी दोनों के खिलाफ अदालत में इस्तगासा पेश किया है।''[7]

''अब उन्हें एकांत में रहना शायद मयस्सर न होगा।''[8]

एक व्यंग्य लेखक के लिए उसकी तीखी धारदार भाषा विसंगतियों पर चोट करने के लिए आवश्यक होती है। रवीन्द्रनाथ त्यागी संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू भाषा के मर्मज्ञ होने के कारण अपने व्यंग्य लेखों में सब भाषाओं के उद्धरणों की सहायता से चमत्कार उत्पन्न करते हैं। व्यंग्य शिल्पी रवीन्द्रनाथ त्यागी की व्यंग्य-भाषा विसंगतियों के स्वरूपानुसार लक्ष्य-भेदन के औचित्यपूर्ण कलात्मक सौष्ठव पर आधारित है। मूलतः कवि होने के कारण रवीन्द्रनाथ त्यागी के व्यंग्य-लेखों में सटीक शब्दों का कलात्मक संयोजन एवं लालित्यपूर्ण भाषिक संरचना सर्वत्र व्याप्त है। इस दृष्टि से उनकी व्यंग्य-भाषा में प्रयुक्त अंग्रेजी के शब्दों और वाक्यों की बहुलता भी विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। रवीन्द्रनाथ त्यागी की व्यंग्य भाषा में प्रयुक्त प्रचलित-अप्रचलित अंग्रेजी शब्द इस प्रकार हैं—**इन्फोजिस, डैमी आफीशल, मैनिफैस्टो, पोर्टेट, सेनोटोरियम, एडीशनल, एस्टेब्लिशमेंट, काउंटरसाइन, एक्सपेरिमेंट, प्रोविंशल, स्नाबरी, एब्नॉर्मल, कनफेशन्स, फ्राड, कन्फ्यूज्ड, कम्पोजीटर, बटलर, फैलोशिप, काउंसिल, इन्टेन्सीफाइड कोर्स, स्ट्रेटजी, इंटिग्रेटेड, फाइनेंस, लेजिस्लेटिव, मिनरल्स, फैडरल कोर्ट, डायोजिनीस, डाक्यूमेंटरी, आर्गुमेंटस, एक्वेरियम, प्रौक्टर, मोन्युमेन्ट एक्ट आदि।** व्यंग्यकार रवीन्द्रनाथ त्यागी ने भारतीय मैनर्स, शोक-स्पीच, लेबोरेटरियाँ जैसे अंग्रेजी के शब्दों का हिन्दीकरण भी किया है। रवीन्द्रनाथ त्यागी अपनी रचनाओं में रोचकता, प्रभाव और नई अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए

अनेक बार नए व्यंग्य शब्दों का सृजन भी कर देते हैं। जैसे—दोसाजीवी, घासाहारी, कहवाघर, लोचमयीकरण आदि। अन्य व्यंग्यकारों की तरह रवीन्द्रनाथ त्यागी ने भी अपने व्यंग्य के प्रभाव को बढ़ाने के लिए लोक प्रचलित मुहावरों, कहावतों, अप्रस्तुत विधान, प्रतीकों तथा सूक्तियों का कलात्मक रीति से प्रयोग किया है। मुहावरों की सान पर चढ़कर उनकी व्यंग्य भाषा और भी अनूठी हो गई है। ऐसी मुहावरेदार शैली भाषा के लक्षणा-व्यंजनात्मक जैसे विविध तेवरों की प्रतीति करा देती है।

जैसे—महल के शिखर पर बैठने से कौआ जो है वह गरुड़ नहीं हो जाता।[9]

हाकिम के अगाड़ी और घोड़े के पिछाड़ी कभी नहीं चलना चाहिए।[10]

पुरुष के भाग्य और स्त्रियों के चरित्र को स्वयं ब्रह्मा भी नहीं जानते।[11]

लोग पीठ पीछे बुराई करते थे और सबके सामने उसी लेखक या कवि का अभिनंदन जुटाते थे।[12]

मरे हुए शेर से तो जिंदा कुत्ता भी अच्छा ही माना जाता है, बुरा नहीं।[13]

जिस प्रकार लोहे को लोहा काटता है, उसी प्रकार रिश्वत जो है, उसकी रक्षा भी रिश्वत ही करती है।[14] एक चुप सौ को हरावै।[15] देर मंजूर है, अंधेर नहीं।[16] खाली से बेकार भली।[17] सीन पर से हटाना[18]

रवीन्द्रनाथ त्यागी की वक्र-शैली उनके कथनों को व्यंग्य-सूक्तियों का विशिष्ट दर्जा दिलाती है। ये सूक्तियाँ आकार में भले ही संक्षिप्त हो परन्तु इनकी प्रभावशीलता अत्यन्त तीव्र है। उनमें विशेष कथन की क्षमता विसंगतियों को पूर्णतः उजागर करने का सामर्थ्य होता है। उदाहरणतः—आजकल इज्जत उसी भद्र पुरुष की है जिसे पुलिस विभाग, आयकर विभाग और खुफिया पुलिस शक की निगाह से देखता है।''[19] आँखें चुराने की बात भी कोई नई नहीं है। दिल चुराने के बाद लोग अक्सर आँखें चुराते हैं।[20] गरीब आदमी से ज्यादा खतरनाक चीज दुनिया में कोई नहीं। हो तो मुश्किल, न हो तो मुश्किल।[21] जो काम सतयुग में तपोबल से और त्रेता और द्वापर में बाहुबल से होते थे। वे इस युग में सिफारिश से होने लगे।[22] विवाहित होते ही आप खुद-ब-खुद चरित्रवान बन जाते हैं।[23] 'अफसर नाम का जीव धर्म का वह खम्भा है जिस पर प्रशासन का आकाश टिका है।[24] व्यंग्यकार अपने अनुभव क्षेत्र का लाभ उठाते हुए परम्परागत उपमानों का नवीन रूप से प्रयोग आवश्यकतानुसार करता है। जैसे रवीन्द्रनाथ त्यागी **'शादी के पहले और उसके बाद'** रचना में किया, 'ये पत्नियाँ रूद्रप्रयाग के नरभक्षी तेन्दुओं से कही ज्यादा खतरनाक होती हैं। ये धीरे-धीरे आपकी तिजोरी, चेकबुक, आपका दिल और पूरा का पूरा घर इस होशियारी से अपने कब्जे में करती हैं कि आपको जब तक होश आता है तब तक ईस्ट इंडिया कम्पनी जो है वह प्लासी का युद्ध जीत चुकी होती है।''[25] प्रस्तुत उदाहरण में पत्नी को नरभक्षी तेन्दुआ कहना एकदम नवीन प्रयोग है। लेकिन जरूरी यह है कि प्रस्तुत के समतुल्य अप्रस्तुत को रखकर उन लोगों में ऐसा बिम्ब-प्रतिबिम्बत भाव प्रस्तुत करना है कि दोनों का वैषम्य रेखांकित हो जाए और व्यंग्यकार अपने लक्ष्य को मर्माहत कर डालें तभी यह प्रभावशाली होता है। कभी-कभी तो व्यंग्यकार नवीन उपमानों की झड़ी-सी लगा देता है, जिसके कारण सर्वथा नवीन, विलक्षण व बेतुकी उपमाओं द्वारा व्यंग्य भाषा को अभिव्यंजक बनाया जा सके। **'सन्निपात : एक नयी किस्म का'** रचना में रवीन्द्रनाथ त्यागी लिखते हैं, ''देशभक्ति के तंदुरस्त कीटाणु कभी-कभी

तो रक्त में इतने जोर से उछल-कूद करना शुरू कर देते हैं कि रोगी का रक्त-चाप बढ़ जाता है, वह जीप लेकर गाँव-गाँव घूमने लगता है, जहाँ चार आदमी इकट्ठे देखे, वहीं गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने लगता है, वगैरह-वगैरह।"[26] रवीन्द्रनाथ त्यागी ने नवीन और परम्परागत उपमानों का प्रयोग कर कहीं प्रस्तुत, कहीं अप्रस्तुत तो कहीं प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों पर व्यंग्य किया है। **'फाइले और फाइले'** रचना में रवीन्द्रनाथ त्यागी ने परम्परागत रूपक का प्रयोग करते हुए लिखा है, "ये सरकार की फाइल भी अजीब चीज है। सरकार रूपी जो प्रेत है, उसके प्राण फाइल रूपी तोते में ही रहते हैं। इसी कारण फाइल को हिफाजत से रखा जाता है और आमतौर पर उन पर कोई कार्यवाही नहीं की जाती है।"[27] परम्परागत रूपक 'प्रेत' तथा उसके प्राण 'तोते' के प्रयोग द्वारा रवीन्द्रनाथ त्यागी ने सरकार की गतिविधि तथा फाइल संबंधी दृष्टिकोण की विसंगति पर कटाक्ष किया है। इसी प्रकार **'संगीत : मेरा दुश्मन'** रचना में उन्होंने 'वृक्ष' और 'फल' रूपक द्वारा आत्मव्यंग्य किया है **'मेरा संगीत प्रेम अनंत'** हो गया। कुछ विशिष्ट कारणों से यह प्रेम विवाह रूपी वृक्ष में नहीं बदला और न इसमें सन्तान रूपी फल ही लगे, लेकिन फिर भी इस बात को कहने में मुझे कोई शर्म नहीं लगती कि संगीत से मुझे प्रेम है और बड़े जबर्दस्त किस्म का प्रेम।"[28]

एक प्रकार से प्रतीक भी व्यंग्य-साहित्य की जान है। रवीन्द्रनाथ त्यागी ने अपने साहित्य में विसंगतियों और विडम्बनाओं को उजागर करने की दृष्टि से प्रतीकात्मकता का सहारा लिया है। 'गुलमुहर' रचना में परम्परागत प्रचलित प्रतीकों का प्रयोग कुछ इस तरह किया है, "सरल शब्दों में स्थिति यह थी कुछ गिने-चुने शरीफ आदमियों ने 'भक्तिकालीन' दफ्तर में 'वीरगाथाकाल' लाने की कोशिश की थी।"[29] रवीन्द्रनाथ त्यागी के साहित्य में कुछ शब्दों का प्रतीक रूप में प्रयोग निम्न अर्थों में हुआ है। जैसे—"जूता" ओछेपन अथवा घटियापन हेतु, 'जोंक' शोषक वर्ग हेतु, साँप आधुनिक सभ्यता के अर्थ में आदि। व्यंग्य सृजन में प्रतीक शब्दों का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। **'एक जरूरी बयान'** रचना में रवीन्द्रनाथ त्यागी ने चूहे के प्रतीक द्वारा भ्रष्टाचार-निवारण के नाम पर भ्रष्टाचार को ही आश्रय दिए जाने की विडम्बना पर बड़ा ही संबल व्यंग्य किया है। रवीन्द्रनाथ त्यागी अपने प्रतीकों के माध्यम से अनजाने ही व्यक्ति के अवचेतन को झकझोर डालते हैं। जिसके कारण वह स्वयं परिस्थितियों से संघर्ष करने के लिए तिलमिला कर उठ खड़ा होता है। आलोचक की तुलना उल्लू से करते हुए **'हिन्दी साहित्य में आलोचना की अत्येष्टि'** रचना में रवीन्द्रनाथ त्यागी लिखते हैं, 'उल्लू और आलोचक के बीच यह निश्चय करना कठिन है कि इनमें कौन श्रेष्ठ है। जिस प्रकार उल्लू को अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है वैसे ही आलोचक जो है वह रचना के दोष ही दोष पकड़ता है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी रवीन्द्रनाथ त्यागी ने अभिप्रेतार्थ की अभिव्यक्ति द्वारा व्यंग्य-सृष्टर्थ साहित्य, धर्म-दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, काव्यशास्त्र, राजनीति, इतिहास-पुराण, चिकित्साशास्त्र जैसे विविध क्षेत्रों से भी शब्दों का चयन किया है। वास्तव में साहित्य के बाहर के शब्दों का साहित्य में प्रयोग करना विचलन कहलाता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग कर व्यंग्यकार दोहरा प्रहार करता है। प्रथम वर्णित विसंगति पर तथा दूसरा शब्द जिस क्षेत्र का है उस क्षेत्र की विसंगति पर। शल्यचिकित्सा क्षेत्र के शब्द 'पोस्टमार्टम' का साहित्य क्षेत्र में प्रयोग विचलित प्रयोग कहा जाएगा, इसी प्रकार अन्य उदाहरण 'बीमा आयोग को सर्वप्रथम प्रेम के क्षेत्र पर एकाध नजर डालनी चाहिए। इस क्षेत्र में अब तक कवि, लेखक और अदालत ही घुसपैठ करते आए हैं।[30] यहाँ 'घुसपैठ' शब्द साहित्येतर है।

रवीन्द्रनाथ त्यागी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी वर्णन-शैली और आत्मकथात्मक शैली का सौंदर्य

पर पकड़ है। रवीन्द्रनाथ त्यागी के लेखन में आत्मकथात्मक शैली के बहुतायत उदाहरण देखने को मिलते हैं। इस शैली में रवीन्द्रनाथ त्यागी स्वयं अपने आपको ही नहीं बल्कि पत्नी, दफ्तर, मुहल्लेदार, किरायेदार, अफसर, चरित्र, निर्माता, नौकर, विवाह, अपना घर, यात्राएँ, अपने बचपन आदि से जुड़े आत्मकथात्मक आलेख के रूप में उनकी रचनाएँ उनके जीवन से जुड़ी परिस्थितियों का हमें दिग्दर्शन कराती है। उनकी आत्मकथात्मक शैली **'मेरा शुभविवाह' 'मेरी रचना प्रक्रिया', 'घरेलू नौकर कुछ प्रसंग' 'मेरी षष्ठिपूर्ति', 'मेरे चरित्र निर्माता'** आदि रचनाओं में देखने को मिलती है। साथ ही रेखाचित्र शैली का कुशल प्रयोग हम रवीन्द्रनाथ त्यागी के व्यंग्यों में देख सकते हैं। इस शैली के अन्तर्गत व्यंग्यकार व्यंग्य-पात्र का वितरण चित्र खींचकर पाठकों की कल्पना को एक आकार देता है। पात्र का रहन-सहन, मनो-स्थिति, विचार, कार्यक्षेत्र आदि को शब्दचित्र के रूप में प्रस्तुत करता है। रवीन्द्रनाथ त्यागी ने पत्रात्मक शैली में भी अनेक निबन्धों की रचना की है। **'सरल हिन्दी के पक्ष में एक खुला पत्र', 'तीन ऐतिहासिक पत्र', 'मेघदूत के सन्देश का उत्तर', 'पंत के दौ सौ पत्र बच्चन के नाम', 'प्रेम पत्रों की परम्परा' तथा 'लेखक के नाम पाँच पत्र'** उनके इसी प्रकार के निबन्ध हैं। रवीन्द्रनाथ त्यागी ने समीक्षा आलोचना जैसी शैलियों के अतिरिक्त मानवीकरण एवं विरोधाभासमूलक जैसी विविध प्रकार की शैलियों का अनूठा प्रयोग अपनी व्यंग्य रचनाओं में किया है।

निष्कर्षतः रवींद्रनाथ त्यागी के व्यंग्य लेखन की प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने व्यंग्य के कथ्य और शिल्प दोनों को संवारा है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों की विसंगतियों और विद्रूपता पर निरन्तर व्यंग्य-लेखन करते हुए अपने समकाल में सार्थक ढंग से हस्तक्षेप कर साहित्य के दायित्व का समुचित निर्वहन किया है। उनकी वक्रदृष्टि प्रायः लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक भाषा के बहुविध नूतन प्रयोगों का चयन करती हुई परिलक्षित होती है। यही ललित लीलान्वित शिल्पकारिता रवीन्द्रनाथ त्यागी के व्यंग्यकार के अनूठेपन को शब्दों से वाक्य एवं वाक्य से आद्योपान्त रचना पर्यन्त उजागर कर देती है। रामावतार चेतन ने लिखा है—"रवीन्द्रनाथ त्यागी के हाथों में पड़कर शब्द जो हैं वे शहतूत के फलों की तरह छूते ही रस देने लगते है। नानापुराण निगमानिगम की पृष्ठभूमि सहित संपूर्ण हिन्दी साहित्य का नजारा किसी को थोड़े समय में लेना हो तो वह रवीन्द्रनाथ त्यागी को पढ़ ले।"[31] व्यंग्य-साहित्य को प्रतिष्ठित स्थान दिलाने में उनका अपना अलग रंग है।

सन्दर्भ-सूची

1. रवीन्द्रनाथ त्यागी, सं. पुष्पपाल सिंह, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2010 पृ. 8
2. भित्ति-चित्र, रवीन्द्रनाथ त्यागी, फ्लैप मैटर, राजकमल, प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966
3. रवीन्द्रनाथ त्यागी, प्रतिनिधि रचनाएँ, सं. कमलकिशोर गोयनका, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1987, पृ. सं. 320
4. कृष्णवाहन की कथा-एक उठाईगीर सिनेमा के संस्मरण, रवीन्द्रनाथ त्यागी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1971, पृ. 83
5. इतिहास का शव-विश्व के महान् राजनेताओं का हास्य-व्यंग्य, रवीन्द्रनाथ त्यागी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 195
6. बादलों का गाँव—कर्फ्यू, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 123

7. चम्पाकली-देश की पुलिस सुधर रही है, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 34
8. विषकन्या—नोबिल प्राइज, पद्माकर और प्रेम विवाह, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 76
9. यक्ष-प्रश्न (सौ चुनी व्यंग्य रचनाओं का संग्रह), रवीन्द्रनाथ त्यागी, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2005, पृ. 59
10. वही, पृ. 65
11. आत्मलेख-सामने वाली सड़क, रवीन्द्रनाथ त्यागी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1988, पृ. 1
12. मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, जेम्स बांड इलाहाबाद में, रवीन्द्रनाथ त्यागी, ज्ञानभारती प्रकाशन, दिल्ली, 1977 पृ. 46
13. इतिहास का शव, पिकासो, इकबाल और खाकसार, रवीन्द्रनाथ त्यागी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993 पृ. 18
14. वही पृ. 82
15. गणतंत्र दिवस की शोभायात्रा, स्वयंवर, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 8
16. मल्लिनाथ की परम्परा, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 63
17. गणतंत्र दिवस की शोभायात्रा, भूमिका प्रसंग, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 10
18. वही, स्वयंवर, पृ. 7
19. भाद्रपद की साँझ, एक घरेलू बैंक, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1996, पृ. 20
20. गणतंत्र दिवस की शोभायात्रा, पृ. 160
21. यक्ष प्रश्न, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 30
22. सुन्दरकली, रवीन्द्रनाथ त्यागी, संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1978, पृ. 42
23. पदयात्रा, रवीन्द्रनाथ त्यागी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1985, पृ. 33
24. सिंदबाद की अंतिम यात्रा, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 249
25. पदयात्रा, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 34
26. आत्मलेख, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 11-12
27. देवदार के पेड़, रवीन्द्रनाथ त्यागी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1971, पृ. 53
28. देवदार के पेड़, रवीन्द्रनाथ त्यागी, पृ. 74
29. वहीं, पृ. 74
30. शोकसभा रवीन्द्रनाथ त्यागी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1974 पृ. 23
31. भद्र-पुरुष, फ्लैप मैटर, रवीन्द्रनाथ त्यागी

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -212-214

आम आदमी की वेदना को व्यक्त करने वाले कथाकार अमरकान्त

डॉ. शुभा बाजपेयी*

'नई कहानी' 1950 ई० से आरम्भ होकर 1955 ई० तक पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठित हुई और इसके सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, कथाकार अमरकान्त का संसार से जाना, शून्य निर्मित कर गया है। वे साहित्य-जगत् में किसी परिचय के मुखापेक्षी नहीं हैं। जिन्दगी और जोंक, दोपहर का भोजन, जैसी अविस्मरणीय कहानियों के रचनाकार की लेखनी ने आधुनिकता बोध के जीवन्त आयामों का स्पर्श किया है।

अमरकान्त एक समर्पित रचनाकार रहे हैं। उनका क्षेत्र व्यापक था और उनकी समृद्ध लेखनी शैली को उनकी कहानियों के माध्यम से जाना जा सकता है। वे प्रेमचन्द की जनपक्षधर कथाकारों की शृंखला में जाज्वल्यमान ऐसे नक्षत्र हैं जिन्होंने प्रेमचन्द की जलाई हुई मशाल को आगे ले जाने का कार्य किया। अपने कहानी लेखन के प्रारम्भ का वे इन शब्दों में स्मरण करते हैं—**नौवीं दसवीं कक्षा में हमारे शिक्षक थे गणेश प्रसाद। वे साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। वे अमूमन प्रेमचन्द से आगे की कहानियों की चर्चा किया करते थे। वे क्लास में कहानी का विषय दिया करते थे।...बाद में शरत् की रचनाओं का मुझ पर प्रभाव पड़ा।....आगरा में मैं जब सैनिक (हिन्दी दैनिक) में कार्यरत था तो वहाँ प्रगतिशील लेखक संघ में आकर मैंने पहली साहित्यिक कहानी 'इन्टरव्यू' लिखी, इसी के माध्यम से मुझे कहानीकार के रूप में पहचान मिली।**[1]

अमरकान्त को सर्वाधिक प्रभावित करने वालों में प्रेमचन्द, इलाचन्द्र जोशी, भीष्म साहनी आदि मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। उन्होंने देश की सच्चाईयों को अपनी कहानियों में व्यक्त किया है। गृहणी घर की धुरी हुआ करती है और इसी के सुचारु रूप से गृह संचालन की भूमिका परिवार को परस्पर बाँधे रखने में समर्थ होती है। इसी भाव ने रचनाकार को यह कहानी लिखने के लिए सम्भवतः प्रेरित किया।

प्रेमचन्द की भाँति अमरकान्त ने भी अपने समय की सामाजिक विसंगतियों को उद्घाटित किया। पीड़ायें, कुण्ठाएँ, विद्रूपतायें और तनाव सभी इस कथाकार की कहानियों में विद्यमान है। पूरा सामाजिक यथार्थ मानवीय संवेदना के साथ कहानी में प्रत्यक्ष हो जाता है। **'जिन्दगी और जोंक'** इस तथ्य का समर्थ उदाहरण है कि वर्तमान समय त्रासदी पूर्ण तनाव से युक्त है। मानव द्विविधा ग्रस्त जीवन जीने का अभ्यासी हो गया है। बनते-बिगड़ते सम्बन्धों के चित्रांकन में अमरकान्त सिद्धहस्त हैं। जीवन की मध्यवर्गीय स्थितियाँ उनकी कहानियों में बखूबी उभरी है। अमरकान्त अपनी कहानियों में परिवेश को बड़ी तन्मयता से निर्मित करते हैं। 'जिन्दगी और जोंक' उनकी मास्टर पीस कहानी कही जा सकती है। इसी प्रकार 'दोपहर का

* रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी.एस.एन.पी.जी. कॉलेज, उन्नाव

भोजन' कहानी भूख को प्रभावी ढंग से पात्रों की भीतरी मनः स्थिति को कुशलता से अभिव्यंजित करती है। मध्यवर्गीय परिवार और उनके संघर्ष ही रचनाकार के केन्द्र में रहे हैं। अमरकान्त ने नई कहानी के श्रेष्ठ कहानीकार के नाते मानव के सम्बन्ध बनते-बिगड़ते रिश्तों का चित्रांकन किया है। उनकी बहुप्रसिद्ध कहानी **'दोपहर का भोजन'**, अभाव की, दयनीयता की कहानी है। इसे नई कहानी इसलिये माना जा सकता है कि अभाव ग्रस्तता, नई कहानी की मुख्य प्रवृत्ति है। इस अभाव एवं पीड़ा को अमरकान्त ने बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किया है—''**मुंशी जी से निबटने के बाद सिद्धेश्वरी उनकी जूठी थाली लेकर चौके की जमीन पर बैठ गई। बटलोई की दाल को कटोरे में उड़ेल दिया।....थोड़े से चने के साग को थाली में रखने जा रही थी।...केवल एक रोटी बची थी। मोटी, भद्दी, जली।....उसका ध्यान ओसारे में सोये प्रमोद की ओर आकर्षित हो गया। उसने रोटी के दो टुकड़े किये। एक टुकड़ा अलग रख दिया और दूसरा थाली में।....उसने पहला ग्रास मुँह में रखा और तब न जाने कहाँ से उसकी आँखों में टप-टप आँसू चूने लगे।**[2] उपर्युक्त पंक्तियों में अभाव का कैसा मार्मिक चित्रण है। मानसकार तुलसी भी तो यही कहते हैं—''आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।''[3] अमरकान्त ने जटिल-जीवन यथार्थ की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति की है। यह सच है कि इस रचनाकार ने जीवन-संघर्ष के अन्तस से मानवीय संवेदना को उद्घाटित किया है। उनकी कहानियों के पात्र अपनी दारुण परिस्थितियों के कारण अस्तित्व के संकट को झेलते हैं। चाहे वह 'जिन्दगी और जोंक' का रजुआ हो अथवा 'दोपहर का भोजन' की सिद्धेश्वरी।

नयी कहानी के इस कथाकार का कथ्य जगत् विस्तृत है। यह कहानी मनुष्य को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह करती है।''[4] इसके अन्तर्गत आम आदमी उसके हर्ष-विषाद हैं। अमरकान्त के कथा-पात्र अस्तित्व के संघर्ष के लिये विवश हैं। भय संत्रास कुंठा आदि ने व्यक्ति को तोड़ दिया है। **'जिन्दगी और जोंक', 'दोपहर का भोजन'** आदि कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेख्यनीय हैं। यहाँ वह लड़ाई है जो आम आदमी रोटी, कपड़ा, मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं के लिये लड़ता ही रहता है। यह ध्यातव्य है कि 'अमरकान्त की रचनाधर्मिता की खूबियाँ और भंगकियाँ उन्हें प्रेमचन्द की परम्परा के महान् कहानीकार का दर्जा देती है।'[5]

प्रेमचन्द की जिस परम्परा को अमरकान्त ने सर्वाधिक अपनाया है, वह है—व्यंग्य और विडम्बना युक्त शैली। उनकी कहानियाँ मध्यवर्गीय तथा निम्नवर्गीय जीवन की वैषम्य से युक्त स्थितियों का कारुणिक उद्घाटन करती है। अमरकान्त बनते-बिगड़ते रिश्ते, आर्थिक विपन्नता, दिशाहीन, समाज की संवेदनापूर्ण स्थिति का अंकन करते हैं। 'डिप्टी कल्क्टरी' इस तरह की महत्त्वपूर्ण कहानी है। 'जिन्दगी और जोंक का रजुआ अन्तर्द्वन्द्व का प्रतिनिधि चरित्र है। इसी तरह 'दोपहर का भोजन' की सिद्धेश्वरी की आर्थिक विपन्नता के चलते बेबश होने के बाद भी अपनी वेदना को, किसी के समक्ष प्रकट नहीं करती। अमरकान्त की यह कहानी मानवता के अस्तित्व को, उसके संघर्ष की कहानी है।

अमरकान्त पात्रों के अन्धकारमय जीवन में एक रोशनी का संचार करने के लिए प्रयत्नशील रहते है और सांकेतिकता के माध्यम से अपनी कहानी को सम्प्रेषणीय बनाते हैं। 'जिन्दगी और जोंक' इसका अन्यतम उदाहरण है। इन कहानियों में आदमी की संवेदनशील स्थितियाँ अंकित है। इनमें 'डिप्टी कलक्टरी', 'दोपहर का भोजन', छिपकली, हत्यारे जैसी कहानियाँ अनुभूति के स्तर पर....जिस करुणार्द्र

विसंगति का संकेत करती है। वह उसे नयी कहानी दौर को सम्भावना पूर्ण कहानियों का दर्जा दिलाती है।[6]

अस्तु अमरकान्त की कहानियाँ के स्वर स्वातन्त्रयोत्तर युग की कहानी हैं। इसमें संश्लिष्ट अनुभूतियों एवं जटिल संवेदनाओं का संसार सांस ले रहा है। जीवन और समाज के वैषम्य को इस रचनाकार ने अत्यन्त जीवन्तता के साथ व्यक्त किया है। अतएव नयी कहानी परम्परा के मध्य वे मौलिक कथाकार के रूप में सदा ही स्मरणीय रहेंगे।

सन्दर्भ

1. आजकल – जुलाई 2007, पृ.सं. 22
2. अमरकान्त – दोपहर का भोजन।
3. तुलसीदास – कवितावली, उत्तरकाण्ड।
4. राजेन्द्र यादव का कथन – कहानी संचयन, पृ.सं. 10
5. डॉ. शिवकुमार मिश्र – प्रेमचन्द की विरासत कासवाल
6. हिन्दी कहानी के सौ वर्ष, पृ.सं. 46

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. -215-217

वर्तमान राजनीति का सच और हरिशंकर परसाई के व्यंग्य

गीता कपिल*

साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य की सभी विधाओं के सन्दर्भ में यह उक्ति सत्य कही जा सकती है, किन्तु व्यंग्य एक ऐसी विधा है जो निर्मम सत्य का उद्घाटन ही नहीं करती अपितु पाठक को तिलमिला कर आक्रोश का ज्वालामुखी उसके भीतर सुलगा देती है। हरिशंकर परसाई व्यंग्य लेखकों की श्रेणी में शीर्ष पर हैं। उनके सामाजिक, राजनीतिक सरोकार बहुत ही गहरे हैं। अपनी राजनीतिक विचारधारा में वे मार्क्सवादी हैं। मार्क्सवाद में उनकी गहरी आस्था भी है। उनकी व्यंग्य रचनाएँ समाज के प्रति उनकी गहरी चिन्ता की उपज है। तद्युगीन राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उनमें तीव्र असन्तोष और खीझ का भाव दिखाई देता है, फलस्वरूप उन्होंने अपने व्यंग्य निबन्धों मे राजनीतिक दलों, नेताओं, व्यवस्था व प्रशासन पर तीखे प्रहार किये और उनके जन विरोधी रूप को उघाड़कर सामने रखा।

हरिशंकर परसाई एक ऐसी समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था में विश्वास रखते हैं, जो सामान्य जनता की दुःख तकलीफों का निवारण कर सबको जीवन की मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध करा सकें। लेखन को वे एक ऐसा हथियार मानते हैं जो जन-आक्रोश उत्पन्न कर व्यवस्था को बदलने की ताकत रखता है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि ''व्यापक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवेश की विसंगति, मिथ्याचार, असामंजस्य, अन्याय आदि की तह में जाना, कारणों का विश्लेषण करना उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में देखना— उससे सही व्यंग्य बनता है। जरूरी नहीं कि व्यंग्य में हँसी आये। यदि व्यंग्य चेतना को झकझोर देता है, विद्रूप को सामने खड़ा कर देता है। आत्मसाक्षात्कार कराता है। सोचने को बाध्य करता है, व्यवस्था की सडाँध को इंगित करता है और परिवर्तन की ओर प्रेरित करता है, तो वह सफल व्यंग्य है। जितना व्यापक परिवेश होगा, जितनी गहरी विसंगति होगी और जितनी तिलमिलाहट देने वाली अभिव्यक्ति होगी व्यंग्य उतना ही सार्थक होगा।''[1] परसाई के इन निबन्धों में वर्तमान जीवन की विसंगतियों के प्रति तिलमिलाहट और आक्रामक रवैया है, वे इस सम्पूर्ण व्यवस्था से क्षुब्ध भी हैं, किन्तु मानवीयता एवं मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था का भाव उनमें यत्र-तत्र मौजूद है और इसे वे एक व्यंग्य लेखक के लिए अनिवार्य भी मानते हैं, ''जहाँ तक अमानवीयता का प्रश्न है, यदि व्यंग्य लेखक को मानव जीवन से गहरा सरोकार न हो तो वह क्यों रोएँ कि मेरे भाई, तुममें यह बुराई है। तुम अच्छे हो जाओ।[2]

स्वाधीनता पश्चात् सम्पूर्ण भारतीय समाज व राजनीति में व्यापक बदलाव आये। हमे सैकड़ों वर्षों की गुलामी के पश्चात् आजादी मिली, किन्तु यह आजादी खोखली और निरर्थक साबित हुई क्योंकि स्वाधीनता पश्चात् भी पूँजीवादी तन्त्र का शोषण और दमन यथावत् बना रहा और आम जनता उसके नीचे छटपटाती रही हमारा लोकतंत्र विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र माना जाता है। पर इसमें 'लोक' को सही

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

प्रतिनिधि नहीं मिला। लोक के प्रतिनिधियों ने इसे झाँसा देकर सत्ता अपने हाथ में ली। सत्ता और पद प्राप्त करना उनका एक मात्र लक्ष्य होता गया। उनके इस प्रयास में 'लोक' पीछे हटता गया। गुंडागर्दी, भ्रष्टाचार, स्वार्थ, भाई-भतीजावाद हमारे राजनेताओं के मुख्य हथियार बनते गये। इस सन्दर्भ में परसाई का कथन है, ''हुआ यह कि लोकतन्त्र के रास्ते पर आम आदमी तो आगे बढ़ गया क्योंकि उसका ध्यान चलने पर ही है, मगर नेता पीछे रह गये। वे दूसरे को लत्ती मारकर गिराते हैं, फिर उठाते हैं, हाथ-पाँव की चोट सहलाते हैं एक-दूसरे पर थूकते हैं, फिर लात मारते और गिराते हैं, धूल चाटते हैं, गोया वहीं लड़ते-झगड़ते भाड़ झोंक रहे हो और जनता आगे निकल गई है।''[3] राजनेताओं के इस आचरण ने हमारी सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को हास्यास्पद और खोखला बना दिया है। ये नेता आज सद्वृत्तियों के नहीं दुवृत्तियों के आदर्श प्रतीत होते हैं और राजनीतिक व्यवस्था बर्बर व हिंसक जीवधारियों से युक्त जंगल सदृश दिखाई देती है। परसाई इन राजनीतिज्ञों के आचरण पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं, ''भारतीय राजनीति में ऐसे-ऐसे नेताओं के दल हैं, जो सिर्फ कार्टून बनाने वालों के काम के रह गये हैं।....ये कार्टूनिस्ट के आदर्श हैं। भारत के विकास में इनका योगदान इतिहास में नहीं जायेगा। ये कार्टून से अमर होंगे।''[4] जनता को झूठे आश्वासन देकर बार-बार उनकी भावनाओं से ये नेता खिलवाड़ करते रहते हैं, ''जरा धीरज रखिए। हम कोशिश मे लगे हैं कि सूरज बाहर आए। पर इतने बड़े सूर्य को बाहर निकालना आसान नहीं। वक्त लगेगा। हमे सत्ता के कम से कम सौ वर्ष तो दीजिए, सौ वर्ष दिए, मगर हर साल उस (सूर्य) का कोई क्षेत्र या कोना निकलता तो दिखना चाहिए।''[5] वास्तव में झूठा आचरण, स्वार्थ, अनैतिकता और सिद्धान्तहीनता ही आज के नेताओं का आदर्श हैं। परसाई लिखते हैं, ''मैंने समझ लिया कि मेरे जीवन का सत्य मंत्री बनना है, इस सत्य को मैंने कभी छोड़ा। इस सत्य के लिये मैंने ईमान, धर्म सबका परित्याग किया। सत्य के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करना पड़ता है।''[6]

'हम बिहार मे चुनाव लड़ रहे हैं' व्यंग्य निबन्ध में वर्तमान वोट की राजनीतिक चुनावों में होने वाली धाँधली, झूठे चुनावी घोषणा पत्र और चुनाव जीतने के बाद सत्तारूढ़ दल की भाई-भतीजावादी प्रवृत्ति का यथार्थ चित्रण हुआ, ''हमारे भाई-भतीजे, मामा-मौसा, फूफा, साले बहनोई जो जहाँ भी हो। बिहार में आकर बस जाये और रिश्तेदारी के सबूत सहित जीवन सुधारने की दरख्वास्त अभी दे दें।''[7] अन्ततः भाई-भतीजावाद की परिणति जातिवाद में होती है। यह जातिवाद भारतीय राजनीति में कोढ़ के सदृश है। 'हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं' निबन्ध में जातिवाद में बँटी भारतीय राजनीति का यथार्थ चित्र है, एक अन्य निबन्ध **'दस दिन का अनशन'** में भी परसाई जी इस सत्य को इस प्रकार उद्घाटित करते हैं, ''बाबा अद्भुत आदमी है। कहते हैं, अब आन्दोलन में जातिवाद का पुट देने का मौका आ गया है। बन्नू ब्राह्मण हैं और राधिकाप्रसाद कायस्थ। उधर ब्राह्मण को भड़काओ और इधर कायस्थों को। ब्राह्मण सभा का मन्त्री आगामी चुनाव में खड़ा होगा। उससे कहो, यही मौका है ब्राह्मणों के वोट इकट्ठे लेने का...हमने चार गुण्डों को कायस्थों के घरों पर पत्थर फेंकने के लिए तय कर लिये हैं। इससे निपटकर हम लोग ब्राह्मणों के घर पर पत्थर फेंकेगे।''[8]

परसाई एक सजग और जागरुक रचनाकार हैं, तद्युगीन समाज और राजनीति के सूक्ष्म पर्यवेक्षक ही नहीं निर्मम आलोचक भी हैं। अपनी समकालीन राजनीतिक व्यवस्था और दलों की विसंगतियों और विकृतियों से वे भली-भाँति परिचित हैं। उन्होंने सभी राजनीतिक दलों-चाहे व कांग्रेस हो या भाजपा के

घिनौने चरित्र का उद्घाटन किया है। जो कांग्रेस कभी उच्च-आदर्शों पर आधारित थी। स्वाधीनता के पश्चात् उनके नेताओं का पतन किस रूप में होता है, इस पर टिप्पणी करते हुए परसाई लिखते हैं, "अब तो यह स्थिति हो गई है कि यह पहचानना मुश्किल है कि कौन कांग्रेस मैन है और कौन जेबकतरा।"[9] जनसंघ को वे सी.आई.ए. की एजेण्ट मानते हैं। इनकी साम्प्रदायिक नीतियाँ, अवसरवादिता तथा सत्ता लोलुपता भी उनकी प्रहार से बच नहीं पाये हैं। इसी प्रकार सँसोपा तथा अन्य अनेक क्षेत्रीय दलों की सिद्धान्तहीनता, अवसरवादिता तथा जनविरोधी नीतियों और दोगले चरित्र का उद्घाटन भी परसाई जी के निबन्धों में अनेकत्र हुआ है।

जिस प्रकार अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नीति थी '**फूट डालो राज करो**' उसी प्रकार आज हमारे राजनेता भी अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास, भाग्यवाद के सहारे आम जनता को छलते हैं और समाज में विसंगतियों को फैलाकर अपना शासन स्थिर करते रहते हैं। नेताओं की इस नीति पर व्यंग्य करते हुए परसाई जी लिखते हैं, "शासकों को जितनी लुच्चई बदमाशी, झूठ, पाखण्ड, छल, कपट, अत्याचार-चाणक्य ने सिखाये उतने दुनियाँ में किसी राजनीतिक गुरु ने नहीं सिखाए हमारे शासक जो जनता में अज्ञान, भाग्यवाद, अन्धविश्वास फैलाते हैं वह चाणक्य की ही शिक्षा है। चाणक्य ने लिखा है कि जनता को मूढ़ और अंधविश्वासी कर देने से राजा निश्कण्टक राज करता है।"[10]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हरिशंकर परसाई के व्यंग्य निबन्धों में वर्तमान युगीन राजनीतिक व्यवस्था के सभी कुत्सित पक्षों, विद्रूपताओं और विसंगतियों का चित्रण हुआ है। उन्हें इस संडास भरी व्यवस्था व राजनेताओं के जनविरोधी, दोगले, सिद्धान्तहीन, विचारहीन, भ्रष्ट, अमानवीय व अनैतिक चरित्र से घृणा है, फलस्वरूप वे उन पर प्रहार ही नहीं करते वरन् आक्रामक प्रहार करके उसे बदलना भी चाहते हैं। उनका यह आक्रोश समाज के प्रति उनकी चिन्ता को व्यक्त करता है। यदि यह कहा जाये कि उनके व्यंग्य निबन्ध तद्युगीन राजनीतिक व्यवस्था के यथार्थ दस्तावेज हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी।

सन्दर्भ

1. हरिशंकर परसाई, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, पृ. 10-11
2. सं. कमलाप्रसाद, आँखन देखी, आत्मकथा, पृ. 31
3. परसाई रचनावली, भाग 4, कहाँ है भारत भाग्य विधाता, पृ. 240
4. परसाई रचनावली, भाग 4, विचार मंच, पृ. 212
5. हरिशंकर परसाईं, ठिठुरता हुआ गणतंत्र, निबन्ध, पृ. 1
6. हरिशंकर परसाई, शिकायत मुझे भी है, एक दीक्षान्त भाषण, पृ. 92
7. हरिशंकर परसाई, ठिठुरता हुण गणतंत्र, हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं, पृ. 40
8. हरिशंकर परसाई, उल्टी सीधी, दस दिन के अन्न, पृ. 32-33
9. हरिशंकर परसाई, दुर्गापुर में जेबकतरे, पृ. 88
10. परसाई रचनावली, खण्ड 5, महान् दर्शन भजनलालवाद, पृ. 185

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 218-220

ब्रजभाषा का सांस्कृतिक रूप में विकास

उमेश चन्द्र*

ब्रजभाषा का गढ़ मथुरा और उसके आस-पास के क्षेत्र को माना जाता है। हिन्दी साहित्य में ब्रजभाषा का विशेष महत्त्व है। यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण ने जन्म लिया और बाल-लीलाऐं कीं। उसी को आधार बनाकर भक्तिकालीन कवियों ने ब्रज साहित्य मे रचना की, इससे ब्रजभाषा का उत्तरोत्तर विकास हुआ और ब्रजभाषा को नया रूप मिला, इससे इसे विश्व स्तर पर पहचान मिली। इसका श्रेय सूरदास, रसखान, मीराबाई, नंददास आदि कवियों को जाता है।'' हमारे देश में ब्रजभूमि को एक विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है। ब्रज का इतिहास यहाँ की धार्मिक एवं सामाजिक परम्परायें तथा यहाँ की भाषा और साहित्य का अनोखापन ब्रजभूमि को नूतन रूप प्रदान करते हैं। आज भी ब्रज में पर्दापण करने वाला सहृदय व्यक्ति अपने को किसी नये लोक में प्रविष्ट का अनुभव करता है, जहाँ ब्रजेश भगवान् कृष्ण की नित्य नवीन छवि का उसे अनुभव होता है। ब्रज-वसुन्धरा में आज भी यह सौन्दर्य दिखाई पड़ता है जो हृदय को बरबस आकृष्ट कर मानव को आत्मविभोर बना देता है।''[1] भक्तिकालीन कवियों ने ब्रजभाषा में साहित्य रचकर ब्रजभाषा को उचित सम्मान दिलाने में अहम भूमिका निभाई। विदेशी सैलानी भी जब ब्रज क्षेत्र में आते है तो वह भी यहाँ के ही होकर रह जाते हैं। ब्रज के गुण गाते हैं। ''ब्रजमंडल का धार्मिक महत्त्व तब बढ़ा जब सूर, पठानों और मुगलों का शासन आरम्भ हुआ। इस काल में ब्रजभाषा को महत्त्व मिला। उस समय दिल्ली की अपेक्षा आगरा में राजधानी कायम की गई, जिससे धार्मिक महत्त्व के साथ-साथ उसका राजनैतिक महत्त्व भी बढ़ गया था। मुगल सम्राट अकबर ने हिन्दुओं पर लगी हुई सुल्तानी काल की सभी मजहबी पाबंदियाँ समाप्त कर दी थी। उसने ब्रज की जनता को अपने विश्वास के अनुसार धर्म-कर्म करने की पूरी स्वाधीनता प्रदान की और गौ-वध को बन्द कर दिया, उसके शासनकाल में नये मंदिर-देवालय बनवाये गये थे। उसने यहाँ की विधाओं और कलाओं की उन्नति में बड़ा योग दिया था। इस प्रकार अकबर का शासनकाल ब्रज संस्कृति के लिए स्वर्णकाल सिद्ध हुआ।''[2] मथुरा के इतिहास में सोलहवीं सदी ई० का समय बड़ा महत्त्वपूर्ण काल साबित हुआ। यह वही समय है जब ब्रजभाषा में साहित्य रचा जा रहा था। मध्यकाल में ब्रजभाषा का एकछत्र राज रहा है। ''इस सदी के प्रारम्भ से ही यहाँ एक नई धार्मिक लहर उठी। इस मधुर भक्ति को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए यहाँ की शौरसेनी अपभ्रंश से उस सरस भाषा का जन्म हुआ था, जो 'ब्रज-भाषा' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रज के संत-महात्माओं ने मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन, गोकुल आदि को अपना केन्द्र बनाया, जहाँ धर्म, दर्शन, काव्य और संगीत का विकास बहुत समय तक होता रहा।''[3]

ब्रज संस्कृति के अनुपम महत्त्व की अत्यंत दीर्घकालीन परम्परा रही है। ब्रजभूमि और मथुरापुरी का किसी समय जो दिव्य रूप था, उसका लगभग ढाई हजार सहस्र वर्षों का इतिहास भी पुरातत्त्व और

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

साहित्य की सम्मिलित सामग्री से उपलब्ध है। ऐसा सौभाग्य और गौरव भारत के किसी अन्य स्थान को प्राप्त नहीं है। ऐसी दशा में ब्रजभूमि के सर्वांगीण परिचय के लिए भारतीय जनता का उत्सुक होना स्वाभाविक है। यह उत्सुकता विगत वर्षों में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। ब्रज के इतिहास में विकास ह्रास उन्नति एवं अवनति के अनेक काल हुए हैं। ब्रज संस्कृति के भव्य रूप और ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य के प्रति लोगों की जिज्ञासा में वृद्धि हुई है।" कृष्ण भक्ति की नूतन धारा के कारण इसका जो धार्मिक रूप बना, वह अधिक व्यापक और स्थायी रहा। यह पूर्ववर्ती राजनैतिक रूप से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके कारण श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा रखने वाले भक्तजनों के लिए वे सभी स्थल तीर्थ स्वरूप हो गये, जहाँ उनके उपास्य देव ने जन्म लिया था तथा अपनी बाल लीलाएँ की थीं। उन स्थलों के साथ ही साथ वे वन भी परम पावन और पुण्यप्रद माने जाने लगे, जहाँ श्रीकृष्ण ने गोप-बालकों के साथ गायें चराई थी अथवा गोप-बालाओं के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ायें भी की थी। वे पुण्य स्थल और पावन वन समस्त कृष्ण भक्तों के आकर्षण-केन्द्र बन गये हैं। श्रीकृष्ण से संबंधित विविध पुराणों तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों मे उन लीलास्थलों और वहाँ के पुण्य प्रदेश को 'ब्रज' 'ब्रजमंडल' कहा गया है और इसे 20 योजन अथवा 84 कोश का बतलाया गया है।"[4] इस बारे में मिर्जा खाँ ने 17वीं सदी में जिस **'तोफह-उल-हिन्द'** नामक फारसी ग्रंथ की रचना की थी, उसमें लिखा है—**''ब्रज भारत के उस प्रदेश का नाम है, जो मथुरा को केन्द्र मानकर 84 कोश के बीच मंडलाकार स्थित है।''**[5]

सांस्कृतिक ब्रज की दक्षिणी सीमा जाजऊ से बटेश्वर तक मानी जा सकती है। इस प्रकार सांस्कृतिक ब्रज का विस्तार उत्तर में जेबर से लेकर दक्षिण में जाजऊ से बटेश्वर तक का है तथा पूर्व में हसनगढ़ से लेकर पश्चिम में पहाड़ी तक है। इसे ब्रज प्रदेश अथवा ब्रजभाषा क्षेत्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। जिस प्रकार प्राचीन शूरसेन जनपद रूपांतर से मथुरा राज्य और फिर ब्रज या ब्रजमंडल नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार प्राचीन शौरसेनी भाषा ही नामांतर से शौरसेनी प्राकृतिक, शौरसेनी अपभ्रंश और फिर ब्रजभाषा कहलाई। मथुरामंडल अथवा ब्रजमंडल की सीमाओं के क्षेत्र से ब्रजभाषा के समझने-बोलने एवं लिखने-पढ़ने वालों का क्षेत्र भी कहीं अधिक बड़ा है।" कृष्ण भक्ति के प्रसार के कारण जैसे-जैसे ब्रज का धार्मिक प्रभाव बढ़ता रहा, वैसे-वैसे ब्रजभाषा का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। ब्रजभाषा के क्षेत्रीय नाम 'ग्वालियरी' और 'पिंगल' भी रहे हैं तथा इसे 'भाषा' अथवा 'भाखा' भी कहा गया है। इसमें रचना करने वाले कृतविद्य कवियों ने कई सौ वर्षों की साहित्य-साधना से ऐसा विशाल वाङ्मय निर्मित किया कि जो हिन्दी भाषा को इतना गौरवपूर्ण बना सका है।"[6]

कृष्णोपासक सम्प्रदायों और ब्रजभाषा कवियों के कारण जब ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा का क्षेत्र बढ़ा, तब ब्रज का आकार भी सुविस्तृत हो गया था। उस समय मथुरा नगर ही नहीं, बल्कि उससे दूर-दूर के भू-भाग, जो ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा से प्रभावित थे। इस भू-भाग की धार्मिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा अत्यंत गौरवपूर्ण रही है। प्राचीन इतिहास, परंपरा, रूढ़ि और आदर्श की समानता के कारण समस्त भारतवर्ष की एक ही संस्कृति है। इसे विभिन्न जातियों, समाजों, वर्गों और प्रदेशों के रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता। फिर भी भारत जैसे विशाल देश के कतिपय भू-भागों की कुछ सांस्कृतिक विशिष्टताएँ भी हैं, जो इस दशा की सामूहिक प्रवृत्ति को पूर्णता प्रदान करती है। जिस प्रकार एक गुलदस्ता में विविध रंग और सुगंध के पुष्प अपनी-अपनी विशेषतायें रखते हुए भी उसके सामूहिक सौन्दर्य

की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशिष्टताएँ भी इस देश की सामूहिक संस्कृति को गरिमा और पूर्णता प्रदान करती है।

"ब्रज संस्कृति अखिल भारतीय संस्कृति के अंतर्गत एक क्षेत्रीय संस्कृति है। यह देश की सामूहिक संस्कृति का अंग होते हुए भी कुछ अपनी विशेषताएँ रखती है। इस संस्कृति के निर्माता भगवान् श्रीकृष्ण थे, जिन्हें गोपाल भी कहा जाता है। इसके निर्माण में आर्य, अनार्य, जैन, बौद्ध, हिन्दू और मुसलमानों सभी समुदायों तथा धर्मों के संवेदनशील एवं सहृदय व्यक्तियों ने अपना-अपना योग प्रदान किया है। इस प्रकार यह एक उदार और लचीली संस्कृति है। इसके प्रमुख तत्त्व सेवा, सौहार्द्र, स्नेह, समर्पण और समन्वय है, जो कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि में ही फले-फूले हैं।"[7] इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि ब्रजभाषा के विकास में हिन्दू, मुस्लिम आदि कवियों ने बराबर योग दिया।

संस्कृति का प्रतिबिम्ब धर्मोपासना में झलकता है और वह कला एवं साहित्य के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करती है। यह बात ब्रज संस्कृति के लिए सबसे अधिक चरितार्थ होती है। ब्रज की कलाओं में सरलता के साथ कुशलता, सरसता के साथ शुचिता और स्वछंदता के साथ मर्यादा का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। ब्रज के साहित्य में भक्त कवियों की सरस और गेय पद-रचनाएँ हैं, कृतविद्य कवियों की कमनीय छंदों में रची हुई चमत्कारपूर्ण सूक्तियाँ हैं तथा लोक कवियों की सरल, स्वाभाविक और भाव-भरित गेय तुकबंदियाँ हैं। इन सब के कारण ब्रज संस्कृति ने भारत की सामूहिक संस्कृति को सर्वाधिक रूप से प्रभावित किया है और उसे पूर्णता भी प्रदान की है। ब्रज संस्कृति के इतिहास का यह 'उत्तर मध्य काल' अपने पूर्ववर्ती सुप्रसिद्ध 'मध्य काल' के समान ही छठीं शताब्दियों से कुछ अधिक का है किन्तु इसका महत्त्व उससे भी कहीं ज्यादा है। बल्कि यह कहना चाहिए कि यह इतिहास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल है। राजनैतिक, धार्मिक, कला विषयक और साहित्य सम्बन्धी किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाए इसकी तुलना का कोई दूसरा काल नहीं मिलेगा। ब्रज संस्कृति का जो स्वरूप आजकल मान्य है, उसका निर्माण, विकास और साथ ही साथ ह्रास भी इसी काल में हुआ था। इसीलिए इस काल का इतना अधिक महत्त्व है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. संपादक, गोविन्ददास, रामनारायण अग्रवाल, ब्रज और ब्रज-यात्रा, भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली, 1959, पृ. सं. 16
2. प्रभुदयाल मीतल, ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1966, पृ. सं. 13
3. कृष्ण दत्त बाजपेयी, ब्रज का इतिहास, अखिल भारतीय साहित्य मंडल मथुरा, 1955, पृ.सं. 142-143
4. प्रभुदयाल मीतल, ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1968 पृ.सं. 8
5. वही, पृ.सं. 11
6. वही, पृ.सं. 16
7. वही, पृ. सं. 84

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 221-226

राजस्थानी लोकगाथाओं मे अलौकिक तत्त्व

सरिता विश्नोई*

लोकसाहित्य लोक-मानस की कथनीय-अकथनीय विचार अभिव्यक्ति का साहित्य है। लोक जीवन के सुख-दुःख, जीवन-मरण, हर्ष-विषाद और प्रिय-अप्रिय समस्त जीवन-प्रसंगों, भाव-धाराओं का चित्रण लोक साहित्य के विषय रहे हैं। राजस्थानी लोकसाहित्य में लोकगीत, लोकथा, लोकगाथाएँ, लोकनाट्य और प्रकीर्ण साहित्य विशेष रूप में परिगणित होती हैं। राजस्थानी लोकगाथाओं में लोक मेधा का सहज परिचय उपलब्ध होता है। कोटि-कोटि जन-समाज की स्मृति, परम्परा और रुचि ने लोकगाथाओं को जीवन स्वर दिया है। ये लोकगाथाएँ लोक समाज में अबाध गति से विहार करती रही हैं। लोकजीवन की व्यापक दृष्टि लोकगाथाओं से चित्रित हुई है। जीवन की यथार्थ समस्याएँ, कल्पना लोक की विहग उड़ान, जीवन की वास्तविक स्थितियाँ और अकथ्य-कथ्य भी लोकगाथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से राजस्थानी लोकगाथाओं को वीरकथात्मक, प्रेमकथात्मक, रोमांचकथात्मक, पौराणिक तथा निर्वेदकथात्मक लोकगाथाओं में विभक्त किया जा सकता है। राजस्थानी लोकगाथाएँ कुछ आकार में अति लम्बी और कुछ आकार में अति छोटी दोनों ही रूपों में प्राप्त होती हैं। बड़ी लोकगाथाएँ अनवरत कई दिनों तक कही जाती हैं, तब कहीं जाकर पूर्ण होती हैं। दीर्घ लोकगाथाओं में अनेक अन्तर्कथाएँ मिलकर जहाँ कथा को दीर्घता प्रदान करती है वहीं श्रोताओं के मन में जिज्ञासा और उत्सुकता बढ़ती चलती है। चरित्रनायक के अतिरिक्त अन्य नायक भी होते हैं। इन अवान्तर गाथाओं के नायक, जिन्हें गाथा के उपनायक कह सकते हैं। "लोकगाथाओं का प्रथम गायक सचमुच में कवि रहा होगा। उसने अपनी रचना में सच्चे कवि की भाँति विश्व को आत्मसात् कर लिया है। उसने प्राकृतिक जगत् में मानव और अमानव में अन्तर नहीं देखा। समुद्र जैसे समस्त नदियों को अपने उदर में स्थान देता है, वैसे ही लोकगाथाओं के नायक ने समस्त ब्रह्माण्ड को उसमें ला रखा है।"[1]

राजस्थानी लोकगाथाओं में अलौकिक तत्त्वों का समावेश भी मिलता है। "संसार के सभी भागों में सामान्य जन अन्धविश्वासी एवं धर्म और भगवान् के प्रति श्रद्धावान् रहा है। ग्रामीण जनता आज भी अन्धविश्वास-ग्रस्त है। इस प्रकार के अन्धविश्वासी एवं भावुक श्रोता अतिमानव क्रिया-कलाप को सुनकर यदि आश्चर्यभूत हो जाते हैं तो आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य और श्रद्धा के इस परिवेश में लोकमानस आनन्द का अनुभव करता है। भारत के सभी प्रदेशों की लोकगाथा में ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं।"[2] राजस्थानी गाथाओं में भी स्थान-स्थान पर दैवीय पात्रों जैसे गुरु गोरखनाथ, शिव-पार्वती, दुर्गा, हनुमान् जी इत्यादि का वर्णन है। कहीं-कहीं ये पात्र मृत नायक एवं नायिकाओं को पुनः जीवनदान देने आते हैं। गाथा के अन्त में नायक की मृत्यु दुःख और करुणा का वातावरण बना देती है। "भारतीय संस्कृति में दुःखांतता को उचित नहीं माना

* शोधछात्रा (जे.आर.एफ.), हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

गया है। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने नाटकों को भी दुःखान्त बनाने की बात कही है। करुणा के वातावरण में श्रोता को लौकिक अनुभव जैसा प्रतीत होने की बात कही है। करुणा के वातावरण में श्रोता को लौकिक अनुभव जैसा प्रतीत होने लगता है। अतः लेखक शिव-पार्वती की सहायता से गाथा को सुखात्मक बनाता है। इस प्रयोग से—

1. श्रोता के मन में सत्य और प्रेम जैसे उदात्त गुणों की विजय देखकर स्वाभाविक आनन्द होता है।
2. धर्म और भगवान् में उसकी आस्था दृढ़ होती है। भला, ऐसे भगवान् पर कौन श्रद्धा न करेगा, जो मृत भक्तों को पुनर्जीवित कर दें और सत्य-मार्ग पर चलने वालों की रक्षा करें।

गाथा में अमानव तत्त्व का प्रयोग रचयिता की विशाल दृष्टि और व्यापक हृदय का परिचय देता है।"[3] डॉ. कृष्णकुमार शर्मा रहस्य की ओर उन्मुख होने की आकांक्षा मानव में सहज मानते हैं। वे लोकगाथा में रहस्यमय तत्त्वों की उपस्थिति इसी तथ्य के परिणाम स्वरूप मानते हुए अमानव तत्त्व के प्रयोग की व्याख्या इस प्रकार की है, "अपने गाथानायकों के प्रति श्रद्धातिरेक के कारण, रचयिता नायकों द्वारा अनेक अतिमानव क्रिया-कलापों का होना बतलाता है। उनकी व्याख्या वह कैसे करे? केवल मानव पात्रों के माध्यम से इस प्रकार के क्रिया-व्यवहार श्रोता के मन में अविश्वास उत्पन्न करते हैं, अतः रचयिता दैविक प्रेरणा और अमानव पात्रों की सहायता लेता है।"[4] "अतिप्राकृतिक तत्त्व और लोकमानस लोकगाथा के कथाचक्र में अतिप्राकृत तत्त्व का महत्त्वपूर्ण योग देखा जाता है। अमानव पात्र, अलौकिक शक्तियाँ, अतिमानवी क्रिया-कलाप आदि लोकगाथा के घटना संचार में अनिवार्य अवयव हैं। इन तत्त्वों की उद्‌भावना के मूल में लोकमानस है। लोकमानस के कारण ही ऐतिहासिक तथ्य भी लोक-प्रवृत्तियों से आवृत हो जाता है। इस लोकमानस की स्थिति के कारण ही आधुनिक मानव भी आदिम बातों में रुचि लेता दिखाई देता है। वैज्ञानिक एवं तर्कप्रिय बुद्धिवादी भी अद्‌भुत लोक कहानियों में आकर्षण पाता है। यह स्थिति लोकमानस के अस्तित्व का प्रमाण है। आज सभ्य जातियों में भी ऐसे विश्वास प्रचलित देखे जाते हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो सकती। अतः लोकमानस का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है। इसी लोकमानस में आदिम प्रवृत्तियाँ सुरक्षित रहती हैं। लोकसाहित्य में उपलब्ध उड़ने वाले अश्व, मानव वाणी में बोलने वाले शुक और सारिका एवं मानव की सहायता करने वाले, चेतन प्राणी की भाँति व्यवहार करने वाले वनस्पति, नदी आदि पदार्थ परियाँ और दैत्य इत्यादि आदिम मानस अथवा लोकमानस की प्रकल्पना है।"[5] इस तरह की गाथाओं को सुनकर मानव-मन रोमांचित हो जाता है। रोमांच का यह भाव किसी अद्‌भुत दृश्य देखने, सुनने या अलौकिक कार्यों, मनुष्य की कल्पना से परे कोई अद्‌भुत कार्य से उत्पन्न होता है। इन भावों को व्यक्त करने वाली गाथाओं में अनेक अमानवीय चरित्रों का वर्णन मिलता है। इनमें देवता, परियाँ, राक्षसों एवं जादू-टोने से सम्बद्ध कथानक आकर मानव मन में एक रोमांच मिश्रित आनन्द उत्पन्न करते हैं।

राजस्थानी लोकगाथाओं में पशु-पक्षियों का स्वभाव मनुष्य की भाँति प्रदर्शित हुआ है। ऊँट, अश्व, शकुन, कपोत, आदि की दक्ष क्रिया पशु पक्षियों के बुद्धिबल और अनूठी युक्ति से कार्य प्राप्त कर पाता है। पशु-पक्षियों के माध्यम से कार्य सफल होता है। अमानवीय पात्रों का मानवीकरण अनेक कथाओं में वर्णित है। नायक के कार्य सफलता में की गयी आकांक्षा को फलीभूत करने में पशु-पक्षी पात्र महत्त्वपूर्ण भूमिका

अदा करते चित्रित होते हैं। गाथाओं में अश्व सर्वाधिक प्रयुक्त अमानव तत्त्व है। **निहालदे सुलतान गाथा** में दरियाई घोड़ा मानव-वाणी में सुलतान से वार्तालाप करता है। सुलतान अश्व से परामर्श करता है कि वह रात्रि के समय नदी पार करें अथवा नहीं, "हे अश्व! तुम्हीं बताओ, रात का काम है, हमें आगे बढ़ना चाहिए अथवा नहीं।"[6] अश्व उत्तर देता है "रात से मैं नहीं डरता न मुझे इस बात की चिन्ता है कि मुझ पर दो व्यक्ति सवार होते हैं या चार, किन्तु स्त्री जाति से मुझे भय लगता है। आज अँधेरी रात नहीं, चाँदनी रात है। यदि निहालदे की परछाई मैंने देख ली तो मैं विचलित हो उठूँगा, मेरा तप खण्डित हो जायेगा। उस समय मेरा कोई वश न चलेगा और हम सब जल के अथाह प्रवाह में निमग्न हो जायेंगे।"[7] रानी निहालदे को सोते समय पीवना साँप डस लेता है और सुलतान उसकी मृत देह को अश्व के संरक्षण में छोड़ जाता है। अश्व पूर्ण उत्तरदायित्व से उस देह की रक्षा का वचन देता है। इन अश्व पर नायक को पूर्ण विश्वास रहता था और आपत्ति के समय ये अश्व गाथानायक की सहायता करते थे। '**निहालदे-सुल्तान**' गाथा में क्रौंच पक्षी भी रानी से सहानुभूति करते हैं और पंख माँगने पर रानी से कहते हैं—"रानी तुम्हारी दशा पर हमें भी तरस आता है, परन्तु पंख देना न तो हमारे लिए सम्भव है और न तुम्हारे लिए इन पंखों की सहायता से उड़ सकना ही।"[8] गाथा में कौआ निहालदे की प्रार्थना स्वीकार कर उसकी मुद्रिका सुलतान तक पहुँचा देता है। कच्छप एक अमानव पात्र है। सुलतान ने कच्छप के प्राण बचाये थे, इसके प्रत्युत्तर में कछुआ मानव-वाणी में बोलता है—"धन तेरी माता रे दोसत धन पिता/परन्का दुख नै रै भाई तू जाणता/जांणै दुःख ले है बी तूँ बंटाय/मौत भी निभाई, रै तै मेरे से या दोसती/जुग जुग बी रै भाई मैं तन्ने असीस द्यूं/तेरा गुण नै रै मैं हो भूलण का नायं/मेरे भी लायक होवे सो कहदे मन्ने इब बारता/जाणें मैं द्यूंगा बी बचन निभाय।"[9] आभलदे को प्राप्त करने में कछुआ सुल्तान की पूर्ण सहायता करता है। पाबूजी गाथा में उनकी कालमी घोड़ी शक्ति का अवतार बतलाई गई है। सोढ़ों ने तोरण गढ़ के कंगूरों पर लटका दिया था, पाबूजी चिन्तित थे, तभी घोड़ी कहती है—"हे पाबू, तुम यदि मेरी पीठ पर थाप दो, तो मैं चन्द्र और सूरज पर स्थित तोरण भी तोड़ दूँ, सोढ़ो के गढ़ के अंगूरे तोड़ लाऊँ, गढ़ की दीवार गिरा दूँ।"[10] **तेजाजी लोकगाथा** में उनका अश्व उनके निधन पर तेजाजी का सन्देश उनकी माता के पास पहुँचाता है। **बगड़ावत लोकगाथा** में नेवाजी का अश्व मानव की भाँति बातें करता है, मान-अपमान का अनुभव करता है। युद्ध मे जाते समय नेवाजी की पत्नी उन्हें माला पहनाती है किन्तु वह अश्व के लिए माला न लाई, इस पर अश्व अपमान का अनुभव करता है और शाप देता है—"थे आया म्हारे आरते नेतूं जी/ऊबा सात सहेल्यां साथं/चौदह सौ कामण्या ने पकड़ै राणां जी/मांझ गलती रात।"[11]

राक्षस, राक्षस-कन्या, अप्सरा, भैरव, योगनियाँ, शिव और पार्वती की भूमिका भी महत्त्व की रहती है। स्वर्णपुरुष, अतीत, योगी, पानी, कथा, अश्व, उड़नखटोला, सिद्धिगुटिका और मंत्र प्रभाव से कार्यसिद्धि का वर्णन भी अनेकशः लोकगाथाओं के विषय बने हैं। प्रेमकथात्मक लोकगाथाओं में पानी पंथा, घोड़ा, सिद्धिगुटिका, मन्त्र-शक्ति और शिव-पार्वती का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है। ऐसी लोकगाथाओं मे नायक अनेक विघ्नबाधाओं में फँसकर भी अपने अभिप्रेत कार्य को सिद्धि कर लेता है। "लोकगाथा में सभी प्रकार के पात्रों को स्थान प्राप्त है। मानव-अमानव पात्र ही नहीं जड़ पदार्थ भी पात्र के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। गाथा का रचयिता अत्युदार दृष्टि रखता है, उसके लिए मानव और अमानव पात्रों में अन्तर नहीं है। वह प्रत्येक पदार्थ में प्राणों का स्पन्दन देखता है, प्रत्येक वस्तु उसके लिए चेतन है। गाथा

का रचयिता तथ्य और कल्पना में भी अन्तर नहीं देखता, वह काल्पनिक दृष्टि में आनन्द लेता है। इस कल्पना में उसकी भावनाएँ उन्मेषित होती है और भावात्मक उन्मेष होती है और भावात्मक उन्मेष आनन्द का स्रोत है। सत्य और असत्य का विवेक गाथाकार की भावना से परे है। अमानव तत्त्वों को और अलौकिक क्रिया-कलापों को भी वह नित्य जीवन की घटनाओं के समान समझता है।"[12] अपने नायकों को कष्टों से बचाने एवं उनकी सहायता करने में गाथा के रचयिता ने देव-पात्रों का उपयोग किया है। गाथा में गुरु गोरखनाथ, शिव-पार्वती, भैरव, हनुमान्, देवी दुर्गा, इन्द्र, अप्सराएँ, नारद, मत्स्येन्द्रनाथ, विष्णु, शक्ति इत्यादि दैवीय पात्र की परिकल्पना मिलती है। राजस्थानी लोकगाथाओं में सर्वत्र इनका आह्वान मिलता है। बगड़ावत लोकगाथा में बगड़ावतों की सारी शक्ति अलौकिक है। बगड़ावत शिव के दर्शन अनेक बार करते हैं। गाथा में शिव कोढ़ी का रूप धारण कर बगड़ावतों की परीक्षा लेते हैं। गाथा में जैमती अनेक बार रूप बदलती है। निहालदे सुलतान में सुलतान को गोरखनाथ का इष्ट था। दुर्गा जानी को याद करते ही प्रत्यक्ष हो जाती है। गोदू हनुमान् का इष्ट है। कणमणिये को भौरव आता है। निहालदे भगवान् शिव की शिष्या है इसलिए निहालदे शिव की कृपा से सुलतान को पुनर्जीवन देती है। '**जलना-बूबना**' गाथा में दुखान्त गाथा को सुखमय परिणति भगवान् शिव व पार्वती की कृपा से कब्र में दफनाये हुए प्रेमी युगल जलना और बूबना को पुनर्जीवन प्रदान करने से होती है। ढोला-मारू लोकगाथा में भी भगवान् शंकर मारू को नव-जीवन प्रदान करते हैं। नागजी-नागवती गाथा में भी मृत नागजी को जीवन प्रदान कर अखण्ड सुख का आशीर्वाद देते हैं।

लोकगाथाओं में अलौकिक क्रियाएँ भी प्रचुर प्रयोग हुई हैं। "इन्हें सुनकर श्रोता आश्चर्य में पड़ जाता है। एक बार तो उसका विश्वास भी विचलित होने लगता है कि यह कैसे हुआ? उत्तर एक ही है, देवी कृपा से। देवी कृपा के समक्ष मनुष्य कुछ भी मानने को प्रस्तुत रहता है। देवता और देवी की कृपा तो श्रद्धा की वस्तु है, शंका अथवा तर्क की नहीं।"[13] पाबूजी लोकगाथा में पाबूजी अपनी भतीजी को विवाह के अवसर पर दहेज में ऊँट देने का वचन देते हैं। उस समय राजस्थान में ऊँटों का अभाव था। अपने वचन को पूरा करने के लिए पाबूजी जब ऊँटों का पता लगाने हरीसिंह को भेजते हैं। हरीसिंह गुरु बालीनाथ का भक्त था। वह जब लंका जाता है तो उनके योगबल से ही वह समुद्र पर सेतु बँध जाता है। वह अपने घोड़े सहित उस सेतु को पार कर लंका पहुँच कर रावण लंका में लक्षाधिक ऊँटों का पता लगाने में सफल होता है। ऊँटों को प्राप्त करने के लिए रावण से संघर्ष करना आवश्यक था। वचनबद्ध पाबूजी रावण से संघर्ष के लिए अपनी सेना तैयार करते हैं। "रावण स्वयं अपनी सेना सजाकर युद्ध स्थल पर उपस्थित हुआ। पाबूजी इस यमदूती सेना से जरा से भी विचलित नहीं हुए।....उन्होंने रावण की सेना को गाजर मूली की तरह उखाड़ दिया। रावण को अपनी बची हुई सेना के साथ भागना पड़ा। विजयश्री का सेहरा पाबूजी को बँधा।"[14] पाबूजी के चमत्कार से सोढ़ो के सूखे प्रदेश लहलहाने लगा। पौधों और वृक्षों में फल आ गये। अपने अलौकिकता के बल से ही वे अपने धर्म व वचन की रक्षा करने में सफल होते हैं। गौ रक्षा के लिए किये गये युद्ध में पाबूजी के वीरगति होने पर स्वर्ग से विमान आता है।

तेजाजी लोकगाथा में तेजाजी की चिता पर उनकी पत्नी सती होने के लिए बैठती है किन्तु उस समय चिता को प्रज्वलित करने वाला कोई न था क्योंकि शास्त्रानुसार मृत आदमी की चिता को उसके परिवार का सदस्य का या गोत्र का सदस्य होना आवश्यक था। इस पर तेजाजी की पत्नी सूर्य देवता से प्रार्थना करती

है, ''पिता अब मैं तुम्हारी ही शरण में हूँ, यदि मैं पति परायण सच्ची स्त्री हूँ तो हे पिता, तुम स्वयं अपनी उष्ण किरणों से मेरी चिता को प्रज्ज्वलित करो''[15] और उसके सतीत्व से उसकी चिता प्रज्वलित हो जाती है। गोगाजी लोकगाथा में गोगाजी का जन्म ही गुरु गोरखनाथ के आशीर्वाद से होता है। गोगाजी को गाथा में शैशवावस्था से ही अलौकिक शक्ति सम्पन्न दिखाया है। पुत्र प्राप्ति के लिए जब बाछल साधु-सन्तों की सेवा करने लगती है तो वह भी उसके परिवार जनों को सहन नहीं होता। उनके विचार में बाछल जोगियों की सेवा में रहकर चौहान वंश की प्रतिष्ठा गिरा रही थी। उसे पीहर जाने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार एकाएक पीहर भेजे जाने का कारण जब बाछल को पता चलता है तो उसे दुःख होता है। गर्भस्थ शिशु गोगा अपनी माँ की पीड़ा को समझ रहे थे। उन्होंने अपनी माता बाछल से कहता है कि माँ! तुम क्यों रोती हो? तुम्हारा पीहर जाना व्यर्थ है। यद्यपि मेरे दादा ने तुम्हें देश निकाला दे दिया है, किन्तु मैं अपने ननियाल में जन्म नहीं लूँगा। अब तुम्हें कोई कुछ नहीं कहेगा। सारी परिस्थितियाँ ठीक हो जायेंगी। जन्म लेकर मैं पीर के रूप में प्रसिद्ध पाऊँगा। यथा—''**नानेरै मत जावो मेरी बाछळ माता/नाहो नांव कढावै/पाछी ददेरवौ नैं चलो मेरी बाछळ माता/प्रिथवी पीर कैवाऊँ।**''[16] सती बाछल का रथ जब पुनः राजा ऊमर के द्वार पर आ जाता है तो राजा अब भी पुनः उसे उसके पीहर भेजना चाहते हैं, किन्तु रथ सती बाछल के कारण व गोगा के चमत्कार के कारण उनसे हिल नहीं पाता है। यथा—**इतरी कैंता माता रथड़ो मोड्यो/स्थड़ो पोळयां आयो इण रथड़ै रै हाथी जोड़ाया/घोड़ा जोड़ाया/रथड़ो हलणा न पावै/इण रथड़ै रै दादो ऊमर लाग्यो/पिता झेवर लाग्यो/सारो कुटम लाग्यो/रथड़ो ड्योढ़याँ छायो।**''[17] यह देखकर सब स्तब्ध हो जाते हैं। रानी बाछल को पुनः ससम्मान राजमहल में पहुँचाया जाता है—''**आमा तो सामा पड़दा तणाया/राणौ नैं महल पुगावो।**''[18]

पाबूजी को गोरखनाथ दर्शन देते हैं। जन्म लेते ही बालक ने चमत्कार दिखाये। अपंग दाई को आँखें और पैर मिल गये। यथा—''**आँख्याँ सूँ आँधी पगाँ रे पाँगळी/दाई आवै राजा झेवर री पोळ/पैलो तो पग दियो पेड़ियाँ/दिया रे दाई माई नैं पाँव/दूजो तो परचो ओ दियो/दिवा दाई माई नै आँख।**''[19] पिता के घर जन्म लेने पर गोगाजी का पालना सर्पों के फण से ढका रहता है। माता बाछल जब उन्हें मारने के लिए आती है तो गोगाजी उन्हें कहते हैं—''**गोगो राणो पाळणियै में सूतो/पाछी घिर अम्मा निजर पसारी/पालणियो सरपाँ सूँ छायो/काची नींदाँ में बालो पाँव पसार्यो/सरपाँ डँक लगायो/लेकर हुंक बालो चूसण लाग्यो/जहर अमी कर डाल्यो/खबर हुई मेरी माता बाछल नै/ले लाठी मारण आया हाँ/इण सरपाँ रै माता लाठी मत मारजो/म्हारा बुलाया आया हाँ।**''[20] गोगाजी का गोल्हूगढ़ के पाबूजी से मिलन होता है जिसमें अपने चमत्कार से गोगाजी पाबूजी को हरा देते हैं। यथा—''**मैं तो हार्याँ सूँ देसाँ ददेरै रो राज/थाँरै हार्याँ सूँ लेसाँ केलमदे डीकरी/पाबूजी तो धारयो मींडकै रो रूप/सतूं समदाँ रै पींयाळै बैठिया/गौगै जी धार्यो सरप रो रूप/अपड़ तो बगायो मींडक बार नै।**''[21] केलमदे को बाग में नाग के काटने पर गोगाजी की तांती बाँधने पर जीवित हो जाना भी गोगाजी का चमत्कार था। गोगाजी का चमत्कारिक व्यक्तित्व वीरता से परिपूर्ण था। वे जहाँ एक ओर अपनी माता के कष्टों का निवारण करते हैं वहीं दूसरी ओर अपने कार्यों से तत्कालीन समाज की बुराईयों को भी नष्ट करते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन उनके इसी वीरता, चमत्कार और त्याग की कहानी बनकर जनमानस के समक्ष आती है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि राजस्थानी लोकगाथाओं में अलौकिक तत्त्व भरपूर मात्रा में उपलब्ध है। इस अलौकिकता का वर्णन श्रोता के मन में सत् की स्थापना और आस्था व विश्वास को बनाए रखना है। गाथा में वर्णित सभी अलौकिक पात्र सत् की स्थापना के लिए ही अलौकिक शक्ति सम्पन्न बताए गये हैं। "सभी पात्र सत्पात्रों की ही सहायता करते हैं। इनका उपयोग गाथा रचियता नायक के सत्कर्मों को पूर्ण करने के लिए करता है। नायक के सत् से विचलित होते ही ये पात्र भी सहायता करना छोड़ देते हैं। इससे गाथा की आदर्शोन्मुखता सिद्ध होती है।...गाथाकार ने देव, पशु-पक्षी इत्यादि को स्थान देकर अपनी विशाल लोकदृष्टि का परिचय दिया है। महान् है यह दृष्टिकोण, जहाँ ईश्वर की सृष्टि के सभी जीव, देव, दानव, मानव, चर और अचर समान हैं।"[22]

सन्दर्भ

1. राजस्थानी लोकगाथा का अध्ययन, डॉ. कृष्णकुमार शर्मा, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, 1972, पृ. 234-235
2. वही, पृ. 234
3. वही, पृ. 234
4. वही, पृ. 233
5. वही, पृ. 230-31
6. निहालदे सुलतान, कृष्णबिहारी सहल, साहित्यगार, जयपुर, 1978, पृ. 81
7. वहीं, पृ. 81
8. वही, पृ. 68
9. वही, पृ. 293
10. राजस्थानी लोकगाथा कोश, सं. डॉ. कृष्णबिहारी सहल, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2011, पृ. 36
11. बगड़ावत लोकगाथा, डॉ. कृष्णकुमार शर्मा, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1970, पृ. 60
12. वही, पृ. 230-31
13. राजस्थानी लोकगाथा का अध्ययन, डॉ. कृष्णकुमार शर्मा, पृ. 239
14. राजस्थानी लोकगाथा कोश, सं. डॉ. कृष्णबिहारी सहल, पृ. 31-32
15. वही, पृ. 50
16. गोगाजी चौहान री राजस्थानी लोकगाथा, चन्द्रदान चारण, पृ. 45
17. वही, पृ. 45-46
18. वही, पृ. 46
19. वही, पृ. 46
20. वही, पृ. 48
21. वही, पृ. 50-51
22. राजस्थानी लोकगाथा का अध्ययन, डॉ. कृष्णकुमार शर्मा, पृ. 235

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 227-230

आधुनिकता और निर्मल वर्मा का कथा साहित्य

सीतेश्वरी मिश्रा*

आधुनिकता एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। जिसका जन्म यूरोप में ज्ञानोदय और औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप हुआ। शीघ्र ही इसने राष्ट्रीय सीमाओं का उल्लंघन करते हुए पूरे विश्व में व्याप्त हो गयी। यह सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक बनी। जिन परिस्थितियों में यह पश्चिम में जन्मी वही परिस्थितियाँ भारत में नहीं थी। पाश्चात्य जगत् की स्थिति तथा परिस्थिति और हमारे देश की परिस्थिति में काफी अंतर है। इसका स्वरूप सर्वत्र एक सा नहीं है। यह अनेक रूप, भाव तथा अर्थ सम्पन्न है। इन्द्रनाथ मदान इसे एक जीवन बोध मानते हुए कहते हैं "आधुनिकता को किसी परिभाषा में बाँधा जाता है तो आधुनिकता के आधुनिकतावाद में परिणत होने का भय है, एक नारी के नर में बदल जाने की शंका है। इसलिए आधुनिकता को एक प्रक्रिया के रूप में अपनाना ही संगत जान पड़ता है। यह प्रक्रिया प्रश्न चिन्ह की है न कि विराम चिन्ह की।"[1] मैक्सवेबर जिसने सर्वप्रथम यह धारणा दी थी कि आधुनिकता की जड़ में तार्किकता (Rationality) है, ने भी आधुनिकता के मूल में वैयक्तिक भावनाओं को देखा था। वेबर के अनुसार, "आधुनिकता व्यक्ति एवं समाज के सदा से चले आ रहे स्वरूप को मिलने वाली स्पष्ट स्वीकृति है। आधुनिक अस्मिता अतीत में की गई अस्मिता की संरचनाओं की शृंखला में मात्र अगली कड़ी नहीं है, बल्कि यह इन संरचनाओं के मूल में उपस्थित कारणों पर से परदा उठाने की प्रक्रिया है।"[2]

आधुनिकता शब्द का एक और भी अर्थ है। इस अर्थ में यह शब्द किसी आधुनिक व्यक्ति का अत्यंत सांसारिक रूप चित्रित करता है—"आधुनिक होने का अर्थ है 'एडवांस' होना अर्थात्–धनी होना, पारिवारिक व धार्मिक सत्ता के झमेलों से मुक्त होना, इसका अर्थ है–तार्किक व बुद्धिवादी होना। यदि कोई ऐसा बुद्धिवादी हो जाता है तो उसके लिए सांसारिकता, वैज्ञानिकता (Scientism) एवं सुखवाद को छोड़कर और कोई परम्परा नहीं रह जाती।"[3] आधुनिक व्यक्ति के इस आत्मकेन्द्रित बुद्धिवादी परिचय ने व्यक्तिगत व सामाजिक अस्मिता को नए ढंग से परिभाषित किया है—अब सामाजिक मूल्यों से लोगों के जुड़ने का तरीका बदल गया है। इस तरह हर आधुनिक व्यक्ति किसी तरह की सामाजिक सत्ता के बोझ से मुक्त हो गया है। वह हर तरह की धार्मिक, पारिवारिक या पितृप्रधान सामाजिक प्रभुत्व से मुक्त हो चुका है। एडवांस होने का अर्थ व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिये होने वाली भौतिक व व्यावहारिक उन्नति के आधार पर मुक्त होना।

आधुनिक समाज व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कुछ ऐसी गारंटी करता है जिससे समाज में जीने वाला आधुनिक व्यक्ति अपने आपको पारस्परिक समाज में जीने वाले लोगों से अलग समझता है। आधुनिक

* शोधछात्रा, डॉ० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

व्यक्ति जो सामाजिक भूमिकाओं एवं संस्थाओं की पारम्परिक संरचनाओं से अपने आपको मुक्त कर चुका है एक नग्न व्यक्तित्व (Naked Self) की तरह होता है जो संस्थागत भूमिकाओं से स्वतंत्र है।"[4] पारंपरिक बंधनों से मुक्त विशुद्ध वैयक्तिक अस्मिता यानी की नग्न व्यक्ति का यह विचार, आधुनिकता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मानी जाती है। पीटर बर्जर इस विशेषता की व्याख्या दो धारणाओं की मदद से करते हैं। पहली धारणा है प्रतिष्ठा (Honour) की, जो सामाजिक या संस्थागत प्रतिष्ठा से जुड़ी है और दूसरी धारणा है सम्मान की, जो व्यक्तिगत अस्मिता की समानता पर टिकी है। आधुनिकता का अर्थ सबसे पहले तो परम्परा से अपने आपको अलग करना, व्यक्ति द्वारा जीवन शैली चुनने की स्वतंत्रता एवं अपने मूल्यों की व्याख्या करना है। आधुनिक व्यक्तिवाद की यह धारणा एक ऐसे सामाजिक एवं संस्थागत ढाँचे की पूर्वकल्पना पर आधारित है जो पारम्परिक मूल्यों से मुक्त हो एवं इस कारण से इसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता संभव हो। अतः आधुनिकता का अर्थ मात्र चेतना की एक अवस्था नहीं है बल्कि यह शब्द समाज के ऐसे विशेष प्रकार के विकास से भी जुड़ा हुआ है जो इस तरह की चेतना विकसित करने में सहायक हो। इसी तरह सार्वजनिक संस्थान (Public Institution) भी मूल्यों से मुक्त होकर अपनी भूमिका निभाएंगे ताकि "व्यक्तियों को (अपने लिये) चयन का पूरा मौका मिल सके।"[5]

निर्मल वर्मा का कथा साहित्य आधुनिकता से ओत-प्रोत है। उनके कथा साहित्य में व्यष्टि मन और बुद्धि रूमानियत और अस्तित्वबोध तथा पूर्व और पश्चिम का अद्‌भुत समन्वय स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। निर्मल वर्मा की जीवन यात्रा शिमला से शुरू हुई और चेकोस्लोवाकिया इटली, लंदन, पेरिस आदि देशों से होकर दिल्ली में आकर स्थिर हुई। निर्मल ने अपने कथा साहित्य में अपने इन्हीं जीवनानुभव को ही व्यक्त किया है। **'माया दर्पण', 'पिछली गर्मियों में', 'अंतर', 'लंदन की एक रात', 'कुत्ते की मौत' 'आदमी और लड़की', 'जलती-झाड़ी', 'पिक्चर-पोस्टकार्ड' और 'वीक-एण्ड'** आदि कहानियों में आधुनिक जीवन की विसंगतियाँ यथार्थ पूर्ण ढंग से व्यंजित हुई है। प्रेम, सेक्स, भय, घुटन, निरासा, घरेलू टूटते संबंध आदि विभिन्न आयाम उनके कथा साहित्य में परिलक्षित होते हैं। **'वे दिन', 'एक चिथड़ा सुख', 'रात का रिपोर्टर', 'लाल टीन की छत'** आदि उपन्यासों में आधुनिक जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है। निर्मल का अब तक का लिखा हुआ समग्र कथा साहित्य आधुनिक जीवन का जीवंत दस्तावेज है। आधुनिक जीवन का चित्रण करने वाले हिन्दी कथाकारों में निर्मल का स्थान अग्रणी मानना पड़ेगा। आधुनिक कथा साहित्य का परिवेश महानगर और नगर ही अधिक मात्रा में है। लवर्स, लंदन की एक रात, पोस्टकार्ड कहानियों, रात का रिपोर्टर, वे दिन और एक चिथड़ा सुख आदि उपन्यासों में नगरों तथा महानगरों का ही चित्रण है। निर्मल वर्मा का कथा साहित्य आधुनिकता की कसौटी पर खरा उतरता है। हिन्दी कथा साहित्य का आधुनिक परिवेश और उसमें आधुनिक जीवन के चित्रण में निर्मल वर्मा ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

हिन्दी कथा साहित्य में निर्मल वर्मा विशिष्ट आधुनिकतावादी कथाकार मान जाते हैं, जिन्होंने आधुनिकता के माध्यम से पहले स्वयं को स्थापित किया और बाद में उससे मोहभंग भी हुआ। आधुनिकतावादी साहित्य का आधार न केवल औद्योगिकी से उत्पन्न समस्याएँ रही हैं, बल्कि दो विश्व युद्धों के दौरान सृजित आधुनिकतावादी अस्तित्ववादी दर्शन और भावबोध भी रहा है, जिसका प्रभाव निर्मल वर्मा के कहानियों और उपन्यासों में देखा जा सकता है। अलगाव, अकेलापन, अजनबीपन, उदासीपन और

अंधेरा बराबर उनके साहित्य में उपस्थित क्यों रहता है और क्यों उनके पात्र अकेलेपन या उदासीनता की पीड़ा भोगने के लिए अभिशप्त रहते हैं? 'परिन्दे', 'माया दर्पण', 'सितम्बर की एक शाम' के पात्र हो या 'आखिरी गवाह', 'लंदन की एक रात' और 'बीच बहस में' के पात्र सभी अभिशप्त हैं। निर्मल की कहानियों की दुनिया अभिशप्त, अंधकार ग्रस्त, अकेलेपन की कहानियों की दुनिया है, जिसका परिवेश और भावाबोध प्रचलित हिन्दी कहानी के परिवेश और भावबोध से अलग है। इस दृष्टि से उनकी कहानी परिन्दे से हिन्दी की नई कहानी की शुरुआत मानते हुए नामवर सिंह ने लिखा है—"यह कहानी वास्तविकता के प्रति एक नये दृष्टिकोण की ओर संकेत करती है, जिसे चाहे तो नई कहानी की शुरुआत भी कह सकते हैं। हर घटना अनेक व्याख्याओं के लिए खुली है और समस्त व्याख्याओं के बावजूद घटना समाप्त नहीं हो जाती। यह भावबोध हिन्दी कहानी के एक नये मोड़ की सूचना देता है।"[6]

आज के चिंतन प्रधान युग में कथा साहित्य को रूमानियत से ओत-प्रोत करने वाले कथाकारों में निर्मल वर्मा अकेले कथाकार हैं। उनके तरल रूमानी एवं भावुकता से सराबोर कथा के कारण उनके मूल स्वर को ही रूमानी कहा जा सकता है; किन्तु निर्मल सौन्दर्य बोध से असौन्दर्य बोध तक, रूमानी प्रेम से देहात्मबोध तक रागात्मकता से तनाव तक स्मृति से विस्मृति तक आयें। निर्मल की यह रूमानियत चिंतन एवं अस्तित्वगत आधुनिकता मिश्रित रूमानियत है। निर्मल वर्मा की रूमानियत में 'लवर्स' की बौद्धिकता वीक एण्ड का देहात्मक बोध 'लंदन की एक रात की जिजीविषा, बीच बहस में का संत्रास 'अंधेरे' में का पोनो का प्रेम 'परिन्दे' की जूली की वेदना, तीसरा गवाह के रोहतगी साहब की प्रतीक्षा और 'परिन्दे' की लतिका का अतीत प्रेम जुड़ा है। निर्मल वर्मा अपने उपन्यासों तथा कहानियों में आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण करते हैं। इस वर्ग की आर्थिक स्थिति मध्यम होती है फिर भी यह वर्ग ऊँचे सपने देखकर आधुनिक जीवन जीने की कोशिश करता है। यह वर्ग गृहवितृष्णा (होमसिकनेस) से घिरा है। पारिवारिक संबंधों में उदासीनता होने से इस वर्ग में घरेलू संबंध टूटते जा रहे हैं। यह परम्परागत रूढ़ पद्धतियों पर विश्वास नहीं करते लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि इस वर्ग के कई पात्र अंधविश्वास में विश्वास करते हैं। 'सितम्बर की एक शाम' में आधुनिक और परम्परागत मूल्यों के बीच का टकराव दृष्टिगत होता है। बेटा अपनी अलग पहचान बनाना चाहता है, जो पिता जी के नजरों में गुनाह है, विद्रोह है—"घर से जाओगे, अपने पाँव पर खड़े होने जाओ अपनी स्वतंत्रता की पोटली बाँधकर कहाँ-कहाँ भटकते फिरोगे जब नशा उतर जाय तो वापस लौट आना।"[7]

निर्मल वर्मा की कथाएँ उनके स्वतंत्र रचनात्मक निर्माण हैं। उन्होंने अपने पात्र और विचार के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं रखी, हर पात्र को सहानुभूति से रचा। वहाँ कोई खलनायक नही है। निश्चय ही उनकी कथाएँ उनकी अपनी खोजी हुई दुनिया है, जो देशकाल से मुक्त है। ऐसी दुनियाएँ प्रत्यक्ष धरती पर जहाँ परिवार, नौकरी, जाति, राजनीति, धर्म, बाजार और शत्रु-मित्र की ढेरों समस्याएँ हैं, कभी दिखाई नहीं देती। वे सिर्फ स्मृतियों और कल्पनाओं से उतरकर पाठकों के सामने उपस्थित होती हैं। वहाँ स्मृतियाँ हैं, किन्तु आशा नहीं है, क्योंकि इतिहास नहीं है। निर्मल वर्मा अपने उपन्यासों और कहानियों में उन मूल्यों को छोड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं जो आज बेईमानी हुए हैं, वे उन मूल्यों का समर्थन करते हैं। जो समाज को एक करके उसे दिखा देने का काम करता है चाहे वे परम्परागत मूल्य हो या आधुनिक। परम्परागत एवं आधुनिक मूल्यों की टकराहट उनका तीव्रता से बदलाव और सम्बंधों की टूटना दो पीढ़ियों के बीच एक खाई सी बन

गयी है। यह उनके उपन्यासों **'लाल टीन की छत', 'एक चिथड़ा सुख', 'रात का रिपोर्टर, 'बीच बहस में', सितम्बर की एक शाम, 'माया का मर्म' 'पिछली गर्मियों में', 'लंदन की एक रात'** आदि कहानियों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इन कहानियों में संघर्ष मौन है उभर कर सामने नहीं आता।

निर्मल जी यात्रा प्रिय थे। एक यात्री के रूप में उनका अनुसंधान उस एकांत विस्मरण तथा इतिहास के दु:खों की ओर था जिनकी यातना पूर्ण यात्राओं से लौटकर के अपनी रचना को और अधिक उदास और एकान्त प्रिय और अधिक विस्मृति के व्यामोह के सुपुर्द करते हैं। इसी कारण अपने लेखन में वे जिस आत्म विस्मृति 'सेल्क फारगेट फुल नेस' का निरूपण कला के शिखर पर जाकर पाये हैं, वह उनके समकालीन कथाकारों में मुश्किल से मिलता है। आत्मदया के पार जाने वाली यह दृष्टि उन्हें वर्जीनिया वुल्फ, प्रस्तुत दोस्तो एवस्की, नाबोकोव, रमण महर्षि कुमार स्वामी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, राइनेर मारिया, रिल्के आदि से मिलती है। इस सम्बंध में वे कहते हैं साहित्य हमे पानी देता है, वह सिर्फ हमें प्यास का बोध कराता है। जब तुम स्वप्न में पानी पीते हो तो जागने पर सहसा अहसास होता है कि तुम सचमुच कितने प्यासे थे। यह प्यास पिछली शताब्दी में अवसान के साथ भारतीय समाज में एकाएक बढ़ी है और यह उस बड़े विस्मय का प्रश्न है कि कोई भी आधुनिक कहानीकार बदलते हुए परिवेश में मानव जीवन की समस्याओं को खुलकर अंत करने का प्रयास नहीं करते हैं परिवर्तित परिवेश में जहाँ मूल्यों का संक्रमण हो रहा हो ऐसे में निर्मल वर्मा सरीखा कथा लेखक भी अपनी रचना में उन मानवीय संत्रास को चित्रित करने का साहस कर सकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. इन्द्रनाथ मदान—आधुनिक और हिन्दी उपन्यास।
2. मैक्सवेबर
3. प्रमोद तलंगेरि, आधुनिकता की एक समीक्षा, पृ. 57
4. प्रमोद तलंगेरि, आधुनिकता की एक समीक्षा, पृ. 57
5. David Kold
6. नामवर सिंह, कहानी, नयी कहानी, पृ. 70
7. निर्मल वर्मा, परिन्दे, पृ. 75

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 231-234

भारतीय नारी : दशा-दिशा एवं सम्भावनाएँ

डॉ. अमूल्य कुमार सिंह*

समकालीन भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में गम्भीर परिवर्तन हुये हैं एवं इन परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में काफी सुधार हुये हैं। शिक्षा, औद्योगीकरण, नगरीकरण, जातीय गतिशीलता, संचार के साधनों के विकास, यातायात के साधनों में वृद्धि आदि सभी ने स्त्रियों की स्थिति सुधारने में काफी मदद की है। संवैधानिक प्रयासों ने एक ऐसा सामाजिक वातावरण तैयार किया है जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियाँ असमानता, शोषण, अन्याय, बाल-विवाह, दहेज जैसी समस्याओं से किसी सीमा तक मुक्त हुई हैं। पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि—"किसी भी देश की स्थिति को देखने का सर्वश्रेष्ठ उपाय उस देश की स्त्रियों की स्थिति का पता लगाना है। भूतकाल के कई प्रसिद्ध उदाहरणों के बाद यह कहना सत्य होगा कि भारत में पिछले सैकड़ों वर्षों से महिलाओं की स्थिति कानूनी, सामाजिक या सार्वजनिक जीवन में किसी भी दृष्टिकोण से अच्छी नहीं रही है। हाल ही के वर्षों में राजनीतिक व मानवीय गतिविधियों के अन्य क्षेत्रों में स्त्रियों ने प्रगति की है। मुझे प्रसन्नता है कि हमारी संसद ने हाल ही में कुछ विधान पारित किये हैं। जिन्होंने महिलाओं को कानूनी रूप से कई बंधनों से मुक्ति दी है तथा महिलाओं की स्थिति को अच्छी बनाने में मदद पहुँचायी है। अभी कई बाधाएँ और हैं जिन्हें दूर करना आवश्यक है।"[1] परिवर्तन जीवन का परम सत्य है। इसकी दो दिशा जीवन में स्पष्ट दिखायी देती है—विकासोन्मुख, सृजनकारी और पतनोन्मुख, विध्वंसकारी। प्राचीन भारत में भी उत्तर वैदिक काल से ही परिवर्तन होने प्रारम्भ हो गये थे जिनकी दिशा पतनोन्मुख व विध्वंसकारी अधिक थी, क्योंकि इस काल में उस नारी की जो अपने प्रत्येक रूप से वन्दनीय थी और जो पुरुष के साथ जीवन के हर क्षेत्र में समरूप से सहभागी थी जिसकी अपनी एक स्वतन्त्र पहचान थी, दशा निरन्तर हासोन्मुखी होती चली गयी। मातृ प्रधान समाज शनैः-शनैः पुरुष प्रधान होता चला गया एवं नारी की भूमिका समाज विकास में कम होती गयी।

मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद भारत पर अंग्रेजों का शासन हो गया। इस काल मे हमें मृत पड़े भारतीय समाज में पुनः जागरण के चिन्ह दिखायी देते हैं। इसका श्रेय निःसन्देह ब्रिटिश सरकार को जाता है, जिसने यहाँ के समाज में परिवर्तन लाने के लिये अनेक प्रयत्न किये जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण था, आधुनिक शिक्षा नीति का प्रचार एवं प्रसार। इसके परिणामस्वरूप राजाराम मोहन राय जैसे महान् सुधारक का जन्म हुआ, जिन्होंने सती प्रथा का अन्त कराया, बाल विवाह का विरोध किया तथा विधवा पुर्नविवाह एवं स्त्री शिक्षा पर काफी जोर दिया। इस सम्बन्ध में के.एम. पणिकर ने लिखा है कि—"**स्त्री शिक्षा ने**

* वरिष्ठ प्रवक्ता-समाजशास्त्र, डी.एस.एन. (पी.जी.) कॉलेज, उन्नाव

विद्रोह की उस कुल्हाड़ी की धार तेज कर दी है जिससे हिन्दू सामाजिक जीवन की जंगली झाड़ियों को साफ करना सम्भव हो गया है।''[2] स्त्री शिक्षा के व्यापक प्रचार प्रसार के द्वारा ही आज हमारे समाज में स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति में निरन्तर परिवर्तन देखने को मिला है। स्त्रियों की शैक्षिक दृष्टिकोण से बहुत उन्नति हुई। स्वतन्त्रता से पूर्व लड़कियों के शिक्षा सम्बन्धी समुचित व्यवस्था नहीं थी और न ही माता पिता लड़कियों को शिक्षा दिलाना उचित मानते थे। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि 1842 ई० में भारत में केवल 2054 स्त्रियाँ ऐसी थी जो थोड़ा बहुत लिखना पढ़ना जानती थी। जबकि 1981 ई० की जनगणना में साक्षर स्त्रियों की संख्या 7 करोड़ 91 लाख से अधिक हो गयी। वर्तमान समय में स्त्री पुरुष में शिक्षा के क्षेत्र में कोई अंतर नहीं रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने नारी के पुनरुद्धार पर जोर देते हुए कहा—**''जिस देश या राष्ट्र में नारी पूजा नहीं होती, वह देश या राष्ट्र कभी महान् या उन्नत नहीं हो सकता। नारी रूपी शक्ति की अवमानना करने से ही आज हमारा अधोपतन हुआ है।''**

संवैधानिक और वैधानिक उपयोग द्वारा सैद्धान्तिक रूप से महिलाओं के विकास हेतु व्यापक प्रयास किये गये हैं, परन्तु व्यवहारिकता में इनके प्रयोग में अभी भी अनेक बाधाएँ आ रही हैं। इस सम्बन्ध में फेमिका मासिक पत्रिका में लिखा है कि—''लगता था कि आजादी के बाद महिलाओं की स्थिति भी बेहतर होगी, नई शिक्षा एवं नई आधुनिकता समाज में जागृति लायेगी और महिलाएँ पुरुषों की तरह समाज में समान अवसर पाकर एक नये समाज की संरचना में हाथ बटायेंगी। लेकिन दुर्भाग्य से वैसा हुआ नहीं है। महिलाएँ आगे जरूर आयी हैं और आज लगभग हर क्षेत्र में वह पहले की तुलना में ज्यादा दिखायी दे रही हैं, पर महिला उत्पीड़न की घटनाएँ कम नहीं हुई है। नतीजा यह है कि महिलाएँ आज भी अपने को असुरक्षित महसूस करती हैं। दहेज हत्याओं, बलात्कार, शारीरिक मानसिक उत्पीड़न के चलते समाज में स्त्री पुरुष विभाजन की नई स्थितियाँ बनी है। काम काजी आधुनिक नारी को भी अक्सर कई अवरोधों का सामना करना पड़ता है। यह भी एक सच्चाई है कि उत्पीड़न के तौर तरीकों में भी भले ही फर्क हो, पर शहरी और ग्रामीण स्त्रियाँ समाज रूप से अवहेलना, उपेक्षा और दमन की शिकार हो रही हैं।''[3]

15 फरवरी 1998 ई० को नई दिल्ली में **''फैमिली वाइलेन्स अगेन्स्ट वूमेन''** विषयक संगोष्ठी में न्यायमूर्ति डी.ए. देसाई ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि—''सभ्यता के प्रादुर्भाव के साथ ही नारी शोषण व नारी के प्रति अत्याचार की सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी गयी जिनको नारी सदा मूकदर्शक की तरह देखती रही और उसने कभी संगठित होकर विद्रोह नहीं किया। वही स्थिति आज भी है जबकि नारी के साथ हर क्षेत्र में भेदभाव किया जाता है। चाहे वह समान अवसरों का क्षेत्र हो चाहे सम्पत्ति उत्तराधिकार का। यही नहीं नारी पर अनेक अत्याचार किये जाते हैं। उनको पीटा जाता है, विवश नारी के साथ बलात्कार किया जाता है और कई प्रकार से प्रताड़ित किया जाता है तथा दहेज न लाने पर मार तक दिया जाता है। मूकदर्शक नारी सदा ही पुरुष समाज का शिकार बनी है। शिक्षा के क्षेत्र में समान अवसर न दिये जाने के फलस्वरूप नारी को आर्थिक आत्मनिर्भरता व स्वावलम्बन के अधिकार नहीं मिल पाते, जिससे वह आर्थिक रूप से पुरुष आश्रित रहकर अन्याय व अत्याचार को चुपचाप सहती है। जस्टिस देशाई के अनुसार

महिला संगठन के लिये बनाये गये कानून केवल मात्र कागजी हैं। क्योंकि न्याय पाने के लिए महिलाओं को लम्बी कानूनी प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। महिला मानसिकता शिकायत न कर चुपचाप अन्याय सहने की है, जिसके फलस्वरूप वह विद्रोह न कर, चुपचाप अत्याचार व अन्याय सहन करना अधिक पसन्द करती है।"[4]

भारत में स्वतन्त्रता के उपरान्त अनेक सामाजिक विधान महिलाओं के लिये बनाये गये हैं किन्तु उनका लाभ बहुत कम महिलाओं को मिल पाता है क्योंकि वे इन विद्यमान विधानों के प्रति जागरुक नहीं है। इस सम्बन्ध में जोसेफ मीनातुर ने लिखा है कि—"महिला सुधार विषयक कानूनी प्रावधानों पर किये गये अध्ययन से पता चला और वास्तविक स्थिति जो स्वयं उन्होंने पायी, से पूर्णतः स्पष्ट है कि वैधानिक के अतिरिक्त कुछ और अपेक्षित है। वह है पहले महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागरुक किया जाये।"[5] स्त्रियों की एक संख्या ने अपने प्रस्ताव में घोषित किया कि—"**हम न तो कोई अमृत अप्सरायें हैं न गुड़िया और न ही आवेग और भावना से बँधी हुई गठरी ही हैं। हम भी पुरुषों के समान ही एक मानव हैं और हममें भी स्वतन्त्रता की वैसी ही लगन है।**"[6] जब श्रीमती इंदिरा गाँधी भारत की प्रधानमंत्री बनी तथा सम्पूर्ण विश्व तथा विशेष कर पश्चिम की सभ्य समाजों की स्त्रियाँ अचम्भे में पड़ गयीं। उन्हें पहली बार ऐसा महसूस हुआ कि उनकी राजनीतिक जागरुकता अभी बहुत पीछे है। भारत के अनेक राज्यों में महिला मुख्यमंत्रियों का होना बड़े आश्चर्य की बात थी। इस संदर्भ में के.एम. पणिकर ने लिखा है कि—"जब स्वतन्त्रता ने पहली अंगड़ाई ली तब भारत के राजनीतिक जीवन में स्त्रियों को जो पद प्राप्त हुआ उसे देखकर बाहरी दुनिया चौक पड़ी क्योंकि वह तो भारतीय स्त्रियों को अशिक्षित, पिछड़ी हुई और प्रक्रियावादी, सामाजिक व्यवस्था में जकड़ी हुई समझने की अभ्यस्थ थी।"[7] स्त्रियों को प्रदत्त अधिकारों में वेदकालीन समाज व्यवस्था के बाद जहाँ क्रमशः कमी आती गयी वहीं स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उनके प्रदत्त अधिकारों में अनवरत वृद्धि होती गयी। आज भारतीय समाज में निःसंदेह स्त्रियों को वे समस्त अधिकार प्राप्त है जो पुरुषों को प्राप्त है परन्तु अभी बहुत कुछ परिवर्तन किया जाना शेष है। हमारी पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने कहा था कि—"महिला मुक्ति", भारत के लिये शौक की वस्तु नही है बल्कि एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है ताकि राष्ट्र भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक संतोषजनक जीवन की ओर अग्रसर हो सके।

अन्ततः कहा जा सकता है कि भारतीय नारी के समक्ष चुनौतियों की संख्या कम नहीं है। हर कदम पर उन्हें चुनौती स्वीकार करनी है और चुनौती को स्वीकार करके ही वह अपना उत्तरदायित्व निभा सकती है। उसे स्मरण रखना होगा कि वही देवी है, रणचंडी है, सौम्या है और वही सृष्टि की जननी है। दोष किसमें नहीं होता है सर्वथा निर्दोष तो एक मात्र प्रभू है। नारी को अपने दोषों को पहचान कर स्वीकार करके उन्हें दूर करना होगा। हमें याद रखना होगा कि समाज की दो धुरी है—नारी और पुरुष। प्रकृति ने दोनों का निर्माण इस प्रकार किया है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और इसलिये दोनों के अपने-अपने दायरे हैं, अपनी-अपनी शक्तियाँ है फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि नारी के जननी होने के कारण ही पुरुष से अधिक उसकी समाज निर्माण में भूमिका है।

सन्दर्भ-सूची

1. पं. जे.एल. नेहरू—'वूमेन ऑफ इंडिया', पृ. 8
2. के.एम. पणिकर—'हिन्दू सोसाइटी', पृ. 81
3. शुक्ला प्रयाग नारी उत्पीड़न, फेमिना मासिक पत्रिका, टाइम्स ऑफ इंडिया, प्रकाश नई दिल्ली, दिसम्बर अंक 1991, पृ. 3
4. अंसारी एम.ए.—''नारी चेतना और अपराध' पंचशील प्रकाशक, जयपुर, 1989, पृ. 247
5. श्रीवास्तव टी.एन.—वूमेन एण्ड द इन्टेलेक्टुअल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली 1985, पृ. 23
6. महात्मा गाँधी—वूमेन एण्ड सोशल इनजस्टिस्क, पृ. 38
7. के.एम. पणिकर—हिन्दू सोसाइटी, पृ. 83

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 235-239

जयशंकर प्रसाद विरचित कामायनी : वैदिक दर्शन के आलोक में

डॉ. उर्मिला पारीक* एवं डॉ. सुरेन्द्र जोशी**

शोध सारांश

प्रसाद जी ने वेदों, उपनिषदों की दार्शनिक प्रणालियों का अवगाहन किया था। पाश्चात्य दार्शनिक विचार धाराओं से भी वह अनभिज्ञ नहीं थे। उनकी दृष्टि में अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा अनुभूतिजन्य थी। वे इस ब्रह्माण्ड के मूल में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

दर्शन के सम्बन्ध में प्रसाद के अनुसार एकेश्वरवाद 'एकं सद्विप्राबहुधावदन्ति' को अपने-अपने काव्य में उपस्थित किया है। प्रसाद जी ने ईश्वर की अवर्णनीय और रहस्यपूर्ण सत्ता को समस्त भौतिक जगत के परिव्याप्त मानते हैं।

शैव दर्शन के अनुसार प्रसाद ने जगत को सत्य सुन्दर और चित्त का विराट वटु कहा है। प्रसाद ने भावी भारत के सांस्कृतिक उन्नयन की कल्पना में निराश्रित नारी के अन्तदर्शन, नारी पूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा और समात्त मानव की मुक्ति में नारी की उदात्त आस्थाओं का गाँधीवादी दर्शन के माध्यम से उद्बोधन किया। श्रद्धा ने नारी के महिमामय उत्तर दायित्व का केवल निर्वाह नहीं किया, वरन् मानव जीवन को बृहत्तर पृष्ठिभूमि पर प्रतिष्ठित भी किया। श्रद्धा-मनु का पर्वतारोहण तो आध्यात्मिक उन्नयन का काव्यात्मक प्रतीक है।

संकेताक्षर- व्युत्पत्तिलभ्य, शैव दर्शन, सर्वहुत, यज्ञ पुरुष, यजमान, वैदिक ऋचा, शैवागम

'इष्ट प्राप्त्यनिष्ठ निरसनयौर लौकिक मुपार्य यो ग्रन्थो वदति स-वेदः'

(अभिलषित वस्तु की प्राप्ति और जो न चाहिए उस वस्तु का निराकरण कैसे हो? उसका सही उपाय जो बतलावे वही वेद है।)

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विरन्ति देरेन तस्माद्वेदस्य वेदता।'

(प्रत्यक्ष प्रमाण से और अनुमान से जो बातें नहीं जानी जा सकती, उन सभी बातों को सरलता से जानी जाय, वही वेद है।)

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

(जिसके वर्णन करने में वाणी भी थक जाती हैं और वर्णन समाप्त नहीं हो सकता वही वेद है।)

वेदों की उत्पति के सम्बन्ध में ऋग्वेदीय वचन है :

---

* व्याख्याता (हिन्दी), स.ध. राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर (राजस्थान)
** व्याख्याता (हिन्दी), स.ध. राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर (राजस्थान)

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतत्रऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि यज्ञिरे, तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।

सर्वहुत यज्ञपुरुष, परमपूज्य प्रभु से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद उत्पन्न हुए।

हिमगिरी के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष, भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

जलप्लावन और मनु की कथा शतपथ ब्राह्मण, पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में बिखरी हुई है।

मनु के हृदय में विचार आता है कि सम्भव है मेरी ही भाँति किसी और का भी जीवन बच गया हो। तपस्वी मनु का अन्तर संवेदन हेतु विकल था।

वे बोले –

कब तक और अकेले कह दो
हे मेरे जीवन बोलो।
किसे सुनाऊँ कथा कहो मत,
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

प्रसाद जी मनु को हवन करने वाले उस मानव के रुप में चित्रित किया जो किसी का सहवास चाहता है। तपस्या और एकाकी जीवन लेकर वह अधिक समय तक नहीं चल सकता। प्राचीन आलेखों के अनुसार मनु ने प्रलय के पश्चात यज्ञ आरम्भ किया था। उसका यह रुप पौराणिक साहित्य के अतिरिक्त वेदों के भी निकट है।

ऋग्वेद में भी मनु को इसी तपस्या से विभूषित किया गया है :

येभ्यो होत्रां प्रथमामयेजे मनु समिद्वाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः
त आदित्या अभयं शर्मा यच्छत सुगान कर्त सुपथा स्वस्तये।
य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विरवस्य स्थातुर्जगश्च मनवतः
तेन वृतवृतादेन सस्यतथा देवास पिपृता स्वस्तये।[१]

शतपत ब्राह्मण के अनुसार मनु ने सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से पाक यज्ञ आरम्भ किया था। यज्ञ के शेषान्न से इडा की उत्पत्ति हुई। यहाँ प्रसाद ने उस अलौकिक वस्तु को छोड़कर श्रद्धा को प्रस्तुत कर दिया। वह (श्रद्धा) काम की बालिका यहाँ बलि का अन्न देख कर चली आई और जान गई कि अभी यहाँ कोई जीवित अवश्य है। पश्चिम के पश्चात, वह मनु को जीवन का संदेश देना आरम्भ कर देती है। श्रद्धा का मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक निरुपण है। श्रद्धा एक नवीन जीवन–दर्शन की स्थापना करती है। वह अपनी समस्त आन्तरिक भावना दया, माया, ममता, मधुरिमा और अगाध विश्वास के साथ आत्म समर्पण कर देती है। यह वर्णन वेद और पुराणों के अत्यधिक समीप है।

आदि से अन्त तक वही मनु पथ–प्रदर्शन करती है बिना उसके मनु का कोई अस्तित्व नहीं। मनु और श्रद्धा का सम्बन्ध ऋग्वेद में पति–पत्नी रुप में मिल जाता है।[२] श्रद्धा की वंश परम्परा में अनेक सन्तानों का

उल्लेख प्राप्त होता है। प्रसाद ने श्रद्धा के 'कामायनी रुप' को ग्रहण किया। वेदों में भी श्रद्धा को 'कामायनी' रुप में स्वीकार किया गया, किन्तु पुराणों में स्वयं श्रद्धा से काम की उत्पत्ति गयी।

श्रद्धा कामं विजशै वै दर्पो लक्ष्मीसुतः स्मृतः।[३]

वेदों में काम एक देवता के रुप में प्रतिष्ठित है। धीरे-धीरे काम के इस रुप में परिवर्तन होने लगा। 'कामायनी' में श्रद्धा के दोनों ही रुप मिल जाते हैं। वह कामायनी भी है, साथ ही मनु को काम में नियोजित भी करती है। वेदों का काम देवता पुराणों में कथा की सामग्री बना। अथर्ववेद ९/२ के अनुसार काम का महत्तवपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में भी वही रुप है। पुराणों में भी आख्यानों के द्वारा इसी का समर्थन है। उपनिषदों में काम की दार्शनिक विवेचना हुई। काम का आध्यात्मिक और दार्शनिक रुप आगम-शास्त्रों में परिवर्तित हो गया। वह सौन्दर्य और कला का विषय बना। धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ ही काम भी समन्वित हुआ और संस्कृत नाटकों में प्रेम कला बन कर आया।

'कामस्तग्ने समवर्ततााधि मनसोरतेः प्रथमं यदासीत्।'[४] ..... काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में भी माना जा चुका है। काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रुप है और प्रेम से वह शब्द अधिक व्यापक भी है। 'कामायनी' के द्वारा प्रसाद ने पुनः काम के वैदिक स्वरुप की स्थापना की। उन्होंने उसके प्रवृत्तिमूलक तत्त्व को ग्रहण किया। श्रद्धा अपने प्रथम परिचय में 'काम' की व्याख्या करती है :-

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम
कामरुपा श्रद्धा मनु के जीवन का वरदान बन कर आती है।

हे काम! तु सर्वप्रथम उत्पन्न होकर देव, पितर, और मर्त्य सभी को प्राप्त हुआ, तुझ से कोई भी न बच सका। तु इस विश्व में व्यापक और सर्वोपरि है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

स्वयं मनु का काम कहता है -

'आरम्भिक वात्या उद्ग में
अब प्रगति बन रहा संसृति का
मानव की शीतल छाया में
ऋण शोध करुँगा निज कृति का।'

काम के व्यापक रुप की प्रतिष्ठा कवि ने सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण के द्वारा कर दी। यह वैदिक काम की साहित्य में पुनर्जागृति है। प्रसाद के पूर्व कालिदास आदि संस्कृति कवियों ने काम को उद्दीपन बनाया। निर्गुण कवि कबीर ने काम से दूर रहने का उपदेश दिया।

श्रद्धा ने करुणा का संदेश दिया। श्रद्धा ने बताया कि भीषण स्वार्थ से विनाश ही होता है। स्वयं हंसना और दूसरों को भी सुख देना जीवन की सार्थकता है (Live and Let live)। वेदों में तपस्वी तथा हिंसक यजमान दोनों ही स्वरुपों में मनु का चित्रण हुआ। ऋग्वेद में पशुबलि आदि का उल्लेख प्रत्यक्ष रीति से नहीं, किन्तु सोम, मधु आदि की चर्चा हैं। किलाल, आकुलि को पुरोहित बनाकर पशु बलि और यज्ञ की कल्पना का आधार शतपथ ब्राह्मण है। ऋग्वेद में श्रद्धा का सांकेतिक अर्थ लेने से उसे यज्ञ का सहायक माना जा सकता है।

'श्रद्धया अग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः'[६]

किन्तु पशुबलि के लिए स्वयं 'कामायनी' की श्रद्धा भी अपने मनु को रोक देती है। कालान्तर में आकर वैदिक यज्ञों की रुप रेखा बदल गई और उसमें हिंसक पशुबलि का भी समावेश हुआ। ब्राह्मण और पुराणों में अनेक प्रकार से इसका वर्णन मिलता है। मनु का सोमपान, मादक रुप, कर्मकाण्ड, पशुबलि आदि इन्हीं से प्रभावित है। श्रद्धा वैदिक कर्म की स्थापना करती है। देवताओं की विकृति से वह मानवता की रक्षा करती है। उपनिषदों की 'श्रद्धा' कर्म को सात्विक बनाती है।

'कामयनी' के पूर्व मनु तथा आदि मानव की कथा इतिहास, पुराण तथा धार्मिक ग्रन्थों में बिखरी मिलती है। विश्व के समस्त प्राचीन धर्म किसी न किसी रुप में आदि मानव की कथा संजोये हुए है। प्रसाद से पूर्व काव्य के रुप में इस कथा का प्रयोग अधिक नहीं प्राप्त होता। मानव के जन्म की आंशिक कथा का उल्लेख मिल्टन के पैराडाइज लास्ट, पैराडाइज रिगेन्ड तथा शैली के प्रोमेथियस अनबाउण्ड में हुआ।[७]

'कामायनी' के पात्रों की सृष्टि जलप्लवन घटना के आधार पर हुई। जल प्लावन कथा का वर्णन प्राचीनतम् भारतीय ग्रन्थों में स्पष्ट रुप से प्राप्त नहीं। वेदों में इस घटना का उल्लेख कालान्तर में हुआ। प्राचीन ऋग्वेद में यमयमी सम्बन्ध को लेकर एक ऋचा है –

'ओ चित्सरवायं सख्यावत्वयां तिरः पुरु चिदर्णन जगो।'[८]

'अर्णव' शब्द के आधार पर ही जलप्रलय की कल्पना सम्भव नहीं। 'वास्तव में ऋग्वेद का समय उस जल प्रलय के समय से पहिले का है। ऋग्वेद की ऋचाओं में उसका वर्णन नहीं मिलता, जैसा अथर्व मंत्रों में उसका उल्लेख है। अथर्ववेद (२/३५) का 'अपन्नपात' जल शक्ति है। प्रसाद जी ने जलप्लावन की घटना शतपथ ब्राह्मण से ग्रहण की है। यह कथा अग्नि पुराण, मत्स्य पुराण महाभारत आदि में वर्णित है।'

'कामायनी' में मनु के अनेक रुप है। आरम्भ में उसे एक तपस्वी के रुप में चित्रित किया है। वे देवताओं के वंशज प्रतीत होते हैं किन्तु देवत्व का अधिक मोह नहीं करते। वह विशिष्ट मानव अवश्य है जो प्रलय में भी जीवित रहता है। तपस्या में निमग्न मनु के हृदय में ही अनेक आकांक्षायें भी उदित होती है। एक से अनेक होने की भावना का संचार भी उनके मन में होता है। इसी के पश्चात उसका श्रद्धा से मिलन होता है।

'कामायनी' के मनु तप करने के साथ ही विश्वदेव, विराट सविता के प्रति एक जिज्ञासा भी रखते हैं। मनु 'अनन्त रमणीय' को देखकर यह भी जान जाते हैं कि –

हे विराट! हे विश्वदेव! तुम
कुछ हो ऐसा होता मान।

प्रसाद जी इस विराट का जिज्ञासु मनु ऋग्वेद के उपासकों के अधिक समीप है। ऋग्वेद में प्रकृति की उपासना में अनेक ऋचायें प्राप्त है।

एक स्थल पर कहा गया है –

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः परिरेक आसीत्।
सराधार पृथ्वी द्यामृतेकां कस्मै रेवाय हविषा विधेम।।[९]

अन्य वैदिक ऋचाओं में भी देवताओं की सामूहिक उपासना का स्वर प्राप्त होता है। मनु की जिज्ञासा मिश्रित कल्पना वैदिक भावना के निकट है। 'कामायनी' का मनु वैदिक मनु की भाँति ही यज्ञ करता है।

ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के अनुवाद में भी उन्हें 'मानवता का पिता' स्वीकार किया है। श्रद्धा मनु के जीवन में आकर उन्हें इस पद पर प्रतिष्ठित कर देती है। श्रद्धा ने मनु की आसुरी वृत्तियों को रोकने का भी प्रयास किया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनु प्रजापति है। पुराणों में उन्हें प्रजापति कहा गया। ऋग्वेद में भी प्रजापति का उल्लेख है। कथा रुप में 'कामायनी' का प्रजापति शतपथ ब्राह्मण की भाँति है।

प्रसाद ने श्रद्धा से ऐतिहासिक स्वरुप की अपेक्षा करके गुणों पर ही अधिक ध्यान दिया है। वह काव्य का सर्वोतम चरित्र है। समस्त कल्पना उस पर आश्रित है। ऋग्वेद में श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या है :

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे ददतः।
प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म् उदितं कृधि।[१०]

श्रद्धा की स्तुति अन्यत्र भी मिलती है। वह सूर्य पुत्री रुप में ऋग्वेद में प्रतिष्ठित है। उपनिषदों का दर्शन श्रद्धा पर अवलम्बित है। छान्दोग्योपनिषद् 'आस्तिक बुद्धि' कहकर उसे जीवन के लिए आवश्यक मानता है। 'कामयनी' में श्रद्धा अमृतधाम, सर्व मंगले आदि महान उपाधियों से विभूषित है। वेदों में श्रद्धा 'ऋषिका' है। उपनिषद् उसे 'आस्तिक बुद्धि' मानते हैं। शैवदर्शन उसमें मातृत्व की कल्पना करता है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने श्रद्धा की कल्पना उस पंछी की भाँति कर ली जो प्रकाश का आभास पाकर अन्धकारमय रजनी में ही गाता रहता है। प्रसाद ने श्रद्धा अथवा कामायनी के रुप में 'शक्तिरुपा' को प्रस्तुत किया।

कामायनी में श्रद्धा ऋग्वेद की पवित्रता, गीता की कर्मठता, शैवागम की उच्चता आदि लेकर प्रस्तुत हुई। वह दर्शन के मंथन का रत्न है। वह हृदय की प्रतिनिधि है।

सन्दर्भ सूची

१. ऋग्वेद, १०/६३/७, ८
२. ऋग्वेद, १०/११/१५१
३. वायु पुराण, १०/३४
४. नासदीप १०/१२९/३
५. अथर्ववेद ९/२/१९
६. ऋग्वेद १०/१५/१
७. तेलेगू लिटरेचर, पी.टी.राजू. पृ. ३२
८. ऋग्वेद १०/१०
९. ऋगवेद १०/१२१/१
१०. ऋगवेद १०/१५२/२

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 240-246

सरकार और मीडिया का अन्तर्सम्बन्ध

(बिहार के विशेष सन्दर्भ में)

ऋषिकेश कुमार गौतम*, सोनाली नरगुंदे**

सारांश

23 फरवरी 2012 ई० को बिहार के पटना विश्वविद्यालय के सेमिनार में बोलते हुए बिहार की मीडिया पर भी उन्होंने हमला बोल दिया और कहा कि आज बिहार की मीडिया पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं है। सरकार और मीडिया के संबंधों पर हमला बोलते हुए जस्टिस काटजू ने ये भी कहा कि यहाँ कि मीडिया सरकार के हाथों की कठपुतली बन चुकी है। बिहार में किसी भी मीडिया संस्थान या पत्रकार को सरकार के खिलाफ कुछ भी लिखने की आजादी नहीं है। इसके बाद तो सरकार और मीडिया के संबंधों को लेकर बहस सी शुरू हो गई कि आखिर सरकार के साथ मीडिया के संबंधों का दायरा क्या होना चाहिए? बदलते परिदृश्य में जब हर तरफ बाजारवादी शक्तियाँ हावी हो गई हैं, हर चीजों को बाजार और मुनाफे के तराजू में तौला जा रहा है, मीडिया संस्थानों ने भी व्यवसायिक कंपनियों की तरह काम करना शुरू कर दिया है, ऐसे में अब ये सवाल उठना भी लाजमी हो गया है कि आखिर इनके संबंधों का दायरा क्या होना चाहिए? इन्हीं सवालों के जवाब पाने के लिए इस शोध को अंजाम दिया गया। वैसे शोध में वक्त और बजट की अपनी सीमाएँ होती हैं। इस शोध में हमने सिर्फ दो सरकारों (राजद और राजग) के शासन काल में मीडिया के साथ संबंधों और व्यवहार में आए बदलावों को जानने की कोशिश की है। इस शोध में सिर्फ प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक और वेब मीडिया को ही मैंने अपने शोध में शामिल किया गया है।

भूमिका

ऐसा पहली बार हुआ है, जब मीडिया की भूमिका, उसके सरोकारों और उसकी प्राथमिकताओं पर गंभीर सवाल उठाए गए हैं। देश के प्रधान न्यायाधीश तक ने इन सवालों पर चिंता व्यक्त की है। पहले भी ये सवाल उठते रहे हैं कि मीडिया किसका है किसके लिए हैं, इसके सरोकार और देश के मुद्दे क्या हैं? मीडिया के सरोकार क्या हैं? इन्हें कौन तय करता है कि किसे तय करना चाहिए? राष्ट्र के मुद्दे क्या हों, क्या न हों? इसे मीडिया के विवेक पर छोड़ देने के खतरों से सतर्क रहना भी जरूरी है। मीडिया के विवेक के प्रश्न से रूबरू होते ही मीडिया कर्म से जुड़े उत्तरदायित्व के सवाल कौंधते हैं। इतना ही नहीं आम लोगों के साथ-साथ भारतीय प्रेस परिषद् के अध्यक्ष जस्टिस मार्कण्डेय काटजू ने पद संभालते ही एक के बाद एक मीडिया से जुड़े इस तरह के सवालों की झड़ी लगा दी। इसी कड़ी में 23 फरवरी 2012 को बिहार के पटना

* *पूर्व छात्र, एम.फिल्, पत्रकारिता एवं जनसंचार अध्ययनशाला, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर*

* *असिस्टेंट प्रोफेसर, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर*

विश्वविद्यालय के सेमिनार में बोलते हुए बिहार की मीडिया पर भी उन्होंने हमला बोल दिया और कहा कि आज बिहार की मीडिया पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं है। सरकार और मीडिया के संबंधों पर हमला बोलते हुए जस्टिस काटजू ने ये भी कहा कि यहाँ कि मीडिया सरकार के हाथों की कठपुतली बन चुकी है। बिहार में किसी भी मीडिया संस्थान या पत्रकार को सरकार के खिलाफ कुछ भी लिखने की आजादी नहीं है। सरकारी विज्ञापनों के जरिए सरकार मीडिया संस्थानों पर दबाव बना रही है। अगर कोई मीडिया संस्थान या पत्रकार सरकार के खिलाफ कुछ लिखता है तो या तो उस मीडिया संस्थान का विज्ञापन रोक दिया जाता है या उस पत्रकार की नौकरी खतरें में पड़ जाती है और सरकार के दबाव में उसे उस मीडिया संस्थान से बाहर कर दिया जाता है। इसके साथ ही उन्होंने इसकी जाँच के लिए राजीव रंजन नाग की अध्यक्षता में में तीन सदस्यीय टीम का भी गठन कर दिया। जिसने मुद्दे की पड़ताल करने के बाद भारतीय प्रेस परिषद् को अपनी रिपोर्ट भी सौंप दिया। वैसे जस्टिस काटजू के इस बयान से पहले भी बिहार में नीतीश सरकार के सत्ता संभालने के बाद से ही यहाँ कि मीडिया के चाल चलन एवं चरित्र को लेकर पत्रकार बिरादरी और प्रबुद्ध तबके के बीच सुगबुगाहटें तेज होने लगी थी, लेकिन प्रेस परिषद् के इस इकबालिया बयान ने इसे और हवा दे दी और बस मुद्दे को एक बड़ा फलक प्रदान कर दिया। इसके बाद तो सरकार और मीडिया के संबंधों को लेकर बहस सी शुरू हो गई कि आखिर सरकार के साथ मीडिया के संबंधों का दायरा क्या होना चाहिए? बदलते परिदृश्य में जब हर तरफ बाजारवादी शक्तियाँ हावी हो गई हैं, हर चीजों को बाजार और मुनाफे के तराजू में तौला जा रहा है, मीडिया संस्थानों ने भी व्यावसायिक कंपनियों की तरह काम करना शुरू कर दिया है, ऐसे में अब ये सवाल उठना भी लाजमी हो गया है कि आखिर इनके संबंधों का दायरा क्या होना चाहिए? बाजारवादी शक्तियों के साथ मीडिया के संबंधों की सीमाएँ क्या हो? किसी भी देश, राज्य या समाज में उसकी भूमिका, उसके धर्म, उसके नैतिक दायित्व क्या होने चाहिए? मैं भी बिहार के मामले में इस शोध में सरकार और मीडिया के संबंधों पर उठ रहे सवालों की पड़ताल करने की कोशिश की है।

शोध समस्या

मीडिया हमेशा ही सरकार के पथप्रदर्शक का काम करती रही है। उसकी नीतियों और योजनाओं को प्रचारित कर उसका जनाधार बढ़ाने का भी काम करता रहा है। लेकिन अब सरकार या राजनीतिक दलों के बीच सांठ-गांठ की खबरों ने मीडिया की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न खड़े कर दिये हैं। चुनाव अभियान से लेकर सरकार बनाने और बाद में फिर राज्य चलाने तक के लिए पेड न्यूज और सरकारी दबाव या विज्ञापनों के जरिए मीडिया को मैनेज करने की खबरें आने लगी हैं। इन्हीं में से एक घटना है बिहार की। प्रेस परिषद् के अध्यक्ष मार्कण्डेय काटजू ने जब यह बयान दिया कि बिहार की मीडिया स्वतंत्र नहीं है। सरकारी दबाव और विज्ञापन के जरिये मीडिया को नियंत्रित किया जा रहा है। सरकार के द्वारा खबरों को सेंसर किया जा रहा है। बिहार की मीडिया सरकार के पी.आर. की तरह सिर्फ सरकारी घोषणाओं को तरजीह दे रहा है। बदलते बिहार को लेकर मीडिया में जो कुछ भी छप रहा है वह सच नहीं है, हकीकत आज भी उससे कोसों दूर है। सरकारी दबाव की वजह से अधिकांश पत्रकार चाहकर भी कुछ नहीं लिख पा रहे हैं, क्योंकि इससे उनकी नौकरी खतरे में पड़ जायेगी। इस तरह के एक के बाद एक चुभते इन सवालों ने मीडिया के सरोकारों, उसकी नैतिकता और विश्वसनीयता को कटघड़े में खड़ा कर दिया है। इन्हीं सारे सवालों और

अनसुलझे पहलुओं ने मुझे अपने शोध के लिए इस विषय का चयन करने के लिए प्रेरित किया।

शोध का उद्देश्य

- मीडिया के बदलते परिदृश्य और उसकी वास्तविकता की पड़ताल करना।
- वर्तमान सरकार और मीडिया के संबंधों पर उठ रहे सवालों की सच्चाई का पता लगाना।
- बिहार की मीडिया पर खबरों को लेकर सरकारी नियंत्रण का पता लगाना।
- बदलते बिहार में मीडिया की भूमिका का पता लगाना।

उपकल्पना

- बिहार की मीडिया को वर्तमान सरकार द्वारा नियंत्रित किया जा रहा है।
- वर्तमान समय में बिहार की मीडिया स्वतंत्र नहीं है।
- सरकारी विज्ञापनों के जरिये मीडिया पर दबाव बनाया जा रहा है।
- जनता तक वही खबरें पहुँच रही हैं जो सरकार चाहती है।
- मीडिया में खबरों का असंतुलन व्याप्त है।

शोध पद्धति व प्रणाली

शोध पद्धति

''**सरकार और मीडिया का अंर्तसंबंध**'' विषय पर शोध करने के लिए मैंने शोध की अलग – अलग पद्धतियों में से जनगणना पद्धति का प्रयोग किया।

शोध प्रणाली

मैंने अपने शोध में प्रश्नावली, अनुसूची और साक्षात्कार प्रणाली का प्रयोग किया।

शोध का क्षेत्र व निदर्शन

शोध में वक्त और बजट की अपनी सीमाएँ होती हैं। अध्ययन–क्षेत्र का चुनाव धन, समय, ऊर्जा, संसाधन एवं विषय की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। इसी को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने शोध क्षेत्र के रूप में बिहार (पटना) का चयन किया।

निदर्शन

मैंने अपने इस शोध में कोटा निदर्शन पद्धति का प्रयोग किया।

परिणाम

प्रश्नावली से प्राप्त आँकड़ों का परिणाम

प्रश्न 1—शोधकार्य के दौरान अलग अलग मीडिया संस्थानों के पत्रकारों से प्रश्नावली के माध्यम से जब यह पूछा कि बिहार के बदलाव मे मीडिया की किस तरह की भूमिका रही है? तो इसके जवाब में 90 प्रतिशत लोगों ने मीडिया की भूमिका को सकारात्मक बताया। वहीं 4 प्रतिशत लोगों ने इसे नकारात्मक माना, वहीं 4 प्रतिशत लोगों ने इस सवाल का कोई जवाब नही दिया।

प्रश्न 2—बिहार में वर्तमान मीडिया की दशा और दिशा को आप किस रूप में देखते हैं? इस सवाल के जवाब में 58 प्रतिशत लोगों ने यह माना कि यह अपने रास्ते से भटक गई है, वहीं 26 प्रतिशत लोगों ने

माना कि पहले की अपेक्षा यह और ज्यादा सशक्त हुई है, वहीं 16 प्रतिशत लोगों ने इसे सरकार की कठपुतली का नाम दिया।

प्रश्न 3—वर्तमान सरकार और मीडिया के संबंधों को लेकर पूछे गए सवाल के जवाब में 76 प्रतिशत लोगों की राय एक समान थी, उनकी राय में सरकार और मीडिया दोनों एक दूसरे का इस्तेमाल कर रहे हैं। वहीं 13 प्रतिशत लोग वर्तमान सरकार और मीडिया के संबंधों को सकारात्मक रूप में देखते हैं, वहीं 11 प्रतिशत लोगों ने प्रश्नावली में शोधकर्ता द्वारा पूछे गए इस सवाल का कोई जवाब नहीं दिया।

प्रश्न 4—मीडिया की स्वतंत्रता को लेकर पूछे गए सवाल कि "आपको क्या लगता है कि यहाँ की मीडिया स्वतंत्र है?" इस सवाल के जवाब में जो परिणाम मुझे हासिल हुए उसमें 64 प्रतिशत लोगों को ये लगता है कि बिहार की मीडिया वर्तमान में स्वतंत्र नहीं है। वहीं 36 प्रतिशत लोग इसे आज भी स्वतंत्र मानते हैं।

प्रश्न 5—इसी तरह पिछली सरकार और वर्तमान सरकार के समय में मीडिया की स्वतंत्रता में आए बदलाव के संदर्भ में पूछे गए सवाल कि...."दूसरी पार्टियों की सरकार में यहाँ की मीडिया ज्यादा स्वतंत्र थी या अभी है"? तो इसके जवाब में 78 प्रतिशत लोगों ने यह माना कि कि आज कि अपेक्षा पहले यहाँ कि मीडिया ज्यादा स्वतंत्र थी। सिर्फ 22 प्रतिशत लोगों ने इसे आज ज्यादा स्वतंत्र माना है।

प्रश्न 6— किसी भी मीडिया संस्थान की पहली प्राथमिकता जनता और समाज के सरोकारों को ध्यान में रखना होता है, ऐसे में हमने यह भी जानना चाहा कि "क्या बिहार की मीडिया में जनता की आवाज और समाज के सरोकारों को जगह मिल पा रही है? तो उनके जवाब हमें हैरत में डालने वाले थे। 50 प्रतिशत लोगों ने इसे थोड़ा बहुत माना, तो 30 प्रतिशत लोगों ने हाँ में जवाब दिया और 20 प्रतिशत ने नहीं में अपने जवाब व्यक्त किये।

प्रश्न 7—यूँ तो हर सरकार की ये कोशिश होती है कि मीडिया में ज्यादा से ज्यादा उसकी सकारात्मक छवि को ही पेश किया जाए, ऐसे में हमने उनसे ये भी जानने की कोशिश की कि "क्या बिहार में भी सभी सरकारें मीडिया का प्रयोग अपने अपने तरीके से करती रही हैं?" तो इसका जवाब हमारी उम्मीदों के अनुरूप ही आया। 82 प्रतिशत लोगों ने इस पर हामी भर दी कि सभी सरकारें मीडिया का प्रयोग अपने-अपने तरीके से करती हैं लेकिन 18 प्रतिशत लोगों ने इसे थोड़ा बहुत माना।

प्रश्न 8— पिछली सरकार और वर्तमान सरकार का मीडिया के साथ संबंधों में आए बदलाव पर पूछे गए सवाल के जवाब में 68 प्रतिशत लोगों का कहना है कि पिछली सरकार की तुलना में वर्तमान सरकार के साथ मीडिया के संबंधों में बहुत बदलाव आया है। वहीं 18 प्रतिशत लोगों का मानना है कि पिछली सरकार की तुलना में वर्तमान सरकार के साथ मीडिया के संबंधों में कोई ज्यादा बदलाव नहीं आया है। वहीं 14 प्रतिशत लोगों ने प्रश्नावली में इस सवाल का कोई जवाब नहीं दिया।

प्रश्न 9—यहाँ के मीडिया के विकास में किस तरह की बाधाएँ हैं? आर्थिक बाधाओं को 76 प्रतिशत लोगों ने मीडिया के विकास में बाधक माना तो 18 प्रतिशत लोगों ने राजनैतिक वजहों को भी इसका कारण बताया और सिर्फ 6 प्रतिशत लोगों ने सामाजिक बाधाओं को जिम्मेदार ठहराया।

प्रश्न 10—बिहार की जो तस्वीर मीडिया पेश कर रही है उसमें और हकीकत में कितनी समानता

है? 60 प्रतिशत लोगों को यह लगता है कि बिहार की जो छवि मीडिया द्वारा लोगों के सामने अभी पेश की जा रही है उसमें और हकीकत में थोड़ी–बहुत ही समानता है, परन्तु 20 प्रतिशत लोगों को इसमें बहुत समानता नजर आ रही है, वहीं 12 प्रतिशत लोगों को तो इसमें कोई भी समानता नजर नहीं आई।

प्रश्न 11—क्या वर्तमान में जो तस्वीर बिहार की उभर कर सामने आ रही है वह मीडिया द्वारा बनाई गई है? 52 प्रतिशत लोग यह मान रहे हैं कि बिहार की जो तस्वीर उभरकर दुनिया के सामने आ रही है उसमें बहुत बड़ी भूमिका मीडिया की ही है, लेकिन 36 प्रतिशत लोग इसे थोड़ा बहुत मान रहे हैं और 12 प्रतिशत लोगों ने तो इसे बिल्कुल ही नकार दिया।

प्रश्न 12—''प्रेस परिषद् के अध्यक्ष मार्कण्डेय काटजू ने कहा था कि बिहार में मीडिया स्वतंत्र नहीं है। 72 प्रतिशत लोगों ने कहा कि बिहार की मीडिया को लेकर की गई काटजू की टिप्पणी बिल्कुल सही है और इसकी सबसे बड़ी वजह है व्यवसायीकरण और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति। वहीं 18 प्रतिशत लोगों ने काटजू के बयान से असहमति जताई। वहीं 10 प्रतिशत लोगों ने शोध के लिए तैयार की गई प्रश्नावली में इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं दिया।

प्रश्न 13—बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार के बारे में अक्सर ये कहा जाता है कि वे एक अच्छे मीडिया प्रबंधक है। जहाँ 86 प्रतिशत लोगों ने अपना जवाब हाँ में दिया और नीतीश कुमार को एक अच्छे मीडिया प्रबंधक के रूप में स्वीकृति दे दी। जबकि 8 प्रतिशत लोगों ने इसे थोड़ा–बहुत माना तो केवल 6 प्रतिशत लोगों ने अपना जवाब नहीं में दिया।

प्रश्न 14—हमने पत्रकारों से भी ये सवाल पूछा कि ''वर्तमान सरकार पर ये आरोप लग रहे हैं कि वह सरकारी पैसों से मीडिया अभियान चलाकर बिहार की काल्पनिक छवि दुनिया के सामने पेस कर रही है। क्या आप इससे सहमत हैं''? तो 44 प्रतिशत लोगों ने यह माना कि सरकार थोड़ा बहुत सरकारी पैसों का दुरूपयोग सरकारी विज्ञापनों पर कर रही है, तो 36 प्रतिशत लोगों ने पूरी तरह से इस पर अपनी मुहर लगा दी लेकिन 20 प्रतिशत लोगों ने इसे मानने से इंकार कर दिया।

प्रश्न 15—यह सवाल भी पूछा कि ''यहाँ कि मीडिया में जो खबरें आ रही हैं उसमें आपको संतुलन नजर आता है''? तो 52 प्रतिशत लोग इसे थोड़ा बहुत मानते हैं, वहीं 20 प्रतिशत लोगों का ये भी मानना है कि खबरों में संतुलन बरकरार है जबकि 28 प्रतिशत लोगों ने इसे मानने से इंकार कर दिया।

प्रश्न 16—''कहा जाता है कि वर्तमान सरकार सरकारी विज्ञापनों के जरिए मीडिया को नियंत्रित कर रही है।'' सरकार पर लग रहे इस आरोप के बारे में भी जब हमने लोगों से सवाल पूछा, तो इसका जवाब भी चौंकाने वाला रहा। सरकार पर लग रहे इस आरोप पर अधिकांश लोगों ने अपनी हामी भर दी। पत्रकारों का एक बड़ा तबका यानी 82 प्रतिशत लोगों ने यह स्वीकार किया कि सरकारी विज्ञापनों के जरिये सरकार बिहार की मीडिया को नियन्त्रित कर रही है। सिर्फ 18 प्रतिशत लोग ऐसा नहीं मानते।

प्रश्न 17—''सरकार पर ये भी आरोप लग रहे हैं कि आम लोगों की आवाज को दबाया जा रहा है'' 60 प्रतिशत लोग इसे स्वीकार कर रहे हैं कि आज बिहार में आम लोगों की आवाज को दबाया जा रहा है, लेकिन 40 प्रतिशत लोगों ने इसे मानने से इंकार कर दिया।

प्रश्न 18—हमने लोगों से पूछा कि ''बिहार को एक नई पहचान देने में सबसे अहम् भूमिका

किसकी रही है"? तो इसके जवाब में 82 प्रतिशत लोगों ने दोनों की सहभागी भूमिका पर अपनी सहमति दी, वहीं 65 प्रतिशत लोगों ने सिर्फ सरकार की भूमिका की बात कही।

प्रश्न 19—"क्या बिहार में जमीनी स्तर पर कुछ बदलाव नजर आ रहा है?" तो अधिकांश लोगों ने अपने जवाब में थोड़े बहुत बदलाव की ही बात कही, वहीं 34 प्रतिशत लोगों ने ये माना कि बहुत बदलाव हुआ है, जबकि 4 प्रतिशत लोगों ने बिल्कुल नहीं में अपना जवाब दिया।

प्रश्न 20—"बढ़ती प्रतिस्पर्धा और बाजार पर निर्भर होती मीडिया में आज भी पत्रकारिता कितनी स्वतंत्र है"? तो 76 प्रतिशत लोग आज के दौर में मीडिया की स्वतंत्रता को अब थोड़ा बहुत ही मानते हैं जबकि 20 प्रतिशत लोगों ने तो इसे नकार दिया सिर्फ 4 प्रतिशत लोग ही ये मानते हैं कि मीडिया की स्वतंत्रता आज भी बहुत हद तक बची है।

निष्कर्ष

सरकार और मीडिया के अन्तर्सम्बन्ध (बिहार के विशेष संदर्भ में) विषय पर किये गए शोध के परिणामों को देखने के बाद निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि, जिस उपकल्पना को आधार बनाकर हमने अपने शोध की शुरुआत की थी, शोध के परिणाम बिल्कुल उसके करीब है। बिहार के 300 पत्रकारों पर किये गये सर्वे और 12 पत्रकारों के साक्षात्कार के बाद यह बात साफ हो गई है कि बिहार की मीडिया पूरी रह स्वतंत्र नहीं है। भारतीय प्रेस परिषद् के अध्यक्ष मार्कण्डेय काटजू ने बिहार की मीडिया और सरकार के संबंधों पर जो सवाल खड़े किये थे, इस शोध में अधिकांश पत्रकारों ने उनके इस आरोपों की पुष्टि कर दी है। अधिकांश लोगों ने माना है कि वर्तमान में बिहार की मीडिया एक पक्षीय हो गई है। बिहार में पत्रकारिता पर अघोषित पाबंदी की शिकायत आने पर जस्टिस काटजू ने भी अपनी तरफ से पहल करते हुए बिहार में प्रेस की स्वतत्रता की जाँच करने के लिए एक तीन सदस्यीय कमेटी का गठन किया था। भारतीय प्रेस परिषद् की तरफ से गठित जाँच टीम रिपोर्ट भी पिछले महीने आ चुकी है। अध्यक्ष जस्टिस मार्कण्डेय काटजू को भेजी अपनी रपट में बिहार में पत्रकारिता की डूबती लुटिया के लिए सीधे तौर पर नीतीश सरकार पर उंगली उठाते हुए सरकार की विज्ञापन नीति को बिहार में पत्रकारिता की धार को कुंद करने के लिए जिम्मेदार ठहराया है और विज्ञापन नीति को निर्धारित करने के लिए एक स्वतंत्र एजेंसी का गठन करने की माँग की है, जो एक निश्चित गाइडलाइन के आधार पर सरकारी विज्ञापनों का वितरण करेगी। जाँच टीम ने अपनी रपट में बिहार में आपातकाल जैसी स्थिति होने की बात स्वीकारी है, जिसमें विरोध प्रदर्शन और जन समस्या से संबंधित खबरों की भी पूरी तरह से अनदेखी की जा रही है। यदि खबरें दी भी जा रही हैं तो अंदर के पन्नों पर, वो भी सार संक्षेप में। यहाँ तक की सरकारी नुमाइंदों से अवांछित प्रश्न पूछने की हिमाकत पत्रकार नहीं कर पा रहे हैं। बिहार में सरकार बदलने के साथ-साथ मीडिया के चाल चरित्र में भी इस तरह का बदलाव क्यों आया। इसके पीछे की वजहें क्या हैं? शोध के दौरान जो वजहें सामने आयी हैं उसमें नीतीश कुमार के मीडिया प्रबंधन की क्षमता को तो सभी पत्रकारों ने माना है, साथ ही सरकारी दबावों की बात भी बखूबी कबूल की है। वर्तमान सरकार द्वारा सरकारी विज्ञापनों के माध्यम से मीडिया को नियंत्रण करने की बात भी एक बड़ी वजह के रूप में सामने आई है।

सुझाव

- सरकार की विज्ञापन नीति को बदलकर उसे सर्वसुलभ बनाना होगा।
- मीडिया के अन्य छोटे-छोटे संस्थान भी उभर सकें इसको ध्यान में रखते हुए उनके अनुकूल वातावरण का निर्माण करें।
- सरकारी नीतियों को भी मीडिया फ्रेंडली बनाना होगा।
- राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से मीडिया को स्वतंत्रता प्रदान कर उसे उसकी जिम्मेदारी का भी अहसास करायें।
- काम के बुनियादी माहौल को दुरूस्त करने की जरूरत है।
- पत्रकारों को सुरक्षित जोन में होने का अहसास कराना होगा।

सन्दर्भ-सूची

- गुप्त, बलदेवराज—जनसंपर्क, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2001
- भगत, अंजना—भारत में चुनाव और चुनाव सुधार, विकास पब्लिशिंग हाउस, 1996
- उपाध्याय, अंजू शरण—इलेक्टोरल रीफॉर्म इन इंडिया, कांसेप्ट प्रकाशन, 2005
- चोपड़ा, जोगिन्दर कुमार—पॉलिटिक्स ऑफ इलेक्शन रिफॉर्म इन इंडिया, मित्तल प्रकाशन, 2008
- तिवारी, अर्जुन—जनसंचार समग्र, उपकार प्रकाशन, आगरा, 2008
- गुहाठाकुरता परंजय—मीडिया एथिक्स, ऑक्सफोर्ड, 2009
- नांबिसार विजय, बिहार देखने वाले की आँखों में है, प्रभात प्रकाशन, 2002
- झा, पंकज कुमार, बिहार एक परिचय, उपकार प्रकाशन, 2002
- श्रीकांत, राजनीति के आईने में बिहार, वाणी प्रकाशन, 2000
- सिंह, राजमणि, बतकही बिहार की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2005
- झा, पंकज कुमार, सुशासन के आईने में बिहार, प्रभात प्रकाशन
- तिवारी, अर्जुन, जनसंचार समग्र, उपकार प्रकाशन

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 247-251

हिन्दी सिनेमा और समाज

मीनाक्षी*

अभिव्यक्ति के सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यमों से एक माध्यम सिनेमा है। सिनेमा को 'सातवीं कला' भी कहा जाता है। इस कला में अपनी अभिव्यक्ति को जितनी सहजता और प्रभावी ढ़ग से संप्रेक्षित करने की क्षमता होती है, शायद उतनी क्षमता संचार के किसी और माध्यम के पास हो। साहित्य को समाज का दर्पण मानने वाले देश में सिनेमा को समाज का दर्पण मानने में कतिपय संकोच नहीं होना चाहिए। समाज और सिनेमा का संबंध सर्वोपरि और अन्योन्याश्रित है। समाज और सिनेमा को अलग करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी अभी तक कोई भी कला विकसित नहीं हो पाई है जिसमें समाज की अभिव्यक्त हो ही न। समाज प्रत्येक कला में किसी भी माध्यम से अपनी घुसपैठ कर ही बैठता है सिनेमा इसका अपवाद कहा जा सकता है। समाज को अभिव्यक्त करने में प्रत्येक कला अपनी अहम् भूमिका निभाती है वैसे सिनेमा भी निभाता है। हालाँकि सिनेमा मनोरंजन का एक साधन है लेकिन इसके साथ-साथ यह एक ऐसा माध्यम भी है जिसके द्वारा सामाजिक समस्याओं और चुनौतियों को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

हिन्दी सिनेमा का आरम्भ १९१३ ई० में दादा साहब फाल्के निर्देशित प्रथम मूक फिल्म '**राजा हरिश्चंद्र**' से हुआ। २० वर्षों तक हिन्दी सिनेमा का सफर मूक फिल्मों के धरातल पर चलता रहा। १९३१ ई० में 'बहादुर आर्देशर ईरानी' के निर्देशन में '**आलमआरा**' के प्रदर्शन से देश में नये युग के सूत्रपात के साथ सवाक् फिल्म का सूत्रपात हुआ। इस दौर की फिल्मों पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि इस दौर की फिल्में पारसी थियेटर और धार्मिक आख्यानों से प्रभावित थी, हो सकता है हिन्दी सिनेमा के आरंभिक दौर की फिल्में धार्मिक और पौराणिक आख्यानों पर आधारित हो किन्तु जिस समय हिन्दी सिनेमा प्रकाश में आया उस समय देश पराधीनता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था ऐसी स्थिति में जहाँ सिनेमा का एक उद्देश्य मनोरंजन था वहीं दूसरी ओर समाज की समस्याओं को समाने लाना और जीवन यथार्थ को प्रस्तुत करना भी सिनेमा का ही उद्देश्य था। देश जब आजादी के लिए राष्ट्रीय और सामाजिक संघर्ष कर रहा था। १९३० ई० तक इन संघषों ने और भी तेजी पकड़ ली। राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की भावनाओं को जगाने में क्रांतिकारी रचनाओं पर प्रतिबंध लगाने के बाद ब्रिटिश सरकार को यह जल्द ही आभास हो गया कि राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की भावनाओं को जगाने में फिल्म और फिल्मी गीत-संगीत मुख्य भूमिका निभा सकती है। उन्होंने इस ओर भी अपना शिकंजा बढ़ाया और समय-समय पर उन समस्त फिल्मों और गीतों पर प्रतिबंध लगाया जो देश की जनता को पराधीनता के विरूद्ध आवाज उठाने के लिए प्रोत्साहित करती थीं।

---

* शोधार्थी, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

ब्रिटिश सरकार की बंदिशों के बावजूद फिल्मों के माध्यम से देश की जनता को पराधीनता के बोध से जाग्रत् करने का प्रयास किया जाता रहा। हालाँकि सवाक् फिल्मों के आरंभिक दो–तीन वर्षों में भारतीय जनता को देश–भक्ति जाग्रत् करने वाली फिल्में और संगीत देखने और सुनने को न मिलते हों, किन्तु १९३५ ई० में 'प्रफुल्ल राय' के निर्देशन में बनी फिल्म 'बलिदान' ने भारतीय जनता को स्वाधीनता के लिए प्रेरित करने का प्रयास अधोलिखित गीत के माध्यम से किया–

जागो जागो भारतवासी,
एक दिन तुम थे जगद्गुरू,
जगत् था उन्नत अभिलाषी।

१९४० के दशक तक सामाजिक प्रभाव के कारण देशभक्ति विचारधारा पर आधारित फिल्मों की संख्या में निरन्तर बढ़ोत्तरी होती चली गई। १९४३ ई० में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के नारों की अनुगूँज जो केवल गीतों में ही सुनाई देती थी वह अब पूर्णतः फिल्मों में भी दिखाई देने लगी। इसी क्रम में अनिल विश्वास के निर्देशन में बनी फिल्म 'किस्मत' ऐसी आजादी का जूनून पैदा करने वाली फिल्मों में से एक है। सिनेमा की क्रांतिकारी भूमिका के परिणामस्वरूप ही आज देश पराधीनता की गिरफ्त से आजाद है अन्यथा आज हम आजादी के लिए संघर्ष करते दिखलाई पड़ते। देश को आजादी दिलाने का दौर चल रहा था या कहें कि भारतीय समाज एक प्रकार से शुद्धिकरण की प्रक्रिया की ओर अग्रसर था। इस प्रक्रिया में वर्णव्यवस्था और छुआछूत का भी प्रश्न हिन्दीं सिनेमा के समक्ष मौजूद था। इन प्रश्नों को केन्द्र में रखकर निरंजन पाल द्वारा निर्मित 'अछूत कन्या' (१९३६) में आई। वर्णव्यवस्था और अस्पृश्यता के विषय में यह पहली फिल्म थी जिसे गाँधी जी के सुधार आन्दोलन से प्रेरित माना जा सकता है। यह फिल्म प्रताप नाम के ब्राह्मण और कस्तूरी नाम की अछूत लड़की की एक करूणामयी और मार्मिक प्रेम कहानी है। इस फिल्म से यह ज्ञात होता है कि १९३६ ई० में भारतीय समाज जिन पारंपरिक रूढ़ियों से जकड़ा हुआ था, वह उसमें पूर्णतः परिवर्तनों का पक्षपाती नहीं था बल्कि थोड़े बहुत परिवर्तनों के लिए तैयार था। इस फिल्म में भारतीय समाज का जो स्वरूप दिखाई पड़ता है, वह यह है कि सामाजिक नियमों को तोड़ने का दण्ड केवल निम्न जाति या स्त्री को ही मिलता है। ऐसी ही सामाजिक रूढ़ियों को दर्शाने और तोड़ने वाली अनेको फिल्में हैं।

भारतीय छवि को दर्शाने वाली फिल्म राजकपूर के निर्देशन मे बनी 'बूट पॉलिश' (१९५४ ई०) है। यह फिल्म आत्मसम्मान अथवा स्वाभिमान की भावना जाग्रत् करने वाली फिल्म है, विशेषकर दलितों में। इस फिल्म के माध्यम से बताया गया है कि कोई भी काम छोटा–बड़ा नहीं होता बशर्ते वह आत्मसम्मान और स्वाभिमान से किया गया हो बल्कि हमारी सोच छोटी–बड़ी होती है। इसलिए अपनी सोच को विस्तार देकर प्रत्येक वह काम जो आत्मसम्मान और स्वाभिमान उत्पन्न हो, लगन से करना चाहिए। चाहे वह निम्न से निम्न कार्य क्यों न हो, जैसे 'बूट पॉलिश' या मेहनत–मजदूरी। भारतीय सामाजिक व्यवस्था को दलितों के लिए ही बना रखा हो। इससे दलिल वर्ग एक प्रकार से हीन भावना का शिकार हो जाते हैं। यह फिल्म ऐसे वर्ग के लिए मार्ग दर्शन का कार्य करती है। यद्यपि दलितों को लेकर हिन्दी सिनेमा इतना संवेदनशील नहीं रहा किंतु फिर भी दलित विमर्श पर आधारित सबसे चर्चित संजीव जयसवाल द्वारा निर्देशित 'शूद्र द राइजिंग' (२०१२ ई०) है जो काफी विवादों के बाद सामने आई। यह सामाजिक व्यवस्था में चार वर्णों में

सबसे निम्न वर्ण पर केन्द्रित है। सामाजिक व्यवस्था में चारों वर्णों में शूद्र वर्ण एक अनावश्यक वस्तु से बढ़कर कुछ नहीं है। जो क्रूरतम सामाजिक नियम हैं वह इन्हीं पर लागू होते हैं। दलित महिलाएँ और भी क्रूरतम रूप से इन नियमों का पालन करने के लिए बाध्य हैं। इस प्रकार यह फिल्म सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को दर्शाती और सामाजिक असमानता के प्रति विरोध प्रकट करती है और सामाजिक समानता की माँग करते हुए दलितों में चेतना का संचार करती है।

आर्थिक संकट की विभीषिका भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण और बड़ी जटिल समस्या है। इस समस्या को 'गरम कोट' (१९५५ ई०) में देखा जा सकता है। इस फिल्म में निम्न मध्यम वर्गीय परिवार की आर्थिक संकट की विभीषिका को व्यंग्य रूप में दिखाया गया है। आर्थिक अभाव की त्रास्तता से प्रभावित जीवन का सबसे सशक्त उदाहरण बासु भट्टाचार्य के निर्देशन में बनी फिल्म 'आस्था' (१९९७ ई०) में देखा जा सकता है। यह फिल्म ऐसी विवाहित महिला की कहानी व्यक्त करती है जो आर्थिक तंगी के कारण पारिवारिक आवश्यकताओं एवं पारिवारिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वेश्यावृत्ति की ओर प्रवृत हो जाती है। इसमें वेश्यावृत्ति में लिप्त एक विवाहित महिला की पीड़ा और आंतरिक द्वंद्व दिखाई पड़ता है। ऐसी सामाजिक समस्या का धरातल व्यापक है जिसे समझने में यह फिल्म कई हद तक सहायक है। आरम्भ से ही भारतीय समाज सामाजिक धरातल पर कृषक रूप से भी जुड़ा हुआ है। भारतीय सामाजिक प्रणाली में कृषक का जन्म और मृत्यु ऋण में होता है और वह किसान मृत्यु के बाद ऋण का बोझ अपनी आगे की पीढ़ी को विरासत में देकर चला जाता है। ऐसी ही समस्या को व्यक्त करती महबूब खान द्वारा निर्मित 'मदर इण्डिया' (१९५७ ई०) है। यह फिल्म साहूकारी प्रथा से शोषित कृषक जीवन की कहानी है। फिल्म की नायिका पति के अपाहिज होने और उसके द्वारा घर त्याग दिए जाने से ऋण के बोझ तले दबे होने के बावजूद भी वह कभी स्वयं को कमजोर नहीं समझती। वह इतनी सशक्त है कि साहूकार के सामने घुटने नहीं टेकती। नायिका का यह विरोध भारतीय समाज की स्त्रियों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। भारतीय पराधीनता के समय पूँजीवाद एवं मशीनीकरण का प्रभाव वर्चस्व पर था और आजादी के बाद तक इसका वर्चस्व बना रहा। 'नया दौर' (१९५७ ई०) उसी वर्चस्व का विरोध प्रकट करती है और सामूहिक श्रम और स्वावलंबन के महत्त्व पर बल देती है। आज प्रत्येक व्यक्ति जो किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व लेने से कतराता है। यह फिल्म उन व्यक्तियों में अपनी मेहनत के बल पर स्वयं सड़क तथा पुल का निर्माण कर उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करने में मदद करती है।

भारतीय सामाजिक संरचना पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर आधारित है। यह व्यवस्था आज तक भारतीय सामाजिक प्रणाली में विराजमान है। इसी व्यवस्था को प्रदर्शित करती राजकपूर द्वारा निर्देशित फिल्म 'प्रेम रोग' (१९८२ ई०) है। यह फिल्म एक ओर पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर चोट करती है, तो दूसरी ओर विधवा पुनर्विवाह और प्राचीन परम्पराओं व रूढ़ियों को तोड़ने का आग्रह भी लिए हुए है। यह फिल्म गरीब देवधर और अमीर एवं शक्तिशाली ठाकुर की बेटी मनोरमा के विवाह की कहानी है। ठाकुर वीरेन्द्र सिंह अपनी बेटी मनोरमा का विवाह अपने ही बराबरी वाले वंश में कराना चाहता है। ठाकुर प्रवृति के कारण इस विवाह को पूर्ण करने के लिए उसे जो उचित लगता है वह करता है। यहाँ तक कि उसकी बेटी के विवाह के लिए कुंडली में दोष पाए जाने पर वह गाँव के पुरोहित को रूपये देकर कुंडली में फेर बदल करा देता है। किंतु शादी के कुछ दिनों बाद ही मनोरमा का विधवा हो जाना भारतीय सामाजिक

व्यवस्था में अंधविश्वास की प्रवृत्ति को और भी पुष्ट कर देता है। यहाँ कुंडली मिलान द्वारा विवाह का आयोजन किये जाने वाले अंधविश्वास को भी भारतीय सामाजिक समस्या के रूप में गम्भीरता से उठाया गया है। इस फिल्म के माध्यम से एक विधवा को किन-किन आचरणों का पालन करना पड़ता है और विधवा पुनर्विवाह के लिए समाज में किस प्रकार की समस्याएँ आती हैं वह इसमें भली-भाँति देखी जा सकती है। यहाँ विचारणीय यह है कि ठाकुर वर्ग और आम वर्ग में एक बहुत बड़ा अंतर है। इसी अंतर के तहत ठाकुर वर्ग के नियम–कानून आम जनता से बिलकुल अलग हैं। ठाकुर वर्ग आम जन पर अपना आधिपत्य जमाते हुए जबरन एक विधवा स्त्री का प्रेम प्रसंग सामने आने पर उसको पुर्नविवाह करने के लिए बाध्य करता है किंतु अपने ही परिवार पर ऐसी स्थिति आने पर अपने परिवार पर यह नियम लागू नहीं कर पाता। यही समाज की वास्तविक सच्चाई है।

आज अस्मिताओं का दौर है। मुस्लिम अस्मिता का प्रश्न भारत में महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। 'महेश भट्ट' के निर्देशन में बनीं 'जख्म' (१९९८ ई०) में धर्म, राजनीति और सांप्रदायिकता जैसे प्रश्नों पर सवाल करती है, वहीं अंतर्जातीय विवाह और उससे उपजे पति–पत्नी के द्वंद्व के बीच में सिसकते बचपन के कारूणिक कथा को व्यक्त करती है। यह फिल्म बतलाती है कि किस प्रकार धर्म राजनीति का हिस्सा बनता है और सांप्रदायिक दंगों में इसकी किस प्रकार भूमिका होती है। मानवीय भाव भी सामाजिक रूप से जुड़े हुए होते हैं। ऐसे ही भावों को व्यक्त करने वाली फिल्में हैं–'कोशिश' (१९७२ ई०), 'ब्लैक' (२००५ ई०), 'गुजारिश' (२०१० ई०) आदि। ये फिल्में विकलांगता संबंधी अस्मिताओं से जुड़ी हुई हैं। 'कोशिश' और 'ब्लैक' गूँगे, बहरों और अंधो की विकलांगता संबंधी अस्मिताओं से भरे समाज को अभिव्यक्त करती है। 'गुजारिश' इन दोनों फिल्मों से अलग एक ऐसे विकलांग व्यक्ति की कहानी है जो किसी दुर्घटना के कारण लकवे का शिकार हो जाता है जिसके चलते वह इच्छा मृत्यु की कामना करता है। किसी के मन में इस तरह के भाव आना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किंतु समाज के लिए एक सबसे बड़ी चुनौती है। समाज की सबसे कमजोर कड़ी अगर है तो वह स्त्री है। मान्यता के लिए वह देवी है, लक्ष्मी स्वरूपा है। न मानने वालों के लिए अबला, निसहाय जिस पर कोई भी शारीरिक और मानसिक आधिपत्य स्थापित कर सकता है। ऐसी मान्यता भारतीय सामाजिक संरचना में व्याप्त है। ऐसी मान्यताओं को हटाने के लिए देश में विविध आन्दोलन भी चल रहे हैं। सिनेमा भी उसी आन्दोलन को आन्दोलित करने का हिस्सा माना जा सकता है। आज स्त्रियों को घरेलू हिंसा, बलात्कार, दहेज प्रथा, कन्या भ्रूण हत्या आदि कितनी ही समस्याओं से जूझना पड़ता है। इसी क्रम में पहले कन्या भ्रूण हत्या को लें। 'जलपरी'(२०१२ ई०) और 'मातृभूमि' ए नेशन विदआउट वूमेन (२००३ ई०) फिल्म हरियाणा, पंजाब आदि जैसे अनेकों जिलों में हो रही कन्या भ्रूण हत्या के परिणामों को दर्शाती है। इन समस्त राज्यों, जिलों एवं गाँव में किस प्रकार लड़कियों का अभाव हो जाता है यह दोनों फिल्मों में देखा जा सकता है।

'मातृभूमि' ए नेशन विदआउट वूमेन (२००३ ई०) मनीष झा के निर्देशन में बनी फिल्म स्त्री अस्मिता पर प्रश्न खड़े करती है। यह फिल्म यह बताती है कि यदि समाज में कन्या भ्रूण हत्या होती रही तो स्त्री अस्मिता खतरे में पड़ जाएगी जिससे समाज गर्त में डूब जाएगा। यह फिल्म स्पष्ट दिखाती है कि लड़कियों के अभाव में किस प्रकार एक लड़की का विवाह पाँच भाईयों से करवा दिया जाता है और उसका किस प्रकार पाँच भाईयों, ससुर एवं गाँव के व्यक्तियों द्वारा शारीरिक शोषण होता है वह मार्मिक है। यह फिल्म

भारतीय समाज की सबसे बड़ी सच्चाई उजागर करती है। 'घर' (१९७८ ई०) और 'दामिनी' (१९९३ ई०) फिल्में बलात्कार पर आधारित हैं। 'घर' फिल्म में नायिका बलात्कार का शिकार हो जाती है, बलात्कार होने के बाद समाज द्वारा बहिष्कृत और पारिवारिक संबंधियों द्वारा ज्यादा सहानुभूति प्रकट करने पर पीड़िता और उसके पति की क्या मानसिक स्थिति होती है यह सोचने पर विवश करती है। वहीं 'दामिनी' फिल्म भी बलात्कार पर आधारित है। यह फिल्म एक स्त्री को न्याय के लिए समाज के विरूद्ध जाकर उसके संघर्ष की कहानी वयक्त करती है। इसमें नायिका का अंतिम गवाह होना और पीड़िता को न्याय दिलाने के लिए सामाज विरोधी गतिविधियों से संघर्ष करना भारतीय समाज की समस्त परतें स्वयं खोल देता है।

बलात्कार और वेश्यावृत्ति भारतीय समाज की प्रमुख समस्या है। बलात्कार और वेश्यावृत्ति हर–एक दायरे को पार कर जाते हैं। इनके परिणाम पर शायद ही किसी का ध्यान जाता हो। वास्तविकता यह है कि इनसे पीड़िता का जीवन तो प्रभावित होता ही है। इनसे एक और जीवन प्रभावित होता है वह इन कृत्यों से उत्पन्न बच्चे। इन मासूम बच्चों का होता क्या है? क्या इन बच्चों की कोई भावनाएँ नहीं होती? ऐसे गंभीर सवालों पर मौन समाज को सोचने पर विवश करने वाली 'थैक्स माँ' (२००३ ई०) में बनीं। यह फिल्म बच्चों के परित्याग के कथानक पर आधारित है। इस फिल्म में वेश्यावृत्ति, बलात्कार और अपने निजी स्वार्थ के कृत्यों से उत्पन्न बच्चों में लड़की को वेश्यावृत्ति के लिए उपयोगी समझकर उनकी खरीद–फरोश्त कर दी जाती है अन्यथा अन्य बच्चों को समाज की एक अनावश्यक वस्तु समझकर किसी गली, चौराहे, कचरा पेटी, रेलवे स्टेशन, मंदिर, अनाथ आश्रम, फ्लश को समर्पित किए जाते हैं। ये बच्चें भीख माँगकर, चोरी कर या मजदूरी कर अपना जीवन यापन करने को मजबूर होते हैं। इन बच्चों का समाज में कोई स्थान नहीं होता न ही उनका कोई भविष्य दिखाई पड़ता है। यह फिल्म ऐसे ही मार्मिक परिदृश्य को अभिव्यक्ति करती हैं। महेश भट्ट द्वारा निर्देशित फिल्म 'तमन्ना' (१९९७ ई.) और योगेश भारद्वाज निर्देशित शबनम मौसी (२००५ ई.) ट्रांसजेण्डर या किन्नर पर केन्द्रित फिल्में हैं। यह फिल्में ट्रांसजेण्डर या किन्नरों की मूक अभिलाषाओं को व्यक्त करती हैं और समाज में स्थान देने का प्रयास करती है।

इनके अतिरिक्त अनेकों ऐसी फिल्में हैं जो सामाजिक यथार्थ को बड़ी संजीदगी से प्रस्तुत करती है। इसलिए यह कहना कि सिनेमा मात्र मनोरंजन का साधन है गलत है। हालाँकि बाजारीकरण या व्यवसायीकरण ने हिन्दी सिनेमा के स्तर को काफी हद तक नीचे गिरा दिया है। इसलिए बाजारीकरण या व्यवसायीकरण के इस दौर में हमें सिनेमा को एक सामाजिक दस्तावेज मान कर चलना होगा, जिसे नवीन दृष्टि और समझ विकसित की जा सके।

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 252-258

वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र एवं पाठ्यचर्या के सन्दर्भ में उसकी चुनौतियाँ

वन्दना वर्मा*

सारांश

शिक्षाशास्त्र की आवश्यकताओं में बदलाव के साथ-साथ वर्तमान समय में वैकल्पिक विद्यालय प्रणाली दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रही है। यह लचीली प्रणाली वर्तमान चाहरदीवारी शिक्षा प्रणाली की कई समस्याओं का उत्तर है। यह वैकल्पिक विद्यालय बहुत से लाभ के साथ कई चुनौतियों का सामना भी कर रहा है। उनमें से एक प्रमुख चुनौती पाठ्यचर्या से सम्बन्धित लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति है। वर्तमान समय में वैकल्पिक शिक्षा विचारों पर आधारित है, जो उपयुक्त व सन्तोषजनक है, लेकिन सामान्यतः इन विचारों का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता है। इन विद्यालयों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए हमें सर्वप्रथम पाठ्यचर्या से सम्बन्धित मुद्दों व चुनौतियों का सफलतापूर्वक समाधान करना चाहिए। प्रस्तुत शोधप्रपत्र वैकल्पिक विद्यालयों द्वारा प्रस्तुत पाठ्यचर्या की चुनौतियों से सम्बन्धित है।

महत्त्वपूर्ण शब्द-वैकल्पिक विद्यालय, पाठ्यचर्या, छात्र, चुनौतियाँ।

शिक्षाशास्त्र की आवश्यकताओं में बदलाव के साथ-साथ वर्तमान समय में वैकल्पिक शिक्षाशास्त्र दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रहा है। वैकल्पिक विद्यालय हेतु अपरम्परागत, शैक्षिक विकल्प या अरीतिगत शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इन विद्यालयों का प्रसार 1960 ई० के दौरान हुआ तथा शैक्षिक सुधार के रूप में कुछ स्थानीय समुदायों द्वारा इनका विकास किया गया। वैकल्पिक विद्यालय का उद्देश्य वंचित, दीन-हीन या दलित बच्चों तक शिक्षा का प्रसार करना तथा सबके लिए प्रारम्भिक स्कूली शिक्षा उपलब्ध कराने का लक्ष्य प्राप्त करना है। वैकल्पिक स्कूल शिक्षण का अर्थ वंचित या स्कूल के बाहर के बच्चों के लिए समानान्तर विद्यालयी शिक्षा प्रणाली का निर्माण करना है, जबकि वैकल्पिक शिक्षा का सम्बन्ध नये प्रकार की 'अभिनव शिक्षा प्रणाली' से है, जिसमें ज्ञान को ठूँस-ठूँसकर भरने के बजाय बच्चे की समझ तथा वैकल्पिक विकास पर ध्यान देने पर बल दिया गया है। भारत सरकार की औपचारिकेत्तर शिक्षा योजना अभी **''सार्वभौमिक प्रारम्भिक शिक्षा'' (यू.ई.ई.)** के लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल रही है और औपचारिक शिक्षा प्रणाली में अपनी अन्तर्निहित कमियाँ हैं, जिनके परिपेक्ष्य में 'वैकल्पिक विद्यालयों' का उदय हुआ है।

वैकल्पिक विद्यालय केवल औपचारिक शिक्षा का औपचारिकेत्तर विकल्प नही है, बल्कि एक प्रभावी विद्यालय व्यवस्था की रचना करने का प्रयास है, जिसका आकार लचीला हो तथा अधिगमकर्त्ताओं की आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील हो। इन विद्यालयों की स्थापना ऐसे स्थानों पर की गई है, जहाँ स्कूल

* जे०आर०एफ०, शोधछात्रा, शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

जाने वाले उम्र के बच्चे आसानी से पहुँच सके। (पी.उपाध्याय, 2009)। शिक्षा गारण्टी योजना के अन्तर्गत अकार्मिक आवासीय विद्यालय (जहाँ एक किमी. के अन्दर कोई विद्यालयी सुविधायें नहीं है) **ई.जी.एस.** (शिक्षा गारंटी योजना) व **ए.आई.ई.** अंग है तथा यह योजनायें विद्यालय के बाहर के बच्चों को शिक्षा प्रदान करती है, वैकल्पिक विद्यालय कहलाते हैं। आन्ध्रप्रदेश में मावड़ी, केरल में बहु-स्तरी अधिगम केन्द्र, पश्चिम बंगाल में शिक्षा कार्यसूची केन्द्र, महाराष्ट्र में अनुबन्ध विद्यालय, राजस्थान में राजीव गाँधी स्वर्ण जयन्ती पाठशालायें, कर्नाटक में बैली स्कूल, मीराक्बिका, श्री अरविन्दो आश्रम, नई दिल्ली में वालडोर्ल्फ आरम्भ, हरियाणा में शिक्षान्तर, इदहा (Edha) विद्यालय, केरल में सारंग श्री आत्मारंग मेमोरियल विद्यालय तथा नवोदय विद्यालय आदि वैकल्पिक विद्यालय के उदाहरण हैं।

ए.आई.ई. (अल्टरनेटिव एण्ड इनोवेटिव एजुकेशन) केन्द्र बहुत विशिष्ट होते हैं, यह प्रवासित बच्चों के लिए मौसमी छात्रावास होते हैं और ब्रिज कोर्सेज द्वारा विद्यालय छोड़े हुए बच्चों को वापस विद्यालय कैम्पस में लाकर उनकी आयु के अनुसार उपयुक्त दक्षताओं को सीमित अवधि में प्रदान करते हैं। सड़कों पर रहने वाले व मलिन बच्चों के लिए कुछ आश्रम विद्यालय होते हैं। आश्रम विद्यालय आवासीय विद्यालय की तरह बिखरी हुई जनसंख्या वाले क्षेत्रों में स्थित होते हैं, जो मुक्त आवासीय सुविधायें, गुरुकुल शैक्षिक प्रतिरूप में जनजाति बालक-बालिकाओं को कार्यात्मक व उदारवादी शिक्षा प्रदान करती है।

वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र बहुधा लघु कक्षा आकार, शिक्षक तथा छात्रों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध तथा समुदाय से सम्बन्धित मूल्यों पर बल देते हैं। वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं कि 'यह विद्यालय बोर्ड द्वारा अनुमोदित अनुदेशनात्मक कार्यक्रम है, जो शिक्षण तकनीकी तथा वैकल्पिक विद्यालय संरचनाओं का सफलतापूर्वक उपयोग करता है और पहले से विद्यमान परम्परागत कक्षाओं या नियमित निर्धारित पाठ्येतर कार्यक्रमों को शामिल करता है। वैकल्पिक शिक्षा कार्यक्रम निजी विद्यालय या आवासीय निजी शैक्षणिक कार्यक्रमों को शामिल नहीं करता है।' सभी वैकल्पिक विद्यालय जीवन तथा शिक्षा के घनिष्ठ तथा सम्पूर्ण दर्शन द्वारा निर्देशित होते हैं। यह विद्यालय बच्चों को उनकी गति के अनुसार पढ़ने व लिखने के आधारभूत कौशलों को सीखने हेतु अवसर प्रदान करते हैं। परम्परागत विद्यालय की वर्तमान विश्व के साथ समरसता है, जबकि वैकल्पिक विद्यालय आने वाले विश्व के साथ अधिक समरसता रखते हैं। (दीप्ति पी. मल्होत्रा, 1998)

वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र सामान्यतः निम्न तत्त्वों को शामिल करता है—

1. **स्वैच्छिक सहभागिता**

   इन विद्यालयों में छात्रों, अभिभावकों तथा शिक्षकों की स्वैच्छिक प्रतिभागिता होती है।

2. **लघु विद्यालय आकार**

वैकल्पिक विद्यालय मानवता तथा व्यक्तिगत सम्बद्धता से सम्बन्धित अधिगम द्वारा लघु शैक्षिक विकल्पों को सृजित करता है। भारतीय सन्दर्भ में वैकल्पिक विद्यालय उन आवासीय क्षेत्रों में स्थापित करते हैं, जहाँ जनसंख्या 200 से कम है। यह विद्यालय उन आवासीय क्षेत्रों में स्थापित करते हैं, जहाँ एक स्थान पर लगभग 15 से 30 बच्चे एकत्रित हो सकें।

3. उच्च आकाँक्षाओं के साथ देखभाल करने वाले शिक्षक

इन विद्यालयों में शिक्षकों का स्वैच्छिक प्रतिभागिता होती है, अतः ये इन विद्यालयों में अपना अधिकतम योगदान देते हैं। यह योगदान छात्र-उपलब्धि तथा विद्यालय की सफलता को मजबूत अभिप्रेरणा देता है।

4. सुव्यवस्थित पाठ्यचर्या/व्यक्तिगत निर्देश

इन विद्यालयों में छात्रों, अभिभावकों तथा शिक्षकों को मूल्य वृद्धि पर आधारित पाठ्यचर्या में शामिल होने की सुविधा प्रदान की जाती है। इन विद्यालयों के छात्र पाठ्यचर्या-संरचना में शामिल होते हैं, जो छात्रों को अधिगम-अभिप्रेरित करने के साथ-साथ अनुभवों को भी प्रदान करती है, जो कि उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं, रुचि व कैरियर की आकांक्षाओं से जुड़े होते हैं।

5. सुरक्षित अधिगम वातावरण

वैकल्पिक विद्यालय छात्रों को सुरक्षित अधिगम माहौल प्रदान करते हैं।

यह पाँच आलोचनात्मक तत्त्व वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र में पाये जाते है। (रार्बट डी.बार, विलियम एच. परेट, 2003)

वर्तमान में वैकल्पिक विद्यालयों को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, उनमें से एक पाठ्यचर्या के लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति है। पाठ्यचर्या विद्यालय की शिक्षा व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु है। विद्यालय में उपलब्ध सभी संसाधन जैसे—विद्यालय भवन, उपकरण, पुस्तकालय की पुस्तकें एवं अन्य शिक्षण सामग्री का एकमात्र उद्देश्य है—पाठ्यचर्या के प्रभावी क्रियान्वयन में सहयोग देना। कक्षा की समस्त क्रियाएँ, पाठ्यसहगामी कार्यकलाप तथा मूल्यांकन की समस्त प्रक्रिया विद्यालयी पाठ्यचर्या के परिणामस्वरूप ही नियोजित होती है। पाठ्यचर्या को क्रियाओं हेतु एक योजना या लिखित प्रलेख के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि लक्षित उद्देश्यों या प्रयोजनों की प्राप्ति हेतु रणनीतियों को शामिल करती है। पाठ्यचर्या द्वारा हम शिक्षा के किसी विषय के लिए निर्धारित लक्ष्यों व उद्देश्यों को प्राप्त कर सकते हैं। वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र एक लचीला तन्त्र है। पाठ्यचर्या का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि पाठ्यचर्या शिक्षा-प्रक्रिया की आत्मा है, शैक्षिक संस्था का हृदय है और कोर्स का मस्तिष्क है। यह शिक्षक के हाथों में एक ऐसा उपकरण है, जिसके द्वारा समाज के उद्देश्यों के अनुसार छात्रों का निर्माण किया जाता है। (डा. मारलो इडीगर्स एवं दिगमूर्ति भास्कर राव, 2007)

भारत में 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ शैक्षिक विद्वानों ने विचार-विमर्श करके मूलभूत रूप से भिन्न रूपों के विद्यालय तन्त्र को क्रियान्वित किया गया। भारत वैकल्पिक विद्यालयों की भूमि रहा है। ब्रिटिशराज से पूर्व एवं उसके बाद भारत में परम्परागत विद्यालय को स्वीकार किया गया। रवीन्द्रनाथ टैगोर का विश्व-भारती विश्वविद्यालय तथा श्री अरविन्दों का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र शिक्षा के प्रमुख उदाहरण हैं। अधिगम के परम्परागत केन्द्र जैसे—गुरूकुल, मदरसा व छोटे ग्रामीण विद्यालय सदियों से आधारभूत शिक्षा (grounded education) प्रदान कर रहे थे। जहाँ उन्हें शिक्षकों द्वारा निःशुल्क, भोजन, आवास तथा शिक्षा की सुविधा प्राप्त होती थी। प्रगति का आधार अंकों तथा परीक्षा पर आधारित नहीं था। इस तन्त्र का उद्देश्य विद्यार्थी की प्राकृतिक सृजनात्मकता व सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास को विकसित करना था।

भारत में परम्परागत शिक्षा तन्त्र लार्ड मैकाले द्वारा स्थापित किया गया। जो आज भी हमारी परम्परागत शिक्षा का आधार है। वैकल्पिक शिक्षा पर पूरे राष्ट्र में उत्साहपूर्वक विचार-विमर्श किया गया। भारत में महात्मा गाँधी की नई तालीम (नई शिक्षा) या गीजूभाई बड़ेका (Gijubhi Badeka's) द्वारा माण्टेन्सरी विधि का अनुकूलन ऐसे बहुत से उदाहरणों में से है। भारत के बहुत से धार्मिक व दार्शनिक नेता जैसे स्वामी विवेकानंद, जिद्दू कृष्णमूर्ति, महर्षि योगानंद, सत्य साईबाबा आदि ने विद्यालयीकरण के वैकल्पिक तरीकों का उद्देश्यों के साथ अनुसरण करके पूरे राष्ट्र में विद्यालयों की स्थापना की। वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र आन्दोलन यह विश्वास करता है कि प्रत्येक बालक विशिष्ट है व विशिष्ट अवधान पाने का अधिकारी है। हमें पूर्ण मनुष्य को सम्बोधित करना चाहिए, न कि अपूर्ण को। कल्पना व कल्पना शक्ति बालक को प्रौढ़ बनाती है, स्वतन्त्र चिन्तन किशोरावस्था में आदर्शवाद का विकास करती है। जैसे-जैसे बच्चे प्रौढ़ावस्था में बढ़ेंगे, वे नई तरीकों एवं कल्पना-शक्ति या दृष्टि को न केवल अपने लिए, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सृजित करेंगे।

भारत में वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र की वर्तमान स्थिति

ज्यों ही व्यक्ति, संस्थाओं तथा समूहों की संख्या में निश्चित रूप से वृद्धि हुई, उन्हें परम्परागत विद्यालयों में समस्याओं का सामना करना पड़ा तथा इस प्रकार अधिगम शिक्षा के वैकल्पिक तरीकों की ओर बढ़ा, फिर भी यह प्रतिशत बहुत कम है। अब हम परम्परागत व वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र के मध्य वाद-विवाद तथा जागरुकता को विकसित होते देख रहे हैं। कुछ संगठन जैसे शिक्षान्तर (हरियाणा) तथा SIDH अधिगम समुदायों तथा तन्त्रों के नवीन सम्भावनाओं पर कार्य कर रहे हैं। यद्यपि दूसरे संगठन जैसे—कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन तथा रामकृष्ण मिशन वर्तमान विद्यालयों की स्थापना के अन्दर ही शैक्षिक तन्त्रों में सुधार हेतु प्रयास कर रहे हैं। भारत में वैकल्पिक विद्यालयों की संख्या में निश्चित रूप से वृद्धि हो रही है। यद्यपि इनके विषय में कोई सांख्यिकीय अध्ययन या सरकारी रिकार्ड उपलब्ध नहीं है, फिर भी भारत में वैकल्पिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि को कई औपचारिक ऑनलाइन/डाइरेक्टरीज व समूहों द्वारा स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। **एन.सी.एफ.-2005** अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण फ्रेमवर्क है, जो भारत के शिक्षा विभाग द्वारा संचालित हो रहा है। यदि इसको सच्ची भावना के साथ क्रियान्वित किया जाय तो वैकल्पिक विद्यालय अच्छी तरह से कार्य कर सकते हैं। यद्यपि इनमें से कुछ योजनाएँ कागजों पर है और एन.सी.एफ. से विद्यालय द्वारा उन्हीं क्रियाओं या अभ्यासों को अपनाया जाता है, जो आसान हो तथा वर्तमान परम्परागत तन्त्रों के लिए अविनाशकारी हो। वैकल्पिक शिक्षा के प्रति अधिक जागरुकता व गतिशीलता उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में पाई जाती है।

पाठ्यचर्या के सन्दर्भ में वैकल्पिक विद्यालय तन्त्र की चुनौतियाँ

इन वैकल्पिक विद्यालय में अच्छे अभ्यास और क्रियाओं के होते हुए भी कुछ चुनौतियाँ परिलक्षित होती है—

- **शैक्षिक तथा पाठ्येतर दक्षता**

वैकल्पिक शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षकों की शैक्षणिक पृष्ठभूमि नहीं होती है। उपलब्ध संसाधनों की उपलब्धता की दृष्टि से शिक्षकों की नियुक्ति खर्चीली होती है। शिक्षकों में शैक्षिक मनोविज्ञान तथा शिक्षण-विधियों के बारे में जानकारियों का अभाव होता है। शिक्षक एक स्थिति से दूसरे स्थिति में एकीकृत

अधिगम तथा पाठ्येतर क्रियाओं के मध्य सम्बन्धों को नहीं देख पाते हैं।

- **पाठ्यक्रम से सम्बन्धित समस्याएँ**

इन विद्यालयों का पाठ्यक्रम **'न्यूनतम अधिगम स्तर (MLL)'** के समकक्ष होता है। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य **'औपचारिक प्राथमिक शिक्षा'** के स्तर के कोर पाठ्यक्रम के सम्प्राप्ति स्तर को बनाए रखना है, लेकिन इन विद्यालयों में लचीलापन अधिक होने के कारण इस सम्प्राप्ति स्तर को प्राप्त करने में बाधा आती है।

- **पाठ्यक्रम का सही समय पर पूरा न होना**

यह विद्यालय बच्चों को उनकी गति के अनुसार पढ़ने व लिखने के आधारभूत कौशलों को सीखने हेतु अवसर प्रदान करते हैं। इन विद्यालयों और शिक्षकों को अधिगमकर्त्ताओं की आवश्यकतानुसार विषय-सामग्री के चयन की स्वतन्त्रता होती है तथा अधिगमकर्त्ता को भी अपनी गति से सीखने की स्वतन्त्रता होती है। अतः समय का बन्धन न होने पर पाठ्यक्रम निश्चित समय में पूरा करने की कठिनाई आती है।

- **वैकल्पिक विद्यालय में अपनाई जाने वाली विधियों में विविधता**

बहुत से वैकल्पिक विद्यालय सहज रूप से प्रयोगात्मक अंकपत्र से चिह्नित किये जा सकते हैं। प्रशिक्षण तथा विद्यालयों के प्रबन्धक सामान्यतः उन्हीं दर्शनों को प्रयोग में लाते है, जो उन्हें सही तथा उपयुक्त लगते हैं। किसी वैकल्पिक विद्यालयों में प्रयोग लाई जाने वाली शिक्षा की नई विधियों के पक्ष में कोई वैज्ञानिक या अन्य आधार नहीं होता है। बहुत से प्रयोग बहु व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। सामान्यतः कुछ विद्यालय किसी एक दर्शन को अपनाते हैं, जबकि कुछ विद्यालय दूसरे दर्शन को अपनाते हैं। जैसे—कुछ महात्मा गाँधी की नई तालीम पद्धति को अपनाते हैं, जबकि कुछ जे. कृष्णमूर्ति के दृष्टिकोण को तथा कुछ किसी अन्य शिक्षण-पद्धति को अपनाते हैं। यह चुनौती सफल विकल्पों तथा उत्तरों के अभाव में वैकल्पिक विद्यालयों में उत्पन्न हुई।

- **विभिन्न बोर्डों द्वारा वैकल्पिक विद्यालयों का संचालन**

बहुत से वैकल्पिक विद्यालय **आई.सी.एस.ई. (ICSE)** बोर्ड द्वारा संचालित होते हैं। ऋषि वैली स्कूल व K-स्कूल ICSE पाठ्यक्रम का अनुपालन करते हैं। भारत में बहुत से नये वैकल्पिक विद्यालयों में ICSE पाठ्यक्रम संचालित हो रहा है, जैसे कुछ विद्यालय स्टेनर-वॉलडार्फ मॉडल को अपनाते हैं। कुछ विद्यालयों जैसे सिंहभूमि (Shibumi) और सेन्टर फॉर लर्निंग IGCSE/GCE परीक्षा (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय द्वारा प्रशासित) 'A' लेवल का अनुपालन करते हैं। इसी कारण से इन विद्यालयों की सफलता का पूर्वानुमान या मूल्यांकन नहीं हो पाता है।

- **अच्छे शिक्षकों की कमी**

वैकल्पिक विद्यालयों में अच्छे शिक्षकों की कमी है, क्योंकि इन विद्यालयों की माँग व आवश्यकताएँ परम्परागत विद्यालयों से अलग है, प्रायः यह विद्यालय आवासीय विद्यालयों के रूप में होते हैं। कभी-कभी इन शिक्षकों को शिक्षण के अलावा अन्य प्रकार की जिम्मेदारियाँ (छात्रावास अधीक्षक, मेन्टर आदि) भी दी जाती है, जो कि उनके शिक्षण-कार्य में बाधा डालती है। इसके अतिरिक्त कुछ वैकल्पिक विद्यालयों शिक्षकों को बहुत से कम वेतन देते हैं। शिक्षा तथा शिक्षण से वचनबद्ध होते हुए भी कुछ अच्छे शिक्षक इन

विद्यालयों को छोड़ देते हैं।

- **वैकल्पिक विद्यालय की गुणवत्ता में दो मुख्य तत्त्व समाहित होते है। जिसके कारण निम्न स्थितियाँ उत्पन्न होती है—**

चुनौतियाँ

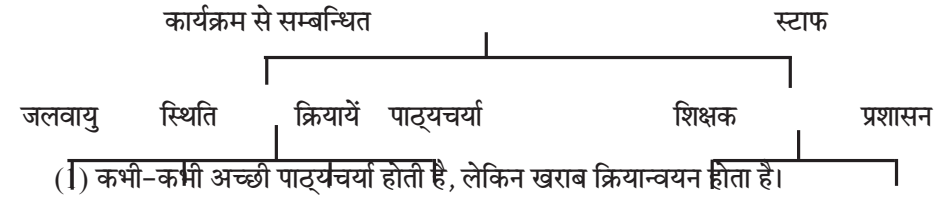

(1) कभी-कभी अच्छी पाठ्यचर्या होती है, लेकिन खराब क्रियान्वयन होता है।

(2) अच्छे शिक्षक होते हैं, लेकिन खराब कार्य करने वाली परिस्थितियाँ होती है। कुछ विद्यालयों में अच्छे स्टाफ और अच्छे ढंग से संरचित पाठ्यचर्या होती है।

(3) कुछ विद्यालयों में खराब शिक्षकों के साथ-साथ खराब पाठ्यचर्या भी होती है। (जेम्स नेल, 2004)

सुझाव

इन विद्यालयों के बहुत से शिक्षकों की शैक्षणिक पृष्ठभूमि नहीं होती है। अतः इस स्थिति में शैक्षणिक पृष्ठभूमि वाले स्टाफ को अकादमिक कार्यक्रमों का सारसंक्षेप प्रस्तुत करना चाहिए तथा शिक्षण व अधिगम से सम्बन्धित कार्यक्रमों को बढ़ावा देना चाहिए।

- मजबूत शैक्षणिक नेतृत्व सभी वैकल्पिक शिक्षा के कार्यक्रमों में छात्रों को शैक्षिक गतिविधियों में व्यस्त करने के साथ-साथ अकादमिक सफलता को बढ़ा सकता है। जैसे—प्रमाणिक अधिगम अवसरों व सन्दर्भों का प्रयोग शिक्षा को छात्रों के लिए अधिक विश्वसनीय बनाने की संभाव्यता व उनकी आजीविका की आकांक्षाओं व उनकी कक्षा की गतिविधियों के मध्य सम्पर्क स्थापित करता है।
- वैकल्पिक विद्यालय के प्रबन्धकों द्वारा शिक्षकों को अच्छा वेतनमान प्रदान करना चाहिए।
- वैकल्पिक विद्यालयों में स्टाफ व कार्यक्रम से सम्बन्धित चुनौतियों के मध्य सन्तुलन होना चाहिए।
- इन विद्यालयों के लिए पाठ्यचर्या का ढाँचा, इन विद्यालयों की आवश्यकताओं, माँगों व अधिकतम परिणाम प्रदान करने के लिए पर्याप्त लचीला होना चाहिए।
- पाठ्यचर्या को वैकल्पिक विद्यालयों के पर्यावरण में अनुकूलित होना चाहिए। जिससे अधिकतम उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।
- वैकल्पिक विद्यालयों की पाठ्यचर्या को परम्परागत तथा रटन्त प्रकार की शिक्षा पर अधिक बल नहीं देना चाहिए, बल्कि इसके स्थान पर विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास हेतु अतिरिक्त पाठ्यसहगामी व सहपाठ्यसहगामी क्रियाओं पर बल देना चाहिए।

निष्कर्ष

शिक्षा केवल विद्यालय तक सीमित नहीं है, बल्कि विद्यालय के अतिरिक्त भी है। हम परिवार समाज, बाजार, मीडिया, भ्रमण व बहुत सी चीजों से सीख सकते हैं। यदि हम वास्तव में अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं, इसके लिए हमें विद्यालय की कुछ चीजों में सुधार की आवश्यकता है। हमें स्वयं में सुधार करना होगा तथा जो समाज में व्यापक रूपान्तर को सम्बोधित करेगा। वैकल्पिक विद्यालय स्कूल के बाहर के बच्चों के लिए समानान्तर विद्यालयी शिक्षा प्रणाली का निर्माण करते हैं। इन विद्यालयों में बालक अपनी क्षमता व रुचि के अनुसार सीखता है। वैकल्पिक विद्यालय पाठ्यचर्या से सम्बन्धित चुनौतियों का भी सामना करते हैं। इन समस्याओं तथा चुनौतियों का समाधान करके वैकल्पिक विद्यालयों से अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है, क्योंकि यह विद्यालय वर्तमान की अपेक्षा भविष्य से अधिक समरसता रखते हैं। इन विद्यालयों की स्थापना द्वारा शिक्षा की बढ़ती हुई आवश्यकताओं व माँगों को पूरा किया जा सकता है। अतः शिक्षा–नीति निर्धारकों को शिक्षा के इस विकल्प पर ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- Barr, R.D. & Parrett, W.H. (1997). How to Creat Alternative, Manget and charter schools that work. Bloomington, IN : National Education Service.
- Ediger M. & Rao. D.B. (2007). Encyclopedia of school curriculum : Vol.-3. New Delhi : Discovery publishing house.
- Guthrie, J.W. (Eds.) (2003). Encyclopedia of Education; (2nd ed.), vol-1, New York : Macmillon reference USA & Thomson gale.
- आई.जी.एन.ओ.यू. (2005) पाठ्यचर्या तथा अनुदेश : खण्ड–1 बी.एड. नई दिल्ली : आई.जी.एन. ओ.यू.।
- उपाध्याय, प्रतिभा (2009), भारतीय शिक्षा में उदीयमान प्रवृत्तियाँ (5वाँ संस्करण), इलाहाबाद : शारदा पुस्तक भवन।
- http://en.wikipedia.org/wiki/Alternative Education.
- http://www.dpiwi.gov/alternativeed/index.html.
- http://www.ncrel.org/sdrs/areas/method/assment/as 500.html.
- http://www.wilderdom.com/experiential/problemswith Alternativeschools.
- http://archive.futuralab.org.ok.resources/publications-reports-articles/VIS.

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 259-263

छवि निर्माण में टीवी विज्ञापनों की भूमिका

विकास चन्द्र*

सारांश

विज्ञापन का कार्य किसी उत्पाद की बिक्री बढ़ाना ही नहीं होता बल्कि इससे छवि निर्माण का भी कार्य लिया जाता है। विज्ञापन हमारे मन के भीतर कई प्रकार की छवियों का निर्माण करता है। ये छवियाँ व्यक्ति के मन के भीतर दबी हुई इच्छा को अभिलाषा में बदल देती है और हम किसी प्रोडक्ट को खरीदने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। इस प्रकार विज्ञापन दमित इच्छाओं को उभारता है। विज्ञापनकर्ता उत्पाद नहीं बल्कि सपने बेचते हैं और लोग उन्हें खरीदने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। आजकल विज्ञापनों का निर्माण बहुत ही रचनात्मक तरीके से हो रहा है। कई विज्ञापन बेहतरीन व्यंग्य वाले होते हैं। इन विज्ञापनों को देखने की लालसा लोगों में बार-बार होती है। इन दिनों टेलीविजन पर विज्ञापन प्रसारण का एक नया ट्रेंड दिखाई दे रहा है। कई कंपनियों के उत्पाद या सेवा की सूचना धारावाहिक रूप में दी जाती है। एक ही प्रोडक्ट के अलग-अलग गुणों को धारावाहिक विज्ञापन के रूप में दिखाया जाता है। इससे विज्ञापन को जहाँ एक ओर रोचकता मिलती है वहीं दर्शकों का लगाव भी ऐसे विज्ञापनों के प्रति होने लगता है।

शब्दकुंजी : विज्ञापन, टेलीविजन, छवि निर्माण, उपभोक्ता, जागरुकता।

प्रस्तावना

विज्ञापन एक व्यापारिक अभिव्यक्ति है, जो कि मानव को अपनी ओर आकर्षित करती है। ऐसे में विज्ञापन प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ता को प्रभावित करता है। किसी वस्तु या सेवा के संबंध में बेहतर ढंग से बताने का काम विज्ञापन के द्वारा किया जाता है। विज्ञापन के माध्यम से उपभोक्ता किसी वस्तु या सेवा को खरीदने से पहले उसके बारे में जानकारी प्राप्त करता है। किसी वस्तु या सेवा के विज्ञापन में जिस प्रकार किसी उत्पाद का प्रस्तुतीकरण किया जाता है, उसी के अनुरूप उपभोक्ता भी खुद को ढालने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके व्यवहार में परिवर्तन आने लगता है। उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदने में एक निर्णय प्रक्रिया से होकर गुजरता है। यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। उपभोक्ता निर्णय की प्रक्रिया तीन प्रमुख कारकों से प्रभावित होती है। ये कारक हैं—व्यक्तिगत, सामाजिक और सांस्कृतिक कारक। व्यक्तिगत कारक के अंतर्गत अधिगम, प्रत्यक्षीकरण, अभिवृत्ति, विश्वास, मत तथा पूर्वाग्रह को शामिल किया जाता है। सामाजिक कारक में संदर्भ समूह, परिवार तथा व्यक्तिगत प्रभाव आते हैं। सांस्कृतिक कारक में सामाजिक वर्ग, उपसंस्कृति, राष्ट्रीयता, जाति, धर्म, भौगोलिक क्षेत्र आदि को शामिल किया जाता है।

विज्ञापन का बाजार भी इसी वजह से दिनों-दिन तीव्र गति से बढ़ोत्तरी कर रहा है। आज समाचार-

* शोधार्थी—पी.एच.डी. जनसंचार, संचार एवं मीडिया अध्ययन केंद्र, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

पत्र, पत्रिकाओं और रेडियो, टेलीविजन जैसे माध्यमों के साथ जब ऑनलाइन और मोबाइल विज्ञापनों ने भी अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज की है। ऑनलाइन विज्ञापनों का रुझान बढ़ता जा रहा है। वर्ष 2012 में ऑनलाइन विज्ञापनों से कुल 1750 करोड़ रुपए की कमाई हुई थी तो वहीं मार्च 2013 तक इस अवधि में 2260 करोड़ रुपए का मुनाफा हुआ, जो 29 प्रतिशत अधिक था। डिजिटल मीडिया के क्षेत्र में भी यह खर्च धीरे-धीरे बढ़ रहा है। ऑनलाइन विज्ञापनों में सर्च, डिस्प्ले, मोबाइल, सोशल मीडिया, ई-मेल और वीडियो विज्ञापनों को शामिल किया जाता है। परंपरागत विज्ञापनों की अपेक्षा इनका निर्माण कम खर्च में हो जाता है। ऐसे में विज्ञापन के ये नए माध्यम अन्य माध्यमों की तुलना में सस्ते भी हैं। मोबाइल एसोसिएशन ऑफ इंडिया की एक रिपोर्ट में भी भारत में मार्च 2014 तक ऑनलाइन विज्ञापन का बाजार 2938 करोड़ रुपए तक पहुँचने का अनुमान जताया गया।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत अध्ययन के लिए निम्न शोध प्रविधियों का प्रयोग किया गया है—

1. प्रश्नावली, 2. साक्षात्कार, 3. अवलोकन।

शोध का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. छवि निर्माण में टेलीविजन विज्ञापनों की भूमिका का अध्ययन करना।
2. टेलीविजन विज्ञापनों के जरिये हो रहे सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करना।
3. टेलीविजन विज्ञापनों के माध्यम से किसी कंपनी या उत्पाद से संबंधित जानकारियों का उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन।

न्यादर्श का चयन—प्रस्तुत शोध कार्य के लिए महाराष्ट्र के वर्धा जिले का चयन किया गया है। शोध में उद्देश्यपरक न्यादर्श द्वारा क्षेत्र का चयन किया गया है।

अध्ययन प्रविधि—प्रस्तुत शोध के लिए सर्वेक्षण व अवलोकन विधि का प्रयोग किया गया है। उपकरण के रूप में प्रश्नावली का प्रयोग किया है। साथ ही कुछ चुनिंदा लोगों का साक्षात्कार भी लिया गया है।

उपकरण एवं तकनीकि

प्रदत्त संकलन—शोध कार्य के लिए चुने गए क्षेत्र में 50 प्रश्नावली वितरित की गई। प्रश्नावली में विभिन्न प्रकार के 10 वैकल्पिक प्रश्न शामिल किये गये थे। इन प्रश्नों के शोध उद्देश्यों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया था। प्रश्नावली में टेलीविजन चैनल से संबंधित, उपभोक्ता व्यवहार से संबंधित, टीवी विज्ञापन द्वारा उपभोक्ता जागरुकता और छवि निर्माण से संबंधित एवं उपभोक्ता निर्णय प्रक्रिया से संबंधित प्रश्न थे। इसके साथ ही कुछ चुनिंदा टीवी चैनलों का अवलोकन किया गया तथा वहाँ से प्राप्त प्रदत्त आँकड़े संकलित किये गये।

प्रदत्त विश्लेषण व विवेचना—प्रश्नावली से प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण से निष्कर्ष के रूप में जो महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलकर आए हैं उनका वर्णन निम्नलिखित है—

अध्ययन में सहभागी उत्तरदाताओं का सामान्य परिचय—प्रस्तुत अध्ययन में सम्मिलित

उत्तरदाता 18 वर्ष से 55 वर्ष के बीच की आयु के हैं। अध्ययन में शामिल किये गये उत्तरदाताओं में 45 प्रतिशत उत्तरदाता महिला तथा 55 प्रतिशत उत्तरदाता पुरुष है। अध्ययन में उन्हीं उत्तरदाताओं को शामिल किया गया है, जो समाचार तथा मनोरंजन चैनलों को नियमित रूप से देखते हैं। ऐसे में 100 प्रतिशत उत्तरदाता किसी-न-किसी टीवी चैनल के नियमित दर्शक हैं। कोई ऐसा उत्तरदाता नहीं है, जो चौबीस घंटे में कुछ समय टीवी कार्यक्रम न देखता हो। यानी टीवी चैनलों को नहीं देखने वालों का प्रतिशत शून्य है।

परिणाम एवं विवेचन

शोध अध्ययन के दौरान जब यह सवाल पूछा गया कि किसी उत्पाद को खरीदने संबंध निर्णय लेने में विज्ञापन की भूमिका होती है या नहीं तो इसके जवाब में सर्वाधिक 74 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मत था कि विज्ञापन किसी उत्पाद या सेवा को खरीदने का निर्णय लेना आसान बनाता है, जबकि 12 प्रतिशत का मानना था कि उनके द्वारा किसी वस्तु की खरीद के निर्णय में विज्ञापन का कोई योगदान नहीं होता, वहीं 14 प्रतिशत उत्तरदाता ऐसे पाए गए जो इस बात का निर्धारण करने में सक्षम नहीं थे और उनका मानना था कि इस बारे में वे स्पष्ट तौर पर कुछ कह नहीं सकते। अतः निष्कर्ष के आधार पर कहा जा सकता है कि उत्पाद को खरीदने संबंधी निर्णय लेने में विज्ञापन की भूमिका होती है।

अध्ययन में शामिल 58 प्रतिशत उत्तरदाता टीवी विज्ञापन को ज्यादा प्रभावी मानते हैं, 10 प्रतिशत रेडियो विज्ञापनों को ज्यादा उपयुक्त मानते हैं, वहीं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों से प्रभावित होने वालों का प्रतिशत 23 है तथा मात्र चार प्रतिशत लोग ही ऐसे है जो होर्डिंग वाले विज्ञापनों से खुद को ज्यादा प्रभावित महसूस करते हैं। अध्ययन में शामिल नौ प्रतिशत उत्तरदाता सभी माध्यमों के विज्ञापन को प्रभावी मानते हैं। ऐसे में कहा जा सकता है कि टीवी विज्ञापन का असर उपभोक्ताओं पर सबसे ज्यादा पड़ता है वहीं अन्य माध्यमों द्वारा प्रसारित विज्ञापनों का भी प्रभाव उपभोक्ताओं पर पड़ता है। ऐसे में यह बात निकलकर सामने आती है कि भले ही टीवी विज्ञापनों की स्वीकार्यता समाज में अधिक है, लेकिन अन्य माध्यमों द्वारा प्रसारित विज्ञापनों का भी अपना अलग महत्त्व है।

शोध अध्ययन के दौरान उत्तरदाताओं से पूछा गया कि क्या आप मानते हैं कि विज्ञापन किसी कंपनी या उसके द्वारा प्रदान किये जाने वाले सेवा या उत्पाद के छवि निर्माण में निर्णायक भूमिका निभा सकता है तो इस सवाल के जवाब में 71 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने हाँ में जवाब दिया जबकि 21 प्रतिशत का जवाब न में था। जबकि आठ प्रतिशत उत्तरदाताओं का कहना था कि साफ तौर पर वे इस बारे में कुछ कह नहीं सकते। ऐसे में यह बात साफ तौर पर निकलकर आती है कि आज भी उपभोक्ताओं का एक बड़ा तबका ऐसा है जो विज्ञापन को छवि निर्माण की दृष्टि से प्रभावी मानते हैं। इसका प्रभाव भी उपभोक्ता के खरीद निर्णय में देखा जा सकता है।

अध्ययन में शामिल उत्तरदाताओं में 64 प्रतिशत लोगों का मानना था कि अच्छी छवि वाले टीवी विज्ञापन जीवनशैली और उपलब्धियों को उन्नत करने का बेहतर साधन हो सकता है, वहीं 25 प्रतिशत का मत यह था कि इस बारे में स्पष्ट तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता जबकि 11 प्रतिशत लोगों का जवाब न में था। इस प्रकार अध्ययन के दौरान पूछे गए उपर्युक्त प्रश्न से यह बात सामने आई कि जीवनशैली और उपलब्धियों को उन्नत करने के बेहतर साधन के रूप में ज्यादातर लोग टीवी विज्ञापन की अहम भूमिका स्वीकार करते हैं अर्थात् टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले छवि निर्माण की दृष्टि वाले विज्ञापन उपभोक्ताओं

की जिंदगी में बदलाव लाने में सक्षम हैं। वहीं एक तबका ऐसा भी है जो इस बात से बिल्कुल भी इत्तेफाक नहीं रखता साथ ही कई लोग इस तथ्य को साफतौर पर नकारते हैं कि टीवी विज्ञापन जीवनशैली को उन्नत बनाने में कोई भूमिका निभाते हैं।

शोध अध्ययन के दौरान उत्तरदाताओं से पूछा गया कि टीवी विज्ञापन उपयोगी सूचनाओं को जुटाकर तथा वस्तुओं की तुलनात्मक स्थिति का वर्णन करके मितव्ययिता से खरीददारी को प्रोत्साहित करते हैं तो इस सवाल के जवाब में 65 प्रतिशत लोगों ने हाँ में जवाब दिया, जबकि 29 प्रतिशत लोगों का जवाब था कि इस बारे में कुछ कह नहीं सकते वहीं छः प्रतिशत लोगों ने इस सवाल का उत्तर न में दिया। ऐसे में यह बात निकलकर सामने आती है कि जहाँ ज्यादातर लोगों का मानना यह है कि टीवी विज्ञापनों द्वारा दी गई जानकारी से उत्पादों की तुलना का अवसर मिलता है और इससे मितव्ययिता आती है, वहीं ऐसे लोगों की संख्या भी अधिक थी जो इस तथ्य का निर्धारण साफ तौर पर करने में समर्थ नहीं थे।

उत्तरदाताओं से जब यह सवाल पूछा गया कि किसी उत्पाद या सेवा को बेहतर मानने का उनका पैमाना क्या है, तो इस सवाल के जवाब में 63 प्रतिशत लोगों ने कहा कि जिस वस्तु की छवि उनके भीतर सकारात्मक बनी है उसे ज्यादा और त्वरित ढंग से उपयोग में लाते हैं। इस कार्य में टीवी विज्ञापनों के माध्यम से बनाई गई उनकी छवि का विशेष योगदान होता है। जबकि 28 प्रतिशत लोगों का कहना था कि इस बारे में वे साफ तौर पर कुछ कह नहीं सकते। अध्ययन में शामिल नौ प्रतिशत उत्तरदाता विज्ञापन के माध्यम से छवि निर्माण की बात से इत्तेफाक नहीं रखते। इस प्रकार यह बात सामने आई कि टीवी विज्ञापनों के माध्यम से किसी उत्पाद की जो छवि बनाई जाती है उसका व्यापक प्रभाव पड़ता है।

शोध अध्ययन के दौरान उत्तरदाताओं से जब यह पूछा गया कि आधुनिक समाज में टीवी विज्ञापन ने उपभोक्ताओं को जागरुक बनाने का काम किया है तो इसके उत्तर के रूप में ज्यादातर लोगों ने इसका उत्तर हाँ में दिया। ऐसे लोगों का प्रतिशत 82 है जबकि 12 प्रतिशत लोगों का विचार था कि इस संबंध में वे साफतौर पर कुछ नहीं कह सकते, वहीं छः प्रतिशत उत्तरदाता ऐसे भी थे जिनके विचार थे कि यह जरूरी नहीं कि विज्ञापन के माध्यम से उपभोक्ता जागरुक होते हैं। ऐसे में कहा जा सकता है कि ज्यादातर लोग यह मानते हैं कि टीवी विज्ञापनों ने उपभोक्ताओं को जागरुक बनाने का काम किया है।

शोध अध्ययन के दौरान उत्तरदाताओं से पूछा गया कि छवि निर्माण करने वाले टीवी विज्ञापन उपभोक्ता जागरुकता स्तर को उठाता है तो इस सवाल के जवाब में 72 प्रतिशत उत्तरदाताओं द्वारा हाँ में जवाब दिया है जबकि 21 प्रतिशत लोगों का कहना था कि इस संबंध में स्पष्ट तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता वहीं सात प्रतिशत व्यक्ति ऐसे भी थे जिन्होंने इस बात से इन्कार किया। इस प्रकार से उत्तरदाताओं में सर्वाधिक इस बात के पक्षधर थे कि टीवी पर प्रसारित होने वाले विज्ञापन उपभोक्ताओं को जागरुक बनाता है तथा उन्हें सशक्त बनाकर खरीद संबंधी उचित निर्णय लेने में मदद करता है।

शोध अध्ययन के दौरान यह सवाल भी पूछा गया कि टीवी विज्ञापन मनोरंजन तक ही सीमित है या किसी उत्पाद या सेवा के संबंध में नई जानकारी प्रदान करने का काम करता है। इस प्रश्न के जवाब में 67 प्रतिशत लोगों का कहना था कि टीवी विज्ञापन मनोरंजन तक ही सीमित नहीं रहते बल्कि अलग-अलग उत्पाद एवं सेवाओं के बारे में नई जानकारियाँ भी उपलब्ध कराते हैं। वहीं 21 प्रतिशत लोगों का मानना था कि इस बारे में स्पष्ट तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता, जबकि 12 प्रतिशत लोग ऐसे भी थे जिनका साफ

तौर पर मानना था कि टीवी विज्ञापन मनोरंजन से ज्यादा और कोई भूमिका अदा नहीं करते।

अध्ययन में शामिल उत्तरदाताओं से एक खुला प्रश्न भी पूछा गया कि टेलीविजन विज्ञापन और उपभोक्ता जागरुकता के संबंध में आपके विचार क्या हैं, जिसके जवाब में विभिन्न प्रकार के विचार सामने आए। कुछ चुनिंदा उपभोक्ताओं से जब व्यक्तिगत साक्षात्कार लिया गया तो इस संबंध में कुछ और भी बातें गहराई से जानने को मिलीं।

निष्कर्ष

विज्ञापन किसी वस्तु या सेवा की जानकारी के लिए एक सशक्त माध्यम है। विज्ञापन उपभोक्ता और उत्पादक के बीच एक पुल का काम करता है। किसी उत्पाद या सेवा के बारे में जानकारी देकर विज्ञापन हमें उसे खरीदने की दिशा में प्रेरित करता है। कंपनी या उत्पाद की छवि निर्माण वाले विज्ञापन हमारे मन के भीतर कई प्रकार की छवियों का निर्माण करता है। ये छवियाँ व्यक्ति के मन के भीतर दबी हुई इच्छा को अभिलाषा में बदल देती है और हम किसी उत्पाद को खरीदने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। इस प्रकार विज्ञापन दमित इच्छाओं को उभारता है। विज्ञापन का निर्माण मूल रूप से छवि निर्माण के लिए किया जाता है। विज्ञापनकर्त्ता उत्पाद नहीं बल्कि सपने बेचते हैं और लोग उन्हें खरीदने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। आजकल विज्ञापनों का निर्माण बहुत ही रचनात्मक तरीके से हो रहा है। इस कार्य में टीवी पर प्रसारित होने वाले विज्ञापनों की विशेष भूमिका है।

सन्दर्भ-सूची

- भाटिया, डॉ. तारेश, (2004) **आधुनिक विज्ञापन और जनसंपर्क**, नई दिल्ली : तक्षशिला प्रकाशन।
- तिवारी, डॉ. अर्जुन, **विज्ञापन कला एवं व्यवहार**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,
- हड़वाल, एकेश्वर प्रसाद, **विज्ञापन कला**, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर
- पातंजलि, डॉ. प्रेमचंद, **आधुनिक विज्ञापन**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- Sharma, Atul Kr. (2006) **Consumer Behavior**. New Delhi : Global Vision Publishing House.
- www.consumeraffairs.nic.in
- www.smallbusiness.chron.com

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 264-269

प्रतापगढ़ जनपद के इण्टरमीडिएट स्तर के विद्यार्थियों की उपलब्धियों का उनके विद्यालयीय वातावरण के मध्य सह-सम्बन्धों का अध्ययन

अनुपम*

किसी भी देश के सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक एवं नैतिक विकास में उस देश की शिक्षा एवं शिक्षा व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। शिक्षा के बिना किसी भी देश के विकास की गति धीमी हो जाती है। विश्व में जितने भी देश विकसित श्रेणी में स्थान पाए हैं वहाँ की शिक्षा व्यवस्था एवं शैक्षिक वातावरण, विकासशील देशों की अपेक्षा उन्नत प्रकार की है। किसी भी देश का विकास वहाँ की साक्षर जनसंख्या से सम्बन्ध रखता है। आज विश्व में जहाँ तेजी से वैज्ञानिक विकास एवं वैज्ञानिक अनुसंधान हो रहे हैं और देश एक के बाद एक नई खोजों में और नई उपलब्धियों को पाने में प्रयासरत है वहीं विकास के क्षेत्र में एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ में भी व्यस्त हैं। विकास एवं इन प्रतियोगिताओं में प्रत्येक को पीछे पछाड़ना वहाँ की अच्छी शिक्षा एवं व्यवस्थित शिक्षण व्यवस्था के बिना सम्भव नहीं हो सकता। शिक्षा ही एक ऐसा चरण है जो देश की बहुमुखी विकास में अपनी सक्रिय भूमिका अदा करती है। इस कारण शिक्षा एवं शिक्षण व्यवस्था ऐसी होने चाहिए जो एक ओर देश के उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायक हो वहीं छात्रों के मौलिक अधिकार, सर्वांगीण विकास एवं उद्देश्यपूर्ण शिक्षा प्राप्त करने में अभूतपूर्व मदद कर सके। इतना ही नहीं वह छात्र एवं समाज ही आवश्यकता की पूर्ति भी करें। यदि कोई ऐसी शिक्षण व्यवस्था जो छात्रों को और अपने देश के निहित उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता नहीं कर पाती है तो वैसी दशा में न तो छात्रों का विकास सम्भव है और न ही देश का विकास। ऐसी स्थिति में अच्छी शिक्षा व्यवस्था और अच्छा भौतिक वातावरण प्रदान करना किसी भी देश का दायित्व बन जाता है। इस प्रकार यह बात सत्य है कि अच्छी शैक्षिक व्यवस्था के लिए अच्छे प्रशिक्षित शिक्षकों एवं अच्छा भौतिक वातावरण का निर्माण करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि छात्रों को अपने उद्देश्य प्राप्त करने में मदद करना।

विद्यालय जिस समाज में स्थित होता है, उस समाज का विद्यालय पर सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव अवश्य पड़ता है। विद्यालय अपना आदर्श प्रस्तुत करके तथा समाज की अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना करके उसके दूषित वातावरण को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार विद्यालय तथा समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इनका एक दूसरे के सहयोग के बिना कार्य नहीं चल सकता। अन्ततः यह

* शोधछात्रा, डॉ० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

कहना कोई अनुचित नहीं होगा कि विद्यालय तथा समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

वास्तव में विद्यालय ही सामाजिक आवश्यकतानुसार वातावरण तैयार कर विद्यार्थी की शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित कर उसे समाज में समाजोपयोगी होने योग्य बना सकता है। विद्यालय एक सुसंगठित सामाजिक समूह के रूप में कार्य करता है। कुछ विद्वान् विद्यालय को समाज का लघु रूप मानते हैं।

इस अध्ययन में मुख्यत: विद्यार्थियों के शैक्षिक वातावरण और शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन किया गया है। शैक्षिक वातावरण के अन्तर्गत कई कारक सम्मिलित होते हैं, जैसे—विद्यालय की स्थिति अर्थात् विद्यालय शान्त वातावरण में है या कोलाहल युक्त वातावरण में है, विद्यालय का भवन, खेल आदि की व्यवस्था, इसके अतिरिक्त प्रधानाचार्य, शिक्षक, विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था उसका संचालन, अनुशासन का ढंग, शिक्षा-सामग्री, पुस्तकालय, वाचनालयय आदि इन सबका बालक की भौतिक उपलब्धि से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध अवश्य होता है। चूँकि विद्यालय समाज का लघु रूप होता है। जैसी समाज की व्यवस्था होगी, वैसी विद्यालयीय व्यवस्था का प्रभाव शैक्षिक वातावरण और उसके महत्त्वपूर्ण अंगों पर भी पड़ेगा, जिसे अलग नहीं किया जा सकता और इस भौतिक वातावरण का प्रभाव बालक की शैक्षिक उपलब्धि पर भी पड़ेगा।

जॉन ड्यूर्क ने बालक के विकास का कारण विद्यालयीय वातावरण मानते हुए कहा है—"विद्यालय एक ऐसा विशिष्ट पर्यावरण है जहाँ जीवन के कुछ गुणों और विशेष प्रकार की क्रियाओं तथा व्यवसायों की शिक्षा इस उद्देश्य से दी जाती है कि बालक का विकास वांछित दिशा में हो।"

जिस्वर्ट (1989 ई०) ने कहा है—"जो किसी एक वस्तु को चारों ओर से घेरे हुए है तथा उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है, वह उस वस्तु का वातावरण है। इस प्रकार पर्यावरण एवं वातावरण समानार्थी शब्द है जिसका अर्थ आस-पास के परिवेश से लगाया जाता है।

निष्कर्ष से सम्बन्धित आंकड़ों का विवरण

छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर शैक्षिक वातावरण का प्रभाव ज्ञात करने के लिए साम्भाव्यता न्यादर्श पद्धति का प्रयोग किया गया है। सम्भाव्यता न्यादर्श की प्रमुख विधियों में यादृच्छिक न्यादर्शन एक मुख्य विधि है। जिसमें न्यादर्श एक मुख्य विधि है जिसमें न्यादर्श निकालने के अनेक प्रविधियाँ हैं—लॉटरी विधि, कार्ड विधि, डिपेट विधि, ग्रिड विधि, नियमित तथा अनियमित विधि तथा अंकन विधि आदि। इसमें हमने लॉटरी विधि का उपयोग किया है, न्यादर्श का चयन करते समय अध्ययन की उपयुक्तता को ध्यान में रखते हुए कुल 500 विद्यार्थी (250 विद्यार्थी ग्रामीण एवं 250 शहरी क्षेत्र) न्यादर्श में समाहित किये गये जिसका लिंगवार एवं जातिवार विवरण निम्न सारणी में प्रदर्शित किया गया है—

प्रतापगढ़ जनपद में 12वीं कक्षा में अध्ययनरत एवं विद्यार्थियों का न्यादर्श हेतु चयन विवरण :

विद्यालय विवरण	विद्यार्थी	जनसंख्या				न्यादर्श			
		सामान्य	अनु.जाति.	अनु. जनजाति	योग	सामान्य	अनु.जाति.	अनु. जनजाति	योग
वित्त पोषित	बालक	9062	3633	121	12816	175	22	05	202
	बालिका	3768	1273	44	5085	34	07	03	44
	योग	12830	4206	165	17901	209	29	08	246
वित्त विहीन	बालक	6833	2976	83	9892	115	15	03	133
	बालिका	5239	1081	29	6349	45	06	02	53
	योग	12072	4057	112	16241	1602	21	05	186
शासकीय	बालक	565	209	28	802	36	15	01	52
	बालिका	538	135	11	684	08	07	01	16
	योग	1103	344	39	1486	44	22	02	68
	महायोग	26005	9307	316	35628	413	72	15	500

वातावरण का मानव के विकास, उसके विचार, उसके कार्य करने की क्षमता, सोचने की क्षमता अर्थात् पूरे व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। बालक के वातावरण के अन्तर्गत उसका पारिवारिक वातावरण भौतिक वातावरण या विद्यालयीय वातावरण और सामाजिक वातावरण आदि मुख्य रूप से आते हैं जो बालक की शैक्षिक उपलब्धि को अपने-अपने ढंग से प्रभावित करते हैं। इस कथन के पक्ष में वातावरण की सत्ता को मानने वाले व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वॉटसन ने कहा है—"मुझे नवजात शिशु दे दो, मैं उसे डॉक्टर, वकील, चोर जो चाहूँ बना सकता हूँ।" अच्छे और बुरे विद्यालय पर बालक के समाजीकरण की प्रगति निर्भर करती है। अच्छे विद्यालयों में अच्छे बालक और अध्यापक होते है जो अच्छा वातावरण तैयार करते हैं, उनका समाजीकरण पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। बुरे विद्यालय में वातावरण बुरा होने से बालक का समाजीकरण अच्छी प्रकार नहीं हो पाता। हमारे समाज में कई प्रकार के विद्यालय हैं। जिनका शैक्षिक वातावरण भिन्न-भिन्न है, जिसका पूर्णतः प्रभाव बालक की शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ता है।

हमारे समाज में एक मुख्य विद्यालय 'शासकीय' अथवा राजकीय विद्यालय संचालित होता है। राजकीय विद्यालय की श्रेणी में वे विद्यालय आते है। जिनका संचालन राज्य सरकार द्वारा होता है ये विद्यालय सीधे राज्य के शिक्षा विभाग के अधीन होते हैं।

राज्य या केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं में नियमित जाँच न होने के कारण उनके कर्मचारियों में असामंजस्य असहयोग, असंतोष की भावना होती है। पाठ्यक्रम पुराना होता है उसमें फेर-बदल न के बराबर तथा कई सालों के बाद ही होता है। पूरा विद्यालयीय वातावरण सामान्य ही रहता है। इस स्थिति के परिणामस्वरूप पाठ्यक्रम-सहगामी क्रियाएँ औपचारिकता मात्र ही रह जाती है। परीक्षा-परिणाम भी बहुत अच्छा नहीं रहता अर्थात् विद्यालय के वातावरण का बालक की शैक्षिक उपलब्धि पर

प्रभाव पड़ता है। उपलब्धि अच्छी न होने के कारण उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी अच्छा नहीं पड़ता।

वर्तमान समय में दूसरे मुख्य विद्यालय भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वह है–पब्लिक स्कूल। पब्लिक स्कूल के वातावरण तथा शैक्षिक उपलब्धि पर एक दृष्टि डालते हुए हम देखते हैं कि यह अंग्रेजी पद्धति पर आधारित पूर्णतः विदेशी संस्कृति से प्रभावित अप्रत्यक्ष भौतिकवादी तथा धनाढ्य वर्ग के लिए विद्यालय है। यह पूर्णतः पश्चिमी–जीवन शैली एवं संस्कृति पर आधारित है। ये पाश्चात्य संस्कृति से युक्त वातावरण पर आधारित होते हैं। जो विद्यार्थियों को प्रतियोगिता के लिए तैयार करते हैं। बालकों को उपयुक्त विषयी ज्ञान देते हैं जिससे बालक की विषयी भौतिक उपलब्धि तो उच्च स्तर की होती है किन्तु वातावरण भारतीय समाज के सापेक्ष न होने के कारण बालक को समाज में समायोजित होने में कठिनाई होती है। यही नहीं हमारे समाज में एक तीसरे प्रकार के प्रमुख विद्यालय भी होते हैं जो निजी संस्थाओं द्वारा संचालित किये जाते हैं जिस पर अधिकार एक व्यक्ति विशेष या समुदाय का होता है जिनकी सम्पूर्ण देख–रेख इनके द्वारा की जाती है। ये विद्यालय जिस स्थान पर स्थित होते हैं वहाँ के समाज का इन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, क्योंकि ये समाज के अनुरूप ही संचालित किये जाते हैं इनकी भी सम्पूर्ण व्यवस्था पब्लिक स्कूल से मिलती–जुलती है लेकिन समाज के अनुरूप होती है। परन्तु फिर भी इनमें उपयुक्त सुविधाओं का अभाव होता है। इनकी शैक्षिक उपलब्धि भी राजकीय और पब्लिक स्कूलों की शैक्षिक उपलब्धि के बीच में होती है। सामान्यतः सुविधा के अनुसार इस विद्यालय की उपलब्धि अच्छी होती है। अतः आवश्यक है कि वर्तमान भारतीय समाज में इस प्रकार के विद्यालयों के स्तर को उठाने का प्रयास किया जाय ताकि समाज और विद्यालय का उचित विकास हो सके।

इन उपर्युक्त वर्णित विद्यालयों के अतिरिक्त हमारे देश में धार्मिक विद्यालय भी संचालित किये जाते हैं जो किसी धर्म अथवा समुदाय से सम्बन्ध रखते हैं। इनका वातावरण बहुत ही संकुचित एवं बन्द होता है। इनमें केवल उसी धर्म अथवा समुदाय के बच्चे अध्ययन करते हैं जो उस धर्म या समुदाय से सम्बन्धित होते हैं। इनका वातावरण बहुत ही निम्न स्तर का होता है, जिसका प्रभाव बालक की भौतिक उपलब्धि पर पड़ता है और इनकी भौतिक उपलब्धि अच्छी नहीं होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस क्षेत्र में राजकीय, धार्मिक या विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्धित या किसी भी प्रकार के विद्यालय का वातावरण तनावमुक्त लोकतांत्रिक और सौहार्दपूर्ण है, वहाँ के बालकों की शैक्षणिक उपलब्धि निश्चित ही संतोषजनक होती है, उसका सर्वांगीण विकास होता है और वह भारतीय समाज में अच्छी तरह समायोजित हो जाता है।

आज जहाँ पूरा जगत् प्रतियोगिताओं में लिप्त है, वहीं छात्रों की व्यक्तिगत उपलब्धि का मुख्य बिन्दु शैक्षिक उपलब्धि पर केन्द्रित है। आज इस प्रतियोगिता के दौर में अभिभावकगण अपने पाल्य की उपलब्धियों को ऊँची से ऊँची चोटी पर पहुँचाने का स्वप्न पूरा करने में कोई कसर नहीं छोड़ते हैं। छात्र प्रतियोगी वातावरण के कारण अपने को ऊँचे से ऊँचे स्थान पर पाने के लिए कोई कसर कमी नहीं रखते। इस बदलते सार्वभौमिक परिवेश के कारण पाठ्यक्रमो में भारी फेर–बदल के कारण छात्रों पर अतिरिक्त विषयों का भार भी बढ़ गया है। इस कारण अच्छी शैक्षिक उपलब्धि प्राप्त करने की विद्यार्थियों एवं उनके अभिभावकों की इच्छा के कारण विद्यार्थियों, शिक्षकों, विद्यालयों और साथ ही साथ पूर्ण शैक्षिक संरचना

पर बहुत बड़ा दबाव एवं भार आ गया है। स्पष्ट शब्दों में एवं एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था एवं शैक्षिक संरचना विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के इर्द-गिर्द घूम रही है। हालाँकि, इस प्रकार की संरचना से कई अन्य प्रतिफल भी सामने आये हैं ऐसी शिक्षा व्यवस्था एवं शैक्षिक संरचना में अधिक समय विद्यार्थियों को अच्छी उपलब्धियों को प्राप्त करने के प्रयास में निकल जाता है।

विद्यालय भी एक संगठन है और वहाँ संगठित रूप से कार्य करने पर ही एक सुचारु एवं शैक्षिक वातावरण का निर्माण हो सकेगा। इस शैक्षिक संगठन के सदस्यों के रूप में विद्यालय का प्रधानाचार्य, विद्यालय के शिक्षक गण एवं वहाँ अध्ययनरत शिक्षार्थी होते हैं। एक संगठन की दृष्टि से अपने उद्देश्य को विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार की क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं को करने के बाद ही प्राप्त किया जा सकता है। व्यवसायिक संगठन में जिस प्रकार कुछ सदस्य कच्चे माल को श्रोत से प्राप्त करने कुछ उसे स्वरूप प्रदान करने की संरचना का निर्माण करने तथा शेष उसके उत्पादन एवं विक्रय के सम्बन्ध में अपना योगदान प्रदान करते हैं। इस प्रकार एक व्यवसायिक संगठन प्रारम्भ से लेकर अन्त तक विभिन्न चरणों के स्वरूपों का निर्माण करने एवं उसे क्रियान्वित करने में अपना पूर्ण योगदान प्रदान करता है। समाजशास्त्रियों के विचारों में एक औपचारिक संगठन, सामाजिक और अनौपचारिक संगठन से भिन्न होता है। सामाजिक संगठन वह संगठन है जिसमें उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए लोगों की अन्तःक्रिया की सहायता नहीं ली जाती। उत्पादन को बढ़ाने के समस्या और उत्पादन के स्थल पर अच्छे एवं स्वच्छ वातावरण के निर्माण के लिए समय-समय पर कार्य एवं वातावरण को और अधिक आकर्षक बनाया जाना चाहिए।

उपर्युक्त ये बातें विद्यालय संगठन के सन्दर्भ में भी आवश्यक है। एक शैक्षिक वातावरण में यदि कार्य करने की दशा एवं परिस्थिति सुखद एवं आनन्दमय होगी तो उस विद्यालय का संगठनात्मक वातावरण, प्रशासनिक पक्ष के साथ-साथ वहाँ के शैक्षिक उत्पादन अर्थात् छात्रों की उपलब्धि का परिणाम अति उत्तम होगा। जिस क्षेत्र में वातावरण उपयुक्त नहीं होगा उस क्षेत्र में वहाँ के कर्मचारियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और परिणाम पर भी प्रतिकूल असर पड़ेगा तथा उत्पादन घटेगा। यही बात शैक्षिक वातावरण के सम्बन्ध में भी लागू होती है। यदि शैक्षिक वातावरण किसी विद्यालय का उपयुक्त न हो तो ऐसी परिस्थिति में कार्यरत वहाँ शिक्षकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और वहाँ के उत्पादन अर्थात् विद्यालय के परिणाम पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी संगठन का वातावरण चाहे औद्योगिक सामाजिक अथवा शैक्षणिक हो वहाँ के विभिन्न तत्त्वों पर आश्रित होता है। आज चाहे कितना बड़ा या छोटा देश क्यों न हो चाहे पूँजीवादी अथवा समाजवादी क्यों न हो इस बात का आभास करता है कि देश को बचाने के लिए तथा विकसित करने के लिए वहाँ के बच्चे जो भावी नागरिक हैं उनको किस प्रकार की आकृति में ढाला जाय जिससे देश की उन्नति हो सके। शिक्षा और भौतिक वातावरण जहाँ बच्चे शिक्षा प्राप्त करने आते हैं उसका प्रभाव बालक के अधिगम, चिन्तन, विभिन्न विकासात्मक प्रक्रियाएँ, अभिवृत्ति और अभिक्षमता पर पड़ता है।

वर्तमान युग में विद्यालय एक जटिल व्यवस्था बन चुका है, क्योंकि विद्यालय बदलते सामाजिक परिवेश के अनुरूप अपनी योग्यता को बढ़ाने में लिप्त है। विद्यालय अपनी प्रभावशीलता शैक्षिक वातावरण को उपयुक्त बनाने पर ही प्राप्त करता है और यह तभी सम्भव है जब समाज की आवश्यकताओं का पूर्व

अनुमान किया जा सके और बदलती परिस्थितियों के अनुरूप विद्यालयीय वातावरण में परिवर्तन किया जा सके। अनुभवी प्रधानाचार्य शीघ्रता से इस संवेदन का आभास कर लेते हैं और विद्यालय के वातावरण को उसके अनुरूप ढाल लेते हैं। विद्यालय का वातावरण वहाँ के प्रधानाचार्य एवं शिक्षकों के आत्मिक सम्बन्ध एवं आत्म-विश्वास पर आधारित होते हैं। विभिन्न विद्यालयों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात हुआ कि कुछ विद्यालयों में प्रधानाचार्य एवं शिक्षकों के मध्य सौहार्दपूर्ण वातावरण बहुत अच्छा है एवं आदान-प्रदान की क्रिया सहज रूप में होती है और सभी सदस्य अच्छा वातावरण बनाने में सक्रिय रूप से भागीदार होते हैं। साथ ही अवलोकन करने पर एक दूसरे प्रकार के स्कूल का वातावरण प्राप्त हुआ जिसमें प्रधानाचार्य से लेकर छात्र तक तनावग्रस्त हैं। और उपयुक्त शैक्षिक वातावरण नहीं है। शिक्षक दबाव में आकर अरुचिपूर्ण तरीकों से शिक्षण कार्य करते हैं, जिसके कारण उपयुक्त शैक्षिक वातावरण सम्भव नहीं रहा जबकि कुछ विद्यालयों में वातावरण अत्यधिक सोचनीय रहा। इस प्रकार के विद्यालयों में प्रधानाचार्य, शिक्षक एवं छात्र किसी न किसी बात पर एक दूसरे पर चिल्लाते नजर आये।

इससे सम्बन्धित कुछ अध्ययनों के परिणाम इस प्रकार हैं—साइमन ने (1958 ई०) में अपने अध्ययन द्वारा प्रतिपादित किया कि जिन विद्यालयों में अच्छा वातावरण था वहाँ श्रम विभाजन मुख्य तत्त्व पाया गया। हेल्पिन (1966 ई०) ने बताया कि विद्यालय के भौतिक वातावरण-विद्यालय की व्यवस्था का प्रतिबिम्ब स्वरूप है। एम.के. त्रिपाठी (1978 ई०) के द्वारा किये गये अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शैक्षिक वातावरण शिक्षकों के व्यवहार को भी प्रभावित करता है यदि शिक्षक का व्यवहार विद्यालय के शैक्षिक वातावरण के अनुरूप नहीं होता है, तो ऐसी परिस्थिति में शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों तनावग्रस्त रहते हैं। क्राक्स एवं ब्रुक्ले (1984 ई०) ने एक अध्ययन द्वारा यह पाया कि शिक्षकों की सन्तुष्टता छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि को बढ़ाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शैक्षिक वातावरण का बालक के शैक्षिक उपलब्धि एवं उसके सर्वांगीण विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है या हम कह सकते हैं कि शैक्षिक वातावरण और शैक्षिक उपलब्धि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जिसके अन्तर्गत शैक्षिक वातावरण के बिना छात्र के सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. पाण्डेय, डॉ. वाई.एन., तिवारी, डी.डी. - पर्यावरण अध्ययन प्रकाशन केन्द्र लखनऊ।
2. पाठक, पी.डी. - भारतीय शिक्षा एवं उसकी समस्याएँ, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
3. त्रिपाठी, एम.के. - स्टडी ऑफ रिलेशनशिप ऑफ आर्गनाइजेशनल क्लाइमेंट एण्ड टीचर एटीट्यूट सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजूकेशन-1972

Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)
ISSN: 2321-6581, Vol. IV & V, July - 2015, Page No. - 270-271

वैदिककाल के विशेष परिप्रेक्ष्य में नारी विकासपथ

डॉ. भास्कर प्रसाद द्विवेदी*

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः का उद्घोष करने वाला भारतीय समाज वैदिक युग से लेकर वर्तमान काल तक नारियों की विषम स्थिति का गवाह रहा है। इतने वर्षों के पश्चात् भी आज नारियाँ अपने वास्तविक उत्थान से कोसों दूर हैं। प्रत्येक काल का समाज इस बात का साक्षी रहा है कि जिस काल में नारियों की दशा उन्नत थी वह काल अपने सभी आयामों में उन्नति की ओर अग्रसर था जबकि जिस काल में नारियाँ दोयम दर्जे की प्राणी मानी गयीं वह काल पतन के गर्त में समाया रहा। ऋग्वैदिक समाज में जाया को ही घर कहा गया—**गृहिणी गृहमुच्यते**। वही नारी आज 21वीं शताब्दी में घर की चहारदीवारी से निकल कर अभ्युन्नति के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाने को आतुर है। नारी दुहिता के रूप में, पत्नी के रूप में तथा माता के रूप में सर्वथा सम्मान का भाजन रही है, परन्तु नारी का विकासपथ सदैव कण्टकयुक्त ही रहा है। वैदिक युग में नारियों को शिक्षा, समानता, राजनीतिक सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार प्राप्त थे, जिनका उद्धरण अनेक मन्त्रों में मिलता है, परन्तु बाद में उनकी स्थिति अधिक गौरवपूर्ण नहीं रही। वर्तमान में पुनः स्त्रियाँ पुरुषों से भी अधिक योग्यता प्रमाणित कर रही हैं। वैदिक समाज में नारी की स्थिति श्रेष्ठ थी जिसके अनेक संकेत संहिताओं में प्राप्त होते हैं। यद्यपि पुत्रों की स्थिति पुत्रियों से अच्छी थी तथापि कन्याओं को भी पुत्रवत् स्नेह प्राप्त होता था। कन्या भी उन्हीं संस्कारों की अधिकारी है जो संस्कार पुत्रों के लिए सम्पन्न किये जाते थे।

वैदिक समाज पितृसत्तात्मक था तथा पिता घर का मुखिया (नेता) होता था। पुत्र, पुत्री, वधू, पत्नी सभी मुखिया की छत्र-छाया में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे। वैदिक समाज की सबसे बड़ी विशेषता है कि उस समाज में केवल पुत्रों को ही विद्याध्ययन का अधिकार नहीं था अपितु पुत्रियों को भी शिक्षित किया जाता था। यद्यपि उपनयन संस्कार में बालकों का ही प्राचुर्य था, परन्तु कहीं-कहीं स्त्रियों के भी मौञ्जी बन्धन का उल्लेख मिलता है। कुछ स्त्रियाँ आजन्म ब्रह्मचारिणी बनकर विद्या तथा अध्यात्म की साधना करती थी ऐसी स्त्रियों को ब्रह्मवादिनी कहा जाता था। वेदों में गार्गी, मैत्रेयी, अपाला, विश्ववारा, ऐसी विदुषी-ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है। लौकिक संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में भी ब्रह्मचारिणी तथा आश्रमवासिनी स्त्रियों का उल्लेख प्राप्त होता है जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आचार्या गौतमी तथा उत्तररामचरितम् के स्त्रीपात्र इत्यादि। वैदिक समाज में पुत्रोत्पत्ति की कामना के उद्धरण अनेकशः मिलते हैं, जिसका कारण है कि आर्य एक युद्धप्रिय जाति थी। युद्ध में पुत्रों की ही आवश्यकता थी अतः पुत्र प्राप्ति के लिये अनेक जगह देवताओं से प्रार्थनाएँ की गई हैं—**यथाऽहं शत्रुहोऽसान्य सपत्नः सपत्नहा**[1]। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि पिता अपनी पुत्री के वर का प्रबन्ध करके अत्यन्त प्रसन्न होता था—**पिता नत्र दुहितुः सेकमृञ्जन संशग्म्नेन मनसा दधन्वे**[2]।

---

* असिस्टेंट प्रोफसर, संस्कृत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चुनार, मिर्जापुर

ऋग्वैदिक काल में बाल विवाह का संकेत नहीं प्राप्त होता है अर्थात् विवाह सदैव युवावस्था में ही होता था जो स्त्रियों की अच्छी दशा का परिचायक है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का 85वाँ सूक्त विवाह की वास्तविक स्थिति का उल्लेख करता है। यद्यपि तत्कालीन व्यवस्था में बहु विवाह की प्रथा का परिचय भी प्राप्त होता है। ब्राह्मणों में भी बहुविवाह का प्रचलन था क्योंकि च्यवन आदि ऋषियों की बहुपत्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है[3]। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों कात्यायनी तथा मैत्रेयी का विवरण तो प्राप्त ही है। आर्य नारियों मे नैतिकता की भावना अवश्य विद्यमान थी। ऋग्वेदीय समाज एक धार्मिक समाज था, जहाँ नर-नारी सभी अपने अपने धर्मों का पालन करते थे तथा स्त्रियाँ विवाहोपरान्त पतिव्रत धर्म का सदाचरण करती थीं। वैदिक समाज में माता के रूप में नारी का स्थान सर्वोपरि था। पुत्रों का भरण-पोषण करने के कारण समाज में माता का स्थान अत्यधिक सम्माननीय था। ऋग्वेद में कहा गया है कि माता से बढ़कर कोई नहीं है— **मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनं जनं धायसे चक्षसे च**[4]। वैदिक प्रार्थनाओं में नारी के लिये '**पुरंधिः**' अर्थात् सौभाग्यवती होने की कामना की गयी है। वैदिक युग में वैधव्य जीवन नारी के लिए अभिशाप माना जाता था परन्तु विधवा नारी अपने देवर से विवाह कर सकती थी और सम्मानजनक जीवन व्यतीत कर सकती थी— **को वां भायुत्रा विधवेव देवरं मर्य न योशा कृणुते सधस्थ आ**[5]। वैदिक काल की एक अन्य विशेषता पर्दाप्रथा का अभाव है। स्त्रियों को सामाजिक उत्सवों में सहभागिता की पूर्ण स्वतंत्रता थी। स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति कृषि-कर्म में भी भाग लेती थीं। सूत कातना, कपड़ा बुनना, आटा पीसना, अन्न कूटना आदि कार्यों को स्त्रियाँ ही सम्पादित करती थीं। स्त्रियों को संगीत और नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी।

उपनिषद्कालीन नारियाँ भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण घटक थी। उच्च वर्ग की कन्याएँ उपनयन संस्कार की पात्र होती थीं तथा उन्हें समुचित शिक्षा दी जाती थी। दो प्रकार की महिला छात्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है। पहली सद्योद्वाहा तथा दूसरी ब्रह्मवादिनी। सद्योद्वाहा वे होती थीं जो ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ धर्म में प्रवृष्ट होकर अपने गृहस्थ धर्म का पालन करती थीं तथा ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ ब्रह्म चिन्तन में ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। स्त्रियों के अध्यापन कार्य करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। शिक्षित स्त्रियाँ यज्ञ का कृत्य भी सम्पन्न कराती थीं। उपनिषद् काल में भी बालविवाह का कहीं भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता। पूर्ण यौवन प्राप्त करने के उपरान्त ही कन्याओं का विवाह सम्पन्न होता था। पति के वरण में कन्याओं के स्वयंवर की प्रथा का बहुशः उल्लेख मिलता है। धीरे-धीरे यह प्रथा अन्य कुल की कन्याओं में भी दृष्टिगोचर हुई। तत्कालीन समाज में पत्नी की महत्ता इसी बात से प्रमाणित हो जाती है कि जिस व्यक्ति की पत्नी नहीं होती थी वह यज्ञ करने का पात्र नहीं माना जाता था।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैदिककाल में नारी एक सुशिक्षित, प्रकृति प्रेमी तथा अपने कर्त्तव्यों का सदा निर्वहन करने वाली तथा संघर्षशीला नारी के आदर्श को स्थापित करती हैं।

सन्दर्भ

1. अथर्ववेद 1-29-5
2. ऋग्वेद 3-31-1
3. ऋग्वेद 1-116-10
4. ऋग्वेद 5-15-4
5. ऋग्वेद 10-40-2